विद्याभवन गृहभारती—४

संपादक : चन्द्रभान अग्रवाल

विश्वकवि रवीन्द्रनाथ ठाकुर

इलाचन्द्र जोशी

प्रकाशक

भारतीय विद्या भवन

इलाहाबाद

संपादकीय

रवीन्द्रनाथ अनेक अर्थों में अद्वितीय थे। उनके मस्तिष्क की सृजनात्मक उर्वरा शक्ति अद्वितीय थी। नौ वर्ष की अवस्था में उन्होंने कविता लिखना आरंभ कर दिया। १२-१३ वर्ष की अवस्था में उन्होंने 'पृथ्वीराज-पराजय नामक नाटक लिखा और शेक्सपियर के 'मैकवेथ' का बंगला में अनुवाद किया। उसके पश्चात बंगला साहित्य का कोई भी अंग उनसे अछूता नहीं रह गया। उन्होंने उसके प्रत्येक अंग को अपनी प्रतिभा से सुशोभित किया।

यद्यपि वे मुख्यत: एक कवि थे, उन्होंने ज्ञान के प्रत्येक क्षेत्र के संबंध में लिखा और उपदेश किया क्योंकि मिल्टन की तरह उनका भी यह विश्वास था कि कवि का क्षेत्र व्यापक ज्ञान का क्षेत्र है।

वे संगीतज्ञ एवं अभिनेता थे। वे दार्शनिक, धर्म एवं समाज-सुधारक शिक्षा विशेषज्ञ, राष्ट्रवादी एवं देशभक्त, मानवादी तथा 'वसुधैव कुटुम्ब-कम' सिद्धान्त के प्रतिपादक थे।

उन्होंने विज्ञान पर एक ग्रंथ लिखा। जीवन के अंतिम काल में वे चित्रकारी भी करने लगे। प्रत्येक क्षेत्र में उन्होंने अद्भूत सफलता प्राप्त की। कहा जाता है कि उनके जैसा महान गीतकार विश्व में कभी कोई नहीं हुआ। प्रधानया, वे प्रेम एवं सौंदार्य के कवि थे। उनकी दृष्टि में अंत और अनंत के बीच सौंदर्य का आदान प्रदान हुआ है। वे सौंदर्य को स्वर्ग एवं धरती के बीच वैवाहिक संबंध का प्रतीक मानते थे।

साहित्य में बहुमुखीपन, सजीवता एवं दिन प्रति दिन नये विचारों का सृजन तथा उनकी अभिव्यक्ति उनकी प्रतिभा की विषशेता है।

उनके द्वारा लिखे गये उन गीतों की ही संख्या लगभग दो हजार है जिन्हे संगीत की ध्वनि प्रदान की गई है और प्रत्येक गीत के लिये संगीत की रचना भी उन्होंने स्वयं की। उनके पहले शूबर्ट को सभी युगों का सबसे बड़ा गीतकार समझा जाता था; परंतु शूबर्ट ने लगभग ६०० गीत

ही लिखे थे। रवीन्द्रनाथ ने हमें अपना राष्ट्रीय गान 'जन गण मन' दिया। उन्होंने संगीत एवं कविता में नयी मात्राओं तथा नये रूपों को जन्म दिया।

रवीन्द्रनाथ बंगला आलोचना साहित्य के पिता थे। उन्होंने नयी साहित्यिक अभिव्यक्तियों का सृजन किया। उनकी रचनायें विश्व की अनेक भाषाओं में अनूदित हुईं और १९१३ में, साहित्य में उन्हें 'नोवेल' पुरस्कार देकर पाश्चात्य देशों ने भी उनकी प्रतिभा को मान्यता प्रदान की।

वे एक महान उपदेशक, कट्टर मानववादी तथा सत्य एवं न्याय के महान अग्रदूत थे।

वे १९२५ में प्रथम भारतीय दार्शनिक कांग्रेस के अध्यक्ष चुने गये और इस प्रकार दार्शनिक विचारक के रूप में उन्हें मान्यता प्रदान की गई। इसके बाद उनसे "हीबर्ट" भाषण करने को कहा गया। ये भाषण एक पुस्तक के रूप में 'मानव धर्म' के नाम से प्रकाशित हुये हैं।

उन्होंने यूरोप, अमेरिका तथा एशिया में दूर दूर तक यात्रायें कीं और वे अंतर्राष्ट्रीय कवि, साहित्यिक विभूति एवं मानव धर्म के उपदेशक के रूप में सारे विश्व में प्रख्यात हो गये।

उनकी अंतर्राष्ट्रीयता का यह अर्थ नहीं कि वे राष्ट्रवादी तथा देशभक्त नहीं थे। जलियानवाला बाग के वीभत्स काण्ड के पश्चात वे प्रथम व्यक्ति थे जिन्होंने अपनी 'सर' की उपाधि को तिलांजलि दी।

इलाचन्द्र जोशी एक पीढ़ी से रवीन्द्रनाथ की रचनाओं एवं उनके दर्शन के विद्यार्थी रहे हैं। आपने उनका गहरा अध्ययन किया है और प्रस्तुत पुस्तक उसी का परिणाम है। इस पुस्तक को पढ़ने से ऐसा जान पड़ता है कि मानों लेखक रवीन्द्रनाथ के चिर साथी रहे हैं और वे उन्हें बड़े निकट से जानते थे। मुझे पूर्ण विश्वास है कि हिन्दी प्रेमी जनता इस पुस्तक का स्वागत करेगी।

२५—ए कानपुर रोड, इलाहाबाद
२२-११-५६

चन्द्रभान अग्रवाल

विषय-सूची

ठाकुर-वंश

रवीन्द्रनाथ ने बंगाल के जिस सुप्रसिद्ध ठाकुर-परिवार में जन्म लिया था उसकी उत्पत्ति का इतिहास काफी मनोरंजक है। इस परिवार के आदि पूर्वज उन सुप्रसिद्ध पंच ब्राह्मणों में से एक थे जो आठवीं शताब्दी में आदिशूर के समय कान्यकुब्ज से बंगाल में लाये गये थे। उस समय सारे बंगाल पर महायानीय बौद्ध धर्म का प्रभाव बुरी तरह छाया हुआ था। इसलिये तत्कालीन हिंदू राजा ने ब्राह्मण्य धर्म की पुनर्प्रतिष्ठा के उद्देश्य से उक्त ब्राह्मणों को बुलाया था। उनमें काश्यप गोत्रीय ब्राह्मण वीतराग के वंश में ठाकुर परिवार के पूर्व पुरुष उत्पन्न हुए। बंगाल में मुस्लिम राज्य स्थापित होने पर वीतराग के वंशज दक्षिणनाथ ने राज-परिवार में विशेष प्रतिष्ठा पायी और 'राय चौधरी' उपाधि प्राप्त की।

यशोहर के चेंगुटिया परगने में उन दिनों खांजहाँ नामक एक व्यक्ति की अमलदारी थी। उसका दीवान था ताहिर नाम का एक मुसलमान। वह पहले ब्राह्मण था, बाद में एक तुर्की महिला से प्रेम हो जाने के कारण उसने इस्लाम धर्म ग्रहण कर लिया था। दक्षिणनाथ के दो पुत्र, कामदेव और जयदेव उसके कर्मचारी नियुक्त हुए। ताहिर पीरलिया खां या पीर अली खां नाम से विख्यात था। कुछ लोगों का कहना है कि वह पीरलिया ग्राम का निवासी था, इसलिये उसका नाम पीरअली खां पड़ा। कुछ की यह धारणा है कि चूँकि वह ब्राह्मण होने पर भी कट्टर मुसलमान बन गया था; इसलिये उसकी प्रतिष्ठा बढ़ाने के लिए मुस्लिम समाज ने उसे पीर अली खां के भारी-भरकम नाम से विभूषित कर दिया था।

यह किंवदंती प्रसिद्ध है कि एक दिन रोजा के समय ताहिर या पीरअली खां एक नींबू को सूंघ रहा था। इतने में कामदेव ने परिहास में कहा: "हम

लोगों के शास्त्र के अनुसार किसी वस्तु का घ्राण करना आधा भोजन करने के बराबर होता है। इसलिये अब आपका रोजा नष्ट हो गया।"

पीरअली खां को यह परिहास कटूक्ति की तरह लगा। पर उस समय वह कुछ बोला नहीं। उसके कुछ दिन बाद उसने एक जलसा किया जिसमें सभी जातियों के हिंदुओं को निमंत्रित किया। सहसा पूर्व योजनानुसार मजलिस के चारों ओर से मुस्लिम व्यंजनों की तीव्र गंध महकने लगी। सभी कट्टर हिंदुओं ने अपनी-अपनी नाक कपड़े से ढक ली और कुछ लोग मजलिस से उठकर चल दिये। पीरअली ने कामदेव और जयदेव दोनों भाइयों को घेर लिया और उन्हें भागने का मौका ही न दिया। तीखे व्यंग के साथ उसने कहा: "जब तुम्हारे शास्त्रों के अनुसार घ्राण मात्र से आधा भोजन हो जाता है तब गोमांस की गंध पाने से तुम दोनों भाई गोमांस का भक्षण कर चुके हो।" इस कथन से भयभीत होकर जब कामदेव और जयदेव भागने का रास्ता खोजने लगे तब पीरअली के आदमियों ने उन्हें घेरकर बलपूर्वक उनके मुँह में गोमांस ठूँस दिया। इस प्रकार दोनों जातिच्युत हो गये। कामदेव का नाम कमाल खाँ रख दिया गया और जयदेव का नाम जमाल खाँ। पीरअली ने दोनों भाइयों को एक जागीर दिला दी।

कामदेव और जयदेव के सभी आत्मीय—जो मुसलमान नहीं हुए थे——————— माने गये और 'पीरअली' कहे जाने लगे। उनके दो और भाई रतिदेव और शुकदेव समाज का अत्याचार सहन न कर सकने के कारण गाँव छोड़कर भाग गये। शुकदेव के पास काफी रुपया था। उन्होंने आर्थिक प्रलोभन देकर जगन्नाथ कुशारी नामक एक उच्चकुल के ब्राह्मण के साथ अपनी लड़की का विवाह करने में सफलता पायी। जगन्नाथ अपने ससुर के यहाँ घरजमाई बनकर रहने लगे। उनकी बिरादरीवालों ने उन्हें समाज से बहिष्कृत कर दिया था।

जगन्नाथ के द्वितीय पुत्र पुरुषोत्तम से ठाकुरवंशीय धारा चली आ रही है। कुश नामक गाँव के निवासी होने के कारण ये लोग कुशारी कहे जाते थे।

इनके मूलपुरुष शांडिल्य गोत्रीय क्षितीश थे, जो कान्यकुब्ज से आये हुए पंच ब्राह्मणों में से एक थे।

पुरुषोत्तम के प्रपौत्र रामानंद थे। उनके दो पुत्र थे। एक का नाम था महेश्वर और दूसरे का था शुकदेव। इन दो भाइयों के समय से ठाकुर परिवार कलकत्ते आकर बस गया। प्रारंभ में कलकत्ते से दक्षिण गोविंदपुर नामक गांव में वे लोग बसे थे। उसके बाद महेश्वर के पुत्र पंचानन अपने ताऊ शुकदेव के साथ आदिगंगा के तीर जा बसे। जहाँ वे रहते थे वहाँ अधिकतर मछुए और मल्लाह रहते थे और ऊँची जातियों के लोग बहुत कम थे। शूद्र निवासियों के बीच में एकमात्र ब्राह्मण परिवार होने से सभी लोग उन्हें 'ब्राह्मण ठाकुर' या केवल 'ठाकुर'[1] कहकर पुकारने लगे। धीरे-धीरे महेश्वर और शुकदेव के नाम के आगे से 'कुशारी' उपाधि लुप्त हो गयी और केवल 'ठाकुर' उपाधि शेष रह गयी। पंचानन को लोग पंचानन कुशारी न कहकर पंचानन ठाकुर कहने लगे। उन दिनों आदिगंगा के तट पर विदेशी जहाज आकर लगते थे। पंचानन उन जहाजों को रसद पहुँचाया करते थे। विदेशियों के बीच में भी वह 'ठाकुर' (Tagore या Tagoure) नाम से ही परिचित हुए।

पंचानन ठाकुर तथा शुकदेव ठाकुर के पुत्रों ने अँगरेज व्यापारियों से कामचलाऊ अँगरेजी भाषा सीख ली। उन लोगों से हेलमेल बढ़ाने के फलस्वरूप व्यापार द्वारा बहुत-सा धन भी उन लोगों ने कमा लिया और कलकत्ते के फोर्ट विलियम के आस-पास बहुत-सी जमीन खरीदकर एक बड़ा-सा मकान खड़ा कर लिया।

पलाशी की लड़ाई के बाद जब मीरजाफर अली बंगाल का नवाब हुआ तब उसने सिराजुद्दौला द्वारा ध्वस्त कलकत्ते की क्षतिपूर्ति के रूप में जो रकम दी, उसमें से थोड़ा-सा अंश ठाकुर-परिवार को भी प्राप्त हुआ। बाद में

---

[1] बंगाल में निम्न जाति के लोग ब्राह्मण को 'ठाकुर' कहकर संबोधित किया करते हैं।

अँगरेजों ने बहुत-सा रुपया देकर फोर्ट विलियम के आस-पास की सारी जमीन ठाकुर-परिवार से खरीद ली। ठाकुर लोग वहाँ से हटकर कलकत्ता ग्राम के पाथुरेघाटा नामक स्थान में चले आये।

कलकत्ते के जोड़ासांको में ठाकुर परिवार का जो प्रसिद्ध पैतृक भवन आज तक सुरक्षित है, उसका सूत्रपात पंचानन ठाकुर के पौत्र नीलमणि ठाकुर द्वारा सन् १७८४ में हुआ। पीराली (या पीरअली) ब्राह्मण-वंश से संबंधित होने के कारण ठाकुर परिवार को अच्छे ब्राह्मण कुलों में वैवाहिक संबंध स्थापित करने में बड़ी कठिनाइयों का सामना करना पड़ता था। नीलमणि ठाकुर ने अर्थबल से अपने लड़कों और लड़कियों को कुलीन ब्राह्मण-कुलों में ब्याहने में सफलता पायी।

उनके ज्येष्ठ पुत्र रामलोचन निःसंतान थे, इसलिये उन्होंने अपने छोटे भाई राममणि के पुत्र द्वारकानाथ को गोद ले लिया। द्वारकानाथ ने बचपन में अँगरेजी और फारसी में अच्छी शिक्षा प्राप्त कर ली थी। उन दिनों कलकत्ते की मैकिनटाश कंपनी प्रमुख व्यापारी संस्था थी। द्वारकानाथ ठाकुर किसी उपाय से उस कंपनी के निकट संपर्क में आ गये। कंपनी के गुमाश्ते की हैसियत से उन्होंने रेशम और नील के व्यवसाय में कंपनी के लाभ में वृद्धि की। बाद में वह स्वयं अपना स्वतंत्र व्यवसाय करने लगे। सुप्रीम कोर्ट के बैरिस्टर जे० फर्गुसन की सहायता से उन्होंने कानून में विशेषज्ञता प्राप्त कर ली और बंगाल तथा बिहार के बहुत-से जमींदारों के कानून संबंधी परामर्शदाता बन गये। कुछ समय बाद उन्होंने मैकिनटाश कंपनी के कई शेयर खरीद लिये। तब तक भारतीयों का कोई अपना बैंक नहीं था। सन् १८२९ में द्वारकानाथ ठाकुर ने यूनियन बैंक की स्थापना की। साथ ही वह ईस्ट इंडिया कंपनी की नौकरी भी करते थे। पहले चौबीस परगने के कलक्टर के दीवान नियुक्त हुए और बाद में शुल्क और आबकारी विभाग के दीवान पद पर प्रतिष्ठित हुए।

१८३३ में कंपनी की नौकरी छोड़कर उन्होंने कार-ठाकुर कंपनी नामसे एक व्यावसायिक संस्था खड़ी की। साथ ही उन्होंने शियालदह तथा दूसरे

स्थानों में नीलकोठियाँ खरीद लीं। रानीगंज के कोयले की खान का ठीका भी उन्होंने ले लिया और रामनगर में चीनी का कारखाना भी स्थापित किया। इसके अतिरिक्त कई जगह बड़ी-बड़ी जमींदारियाँ भी उन्होंने खरीद लीं।

द्वारकानाथ ने केवल बहुत से धन और संपत्ति का संचय ही नहीं किया, सामाजिक हित के बहुत से कार्य भी किये। हिंदू कालेज और मेडिकल कालेज की स्थापना में उनका प्रमुख हाथ रहा। इंगलैंड और भारत के बीच डाक-यातायात की अधिक सुविधाजनक व्यवस्था, सती प्रथा-निवारण, छापेखाने की स्वतंत्रता आदि विषयों में उन्होंने अपने विशिष्ट सहकर्मियों की बड़ी सहायता की। समाज-सुधार संबंधी सभी प्रकार के कार्यों में वह राजा राममोहन राय के प्रधान सहायक और सहयोगी थे। स्वयं ब्राह्मधर्म स्वीकार न करने पर भी उन्होंने ब्राह्म-समाज-मंदिर की स्थापना में राममोहन राय का साथ दिया था। हिंदू-समाज की कट्टरता से उन्हें बहुत चिढ़ थी। १८४२ में उन्होंने यूरोप यात्रा की। उस जमाने में संकीर्ण समाज की दृष्टि में विलायत जाना धर्म से एकदम च्युत होना माना जाता था। विलायत से लौटने पर वह अलग, अपने मकान के बैठकखानेवाले भाग में रहा करते थे—क्योंकि अपने परिवार के कट्टर लोगों के धार्मिक विश्वास को वह चोट पहुँचाना नहीं चाहते थे।

जब द्वारकानाथ दुबारा (१८४४ में) विलायत गये तब अपने खर्चे से वह कुछ बंगाली छात्रों को डाक्टरी की शिक्षा के लिये अपने साथ ले गये थे। वह यूरोप में बड़े ठाट-वाट और शान-शौकत से रहते थे। उनके रहन-सहन का ढंग देखकर यूरोप वाले चकित थे और उन्हें 'प्रिन्स द्वारकानाथ' कहा करते थे। ५१ वर्ष की उम्र में (१८४६ में) उनकी मृत्यु हुई।

द्वारकानाथ के ज्येष्ठ पुत्र थे रवीन्द्रनाथ के पिता महर्षि देवेन्द्रनाथ ठाकुर। उनकी माता दिगंबरी देवी धार्मिक अनुष्ठानों में बड़ी कट्टर थीं। जब उनके पति द्वारकानाथ ठाकुर ने अँगरेजों के साथ खान-पान आरंभ कर दिया तब उन्होंने पति के साथ पूर्णतः संबंध विच्छेद कर लिया और मृत्यु

पर्यंत ब्रह्मचर्य व्रत धारण किये रहीं। द्वारकानाथ के चार पुत्रों में देवेन्द्रनाथ ही दीर्घजीवी हुए, शेष छोटी उम्र में ही चल बसे।

देवेन्द्रनाथ का विवाह सत्रह वर्ष की अवस्था में (सन् १८३४ में) खुलना के राय चौधरी रामनारायण की कन्या सारदा देवी के साथ हुआ। उस समय सारदा देवी की आयु केवल सात वर्ष की थी।

देवेन्द्रनाथ का प्रारंभिक जीवन कुछ विचित्र विरोधाभासमूलक परिस्थितियों में बीता। एक ओर उनके पिता द्वारकानाथ ठाकुर अँगरेजों के निकट संपर्क में आने के कारण यूरोपीय रहन-सहन और आचार-व्यवहार को अपनाये हुए थे, दूसरी ओर उनके घर के भीतर कट्टर वैष्णव धर्म का प्रभाव परिपूर्ण रूप में छाया हुआ था। अंतःपुर की चौहद्दी के भीतर मांस का प्रवेश भी एकदम निषिद्ध था, मद्य के संबंध में तो कहना ही क्या है। देवेन्द्रनाथ की पितामही अलका देवी और माता दिगंबरी देवी दोनों महिलाएँ बड़ी तेजस्विनी थीं और द्वारकानाथ की तनिक भी ज्यादती को सहने के लिये किसी भी हालत में तैयार न थीं। इसी कारण द्वारकानाथ को सदर के बैठकखाने में रहने के लिये बाध्य होना पड़ा था—अंतःपुर में उनकी कोई पहुँच नहीं रह गयी थी। बचपन में देवेन्द्रनाथ पर पितामही का प्रभाव प्रबल रहा और वह मांस छूते तक नहीं थे। बाद में पिता के साथ उन्हें धनी अँगरेजों के यहाँ आने-जाने और उनके भोजों तथा सामाजिक उत्सवों में सम्मिलित होने की सुविधा और सुयोग प्राप्त हुए। फलस्वरूप उनके आचार-व्यवहार में परिवर्तन आने लगा। धीरे-धीरे वह विलासिता में डूब गये। २१ वर्ष की आयु तक उन्होंने मस्ती का जीवन बिताया। उसके बाद जब उनकी पितामही अलका देवी की मृत्यु हुई तब सहसा उस तरुण अवस्था में ही उनके मन में वैराग्य की-सी भावना घर कर गयी। यह भावना यद्यपि श्मशान में ही जगी थी तथापि वह कोरा श्मशान-वैराग्य नहीं था। उनका आत्म-चरित पढ़ने से पता चलता है कि उस भावना का स्थायी प्रभाव उनके परवर्ती जीवन पर किसी-न-किसी रूप में बना रहा।

जब उनके पिता द्वारकानाथ की मृत्यु हुई तब अकस्मात् पता चला कि

वह प्रायः ३० लाख का कर्जा छोड़ गये हैं। द्वारकानाथ कुछ ऐसी कानूनी व्यवस्था करके मरे थे कि उनके लड़कों पर उस ऋण का दायित्व नहीं आता था। पर देवेन्द्रनाथ ने धीरे-धीरे कुल कर्जा चुका दिया। तभी से वह महर्षि कहे जाने लगे।

महर्षि शास्त्रों और दर्शनों के अध्ययन की ओर उन्मुख हुए। उन्होंने नियमित रूप से संस्कृत सीखना आरंभ कर दिया और पाश्चात्य दार्शनिकों की कृतियों में मन लगाने लगे। उन दिनों बंगाल के तरुण छात्रों पर रूसो और वाल्तेयर के क्रांतिकारी विचारों का गहरा प्रभाव पड़ा हुआ था और निरीश्वरवादी अँगरेज दार्शनिकों के मत का प्रचार नव-शिक्षित बंगाली समाज में बड़े जोरों से हो रहा था। कुछ समय तक देवेन्द्रनाथ भी इस तरह के विचारों से प्रभावित रहे। पर उनके भीतर एक ऐसा संस्कार छिपा हुआ था, जो उन्हें वास्तविक ज्ञान की तह तक पहुँचाये बिना शांत नहीं हो सकता था। उन्होंने पंडितों की सहायता से मूल महाभारत का पाठ पूरी लगन से आरंभ कर दिया। उनके भीतर तब तक ईश्वरीय सत्ता पर पूरा विश्वास नहीं जगा था, तथापि एक स्वतंत्र जिज्ञासा की भावना उनके मन में बराबर वर्तमान थी। फल यह हुआ कि धीरे-धीरे ईश्वर की सर्वव्यापी सत्ता पर वह अंतर्मन से विश्वास करने लगे। साथ ही राममोहन राय की ही तरह वह मूर्तिपूजा के घोर विरोधी हो उठे। उन्होंने अपने भाइयों के साथ एक दिन प्रतिज्ञा की कि वह किसी मूर्ति को प्रणाम नहीं करेंगे।

उसके बाद ही वह 'सर्वतत्त्वदीपिका' नाम की एक सभा के सदस्य बन गये। इस सभा में धर्मतत्त्व संबंधी आलोचना-प्रत्यालोचना हुआ करती थी। उन दिनों किसी भी सभा में अँगरेजी में ही वाद-विवाद करने की प्रथा थी। पर देवेन्द्रनाथ तथा उनके दूसरे साथी सदस्यों ने मिलकर यह निश्चय किया कि उक्त सभा की सारी कार्रवाइयाँ बँगला में ही होंगी, अँगरेजी में नहीं।

एक दिन ईशोपनिषत् का एक फटा हुआ पन्ना कहीं से देवेन्द्रनाथ के हाथ लग गया। उस पन्ने में यह श्लोक छपा था :

ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किंच जगत्यां जगत् ।
तेन त्यक्तेन भुंजीथा मा गृधः कस्यचिद्धनम् ।।[1]

इस श्लोक का भावार्थ समझने के लिये वह पंडितों के पास गये और अर्थ सुनकर बहुत ही मुग्ध हुए। तब से उन्होंने उपनिषदों का नियमित अध्ययन आरंभ कर दिया। १८३९ ई० में, केवल २२ वर्ष की अवस्था में, उन्होंने अपने ही घर में 'तत्त्वरंजिनी सभा' की स्थापना की, जिसका नाम बाद में बदलकर 'तत्त्वबोधिनी सभा' रखा गया। इस सभा का उद्देश्य गंभीर धार्मिक विषयों की आलोचना था।

उन दिनों बंगाल में एक ओर ईसाई धर्म का प्रचार बड़े जोरों से हो रहा था, दूसरी ओर कट्टर हिंदू पंडितगण हिंदू धर्म के उन्नत तत्त्वों की उपेक्षा करके उसकी विकृतियों की 'महत्ता' का प्रचार कर रहे थे; तीसरी ओर हिंदू कालेज के छात्र धर्ममात्र का मजाक उड़ाते हुए नास्तिकवाद और उच्छृंखलता की विजय का डंका पीट रहे थे। ऐसी अस्त-व्यस्त परिस्थिति में देवेन्द्रनाथ ने वास्तविक हिंदू संस्कृति की रक्षा का व्रत लिया। तत्त्वबोधिनी सभा तथा 'तत्त्वबोधिनी पत्रिका' की सहायता से वह राजा राममोहन राय द्वारा प्रवर्तित ब्राह्मधर्म का प्रचार पूरे प्रयत्नों के साथ करने लगे। राममोहन की मृत्यु के बाद ब्राह्म-समाज की अवस्था अत्यंत शोचनीय हो उठी थी। देवेन्द्रनाथ ने उसके भीतर नयी प्राण-शक्ति भरने का निश्चय कर लिया। अंत में २३ दिसंबर १८४३ को वह नियमित रूप से ब्राह्म धर्म में दीक्षित हो गये। तब से उक्त धर्म के उद्धार, विकास और प्रचार में उन्होंने कोई भी बात उठा न रखी।

राममोहन राय के समय में ब्राह्म-समाज-मंदिर में प्रकट रूप से वेदपाठ नहीं होता था—इस आशंका से कि कहीं किसी अब्राह्मण के कानों में वे पवित्र मंत्र प्रविष्ट न हो जायँ। देवेन्द्रनाथ ने घोषणा की कि अब से मंदिर में

---

[1] **इस जगत् में सब-कुछ ईश की सत्ता से छाया हुआ है। अतएव त्याग द्वारा भोग करो, किसी के धन की ओर लुब्ध दृष्टि से न देखो।**

खुल्लमखुल्ला वेदपाठ होगा। राममोहन राय ने जिस एकेश्वरवादी धर्म का प्रवर्तन किया था उसका नाम रखा था "वेदांत-प्रतिपाद्य धर्म"। देवेन्द्रनाथ ने ही पहले पहल उसे 'ब्राह्मधर्म' नाम से प्रचारित किया।

देवेन्द्रनाथ बाहर जिस 'पौत्तलिकत्ता' (मूर्तिपूजा) का घोर विरोध कर रहे थे, घर के भीतर महिलाएँ उसे पहले की ही तरह पूर्ण रूप से अपनाये हुए थीं। अपने ही घर के भीतर इस विरोधाभास से देवेन्द्रनाथ बहुत पीड़ित थे।

१८५८ में उनका परिचय २० वर्षीय प्रतिभाशाली युवक केशवचंद्र सेन के साथ हुआ। केशवचंद्र ब्राह्मधर्म के प्रबल और उत्साही समर्थक के रूप में उनके आगे आये। उनके उत्साह से प्रभावित होकर देवेन्द्रनाथ के भीतर से द्वन्द्व और असमंजस का भाव दूर हो गया और उन्होंने घर की महिलाओं की धार्मिक भावना की तनिक भी परवा न करके परंपरा से चली आती हुई लक्ष्मी-जनार्दन की युगल मूर्ति की पूजा घर के भीतर एकदम निषिद्ध ठहरा दी। उनकी विधवा भ्रातृवधू (गिरीन्द्र-नाथ की पत्नी और गणेन्द्र तथा गुणेन्द्रनाथ की जननी) ने उन मूर्तियों को फेंकने नहीं दिया और उनका भार स्वयं ग्रहण करके वह घर के बाहर अपने स्वर्गीय ससुर द्वारकानाथ के बाहरवाले बैठकखाने में जाकर रहने लगीं।

१८५९ में केशवचंद्र सेन की सहायता से ब्राह्म-विद्यालय की स्थापना हुई। वहाँ केशवचंद्र अँगरेजी में और देवेन्द्रनाथ बंगला में भाषण दिया करते थे। उन दिनों केशवचंद्र देवेन्द्रनाथ के साथ ही उनके जोड़ासांको वाले भवन में रहते थे। १८६० को उन्होंने अपनी लड़की सुकुमारी देवी का विवाह परंपरा के विरुद्ध अपने नये धर्ममत के अनुसार अपौत्तलिक विधि से किया। कट्टरता के उस युग में यह बहुत बड़े साहस का काम था। इस प्रकार साधारण हिंदू समाज से उनका रहा-सहा संबंध भी छिन्न हो गया।

पर तब तक महर्षि को यह पता नहीं था कि नयी पीढ़ी प्रगति-शीलता में स्वयं उन्हें भी बहुत पीछे छोड़ देगी और उन्हें प्रतिक्रियावादी करार देकर बहुत आगे निकल जायेगी।

कुछ ही समय बाद उन्हें यह महसूस हुआ कि युवक केशवचंद्र सेन जिस तेजी से हिंदू धर्म की परंपरा के मूल पर कुठाराघात करते चले जाते हैं, उससे केवल हिंदू धर्म ही नहीं, स्वयं ब्राह्मधर्म के मूल तत्त्व ही छिन्न हो सकते हैं। धीरे-धीरे दोनों के बीच मतभेद बढ़ता चला गया और खाई चौड़ी होती गयी।

असल बात यह थी कि देवेन्द्रनाथ को जिस सामाजिक तथा पारिवारिक कट्टरता और रूढ़िवादिता के दलदल से धीरे-धीरे ऊपर उठना पड़ा था, उसका ठीक ज्ञान केशवचंद्र को नहीं था। देवेन्द्रनाथ ने बहुत-सी बातों में मूलगत सुधार अवश्य किये थे, किन्तु अभी बहुत-सी ऐसी बातें शेष थीं जिनमें आमूल परिवर्तन करने की उनमें न तो प्रवृत्ति ही थी और न साहस। उदाहरण के लिये, हिन्दू धर्म की जाति-भेद प्रथा को वह किसी-न-किसी रूप में अभी तक मानते थे। ब्राह्मणेतर को ब्राह्म-मंदिर में वेदि ग्रहण का अधिकार है यह बात उन्होंने कभी स्वीकार नहीं की। यज्ञोपवीत-धारण को वह ब्राह्म धर्म का आवश्यक अंग मानते थे। स्त्री-स्वाधीनता के संबंध में भी वह रूढ़िगत विचारों के पक्षपाती थे। उनके यहाँ बहुत ही छोटी उम्र में लड़कियों का विवाह करने की प्रथा थी। उनके सबसे छोटे लड़के रवीन्द्रनाथ का विवाह ग्यारह वर्ष की लड़की से हुआ था। तब रवीन्द्रनाथ स्वयं २३ वाँ वर्ष पार कर चुके थे। अन्तर्जातीय विवाह के भी वह पक्षपाती नहीं थे। यद्यपि ठाकुर लोग स्वयं छोटे किस्म के ब्राह्मण समझे जाते थे, तथापि देवेन्द्रनाथ ने अपने अर्थबल द्वारा अपने लड़कों और लड़कियों का वैवाहिक संबंध उच्चकोटि के ब्राह्मणों के साथ करने में कभी कोई बात उठा न रखी। किसी ब्राह्मणेतर परिवार के साथ ठाकुर परिवार के किसी भी व्यक्ति का वैवाहिक संबंध कभी स्थापित नहीं हुआ।

पर केशवचंद्र एक तो स्वयं कायस्थ थे, दूसरे हिंदू कालेज के (जो बाद में प्रेसीडेन्सी कालेज के नाम से ख्यात हुआ) छात्र रह चुके थे, तीसरे वह ईसाई धर्म से भी बहुत अधिक प्रभावित हो चुके थे। इन कारणों से वह हिंदू धर्म की किसी भी रूढ़िवादी प्रथा या प्रवृत्ति का लेश भी ब्राह्मधर्म के भीतर सहन करना नहीं चाहते थे। अतएव देवेन्द्रनाथ और उनके बीच संघर्ष

अनिवार्य था। फल यह हुआ कि १८६६ में केशवचंद्र देवेन्द्रनाथ से अलग हो गये और उन्होंने 'भारतवर्षीय ब्राह्म समाज' नाम से एक नयी ब्राह्म मंडली की स्थापना की। देवेन्द्रनाथ द्वारा परिचालित समाज 'आदि ब्राह्म-समाज' कहा जाने लगा। बाद में एक तृतीय रूप का विकास हुआ जो 'साधारण ब्राह्म-समाज' कहा जाने लगा। आजकल यह तृतीय रूप ही अधिक लोक-प्रिय है। इसकी कथा अलग है, जिसका वर्तमान प्रसंग से कोई संबंध नहीं।

केशवचंद्र सेन की प्रतिभा, लगन और उत्साह देखकर देवेन्द्रनाथ उन्हें पुत्र के समान मानते आ रहे थे। उन्होंने यह आशा की थी कि उनके बाद केशवचंद्र ही उनके कार्य को आगे बढ़ायेंगे। इसलिये अपने द्वारा परिचालित ब्राह्म-समाज के भविष्य के संबंध में निश्चिन्त थे। पर जब केशवचंद्र अपनी प्रगति के पथ में अवरोध देखकर उनसे अलग हो गये तब महर्षि की निराशा का ठिकाना न रहा। तब से वह एक प्रकार से परिव्राजक का-सा जीवन बिताने लगे। जनवरी १९०५ में, अट्ठासी वर्ष की आयु में उन्होंने शरीर त्याग किया।

देवेन्द्रनाथ की पत्नी और रवीन्द्रनाथ की माता सारदा देवी ने पन्द्रह सन्तानों को जन्म दिया, जिनमें से एक लड़की नामकरण संस्कार होने के पहले ही चल बसी थी। उनके पुत्रों की संख्या नौ थी, जिनका क्रम इस प्रकार है: (१) द्विजेन्द्रनाथ (२) सत्येन्द्रनाथ (३) हेमेन्द्रनाथ (४) वीरेन्द्र-नाथ (५) ज्योतिरिन्द्रनाथ (६) पूर्णेन्द्रनाथ (७) सोमेन्द्रनाथ (८) रवीन्द्रनाथ **और** (९) बुधेन्द्रनाथ।

इनमें द्विजेन्द्रनाथ काव्य, शास्त्र, दर्शन, संगीत और गणित के बहुत बड़े पंडित थे। दर्शन-विषयक उनकी कई महत्त्वपूर्ण रचनाएँ प्रसिद्धि पा चुकी हैं। 'स्वप्न-प्रयाण' शीर्षक एक सुंदर काव्य भी उन्होंने लिखा था, जिसे पढ़कर रवीन्द्रनाथ बाल्यकाल में बहुत प्रभावित और कविता-रचना के लिये प्रेरित हुए थे।

सत्येन्द्रनाथ भारत के सर्वप्रथम आइ० सी० एस० थे। उन्हें अधिकतर बम्बई प्रान्त में रहना पड़ा था। रवीन्द्रनाथ ने भी कई बार उनके साथ

बंबई-प्रवास किया था। उन्होंने सबसे पहले मराठी साधकों का परिचय बंगाल के पाठक समाज को दिया। उन्होंने गीता और मेघदूत का पद्यानुवाद भी किया था। उनकी पत्नी ज्ञानदानन्दिनी देवी बंगाल में पर्दा-प्रथा निवारण संबंधी आन्दोलन में भाग लेने वाली पहली महिला थीं। शिक्षा-संबंधी विषयों में सत्येन्द्रनाथ के विचार बड़े प्रगतिशील थे। इस संबंध में पिता के विचारों से उनका तीव्र मतभेद था। देवेन्द्रनाथ चाहते थे कि बच्चों की शिक्षा-दीक्षा पूर्णतः भारतीय ढंग से हो। विशेष रूप से लड़कियों को विलायती ढंग की शिक्षा देने के वह कट्टर विरोधी थे। पर सत्येन्द्रनाथ ने इस संबंध में अपने पिता के मत की एकदम अवज्ञा करके अपनी लड़की इन्दिरा देवी को ठेठ विलायती स्कूल में भरती कराया और फ्रांसीसी भाषा और यूरोपीय संगीत में उन्हें पारंगत करवाया। उनके पुत्र सुरेन्द्रनाथ और पुत्री इन्दिरा देवी को रवीन्द्रनाथ विशेष स्नेह की दृष्टि से देखा करते थे। इन्दिरा देवी को बहुत पहले से रवीन्द्रनाथ अत्यंत महत्त्वपूर्ण साहित्यिक पत्र लिखते चले आ रहे थे। उन पत्रों का संकलन छपने पर उनके महत्त्व से साहित्यिक-समाज परिचित हुआ। इन्दिरा देवी का विवाह बंगाल के विख्यात साहित्यकार प्रमथनाथ चौधुरी से हुआ।

तृतीय पुत्र हेमेन्द्रनाथ थे। जब बंगाल के शिक्षित समाज में चारों ओर अँगरेजी भाषा और अँगरेजी साहित्य की धूम मची हुई थी, तब हेमेन्द्रनाथ ने अपने छोटे भाइयों को बँगला भाषा और बँगला साहित्य सिखाने का व्रत ले लिया। रवीन्द्रनाथ ने उन्हें अपनी 'जीवन-स्मृति' में बहुत याद किया है।

देवेन्द्रनाथ के चौथे पुत्र थे वीरेन्द्रनाथ। वह उन्माद रोग से ग्रस्त थे। पाँचवें पुत्र जोतिरिन्द्रनाथ से रवीन्द्रनाथ को अपने साहित्यिक जीवन के प्रारम्भ में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण सहयोग प्राप्त होता रहा।

छठे पुत्र पूर्णेन्द्रनाथ बचपन में ही एक तालाब में डूबकर मृत्यु को प्राप्त हुए थे।

सातवें पुत्र सोमेन्द्रनाथ छोटी अवस्था में ही वायुरोग से ग्रस्त हो गये थे। इसलिये वह आजीवन अविवाहित रहे।

आठवें पुत्र थे रवीन्द्रनाथ।

नवें पुत्र बुधेन्द्रनाथ पैदा होने के कुछ ही महीने बाद चल बसे थे।

देवेन्द्रनाथ की पाँच लड़कियों के नाम क्रम से इस प्रकार हैं : सौदामिनी, सुकुमारी, शरत्‌कुमारी, स्वर्णकुमारी और वर्णकुमारी। इनमें स्वर्णकुमारी देवी बंगाल की सर्वप्रथम उपन्यास-लेखिका थीं। उन्होंने बहुत से नाटक, प्रहसन और कविताएँ भी लिखी थीं।

पृष्ठभूमि

रवीन्द्रनाथ के जन्म के पूर्व बंगाल में अँग्रेजी शिक्षा और सभ्यता का प्रभाव, अन्य प्रांतों से पहले ही, बड़ी तीव्रता के साथ अपना रंग जमाने लगा था। पाश्चात्य संस्कृति बंगाली मस्तिष्क के संपर्क में आकर नये-नये रासायनिक रूपों में प्रस्फुटित हो रही थी। धर्म, दर्शन और साहित्य सभी क्षेत्रों में अँगरेजी प्रभाव स्पष्टतया अपनी मुहर छोड़ता चला जा रहा था। एक ओर ईसाई धर्म-प्रचारक जीवन की सुविधाओं का प्रलोभन देकर और बड़ी-बड़ी लच्छेदार बातें कहकर हिंदू युवकों को बड़ी तेजी से अपनी ओर खींच रहे थे। दूसरी ओर हिंदू कालेज के छात्र धर्म-विरोधी आंदोलन खड़ा करके शिक्षित समाज को व्यक्ति-स्वातंत्र्य का पाठ पढ़ा रहे थे। तीसरी ओर हिंदू धर्म की विकृतियों के पृष्ठपोषकगण युग-परिवर्तन के सुस्पष्ट लक्षणों के प्रति निपट उदासीन होकर अपने अंध-विश्वासों का ढोल पीट रहे थे। इन परिस्थितियों का बड़ा गहरा प्रभाव कवि के पिता देवेन्द्रनाथ के मन पर पड़ा और उन्होंने हिंदू संस्कृति के मूलगत और उन्नततम तत्त्वों के पुनरुद्धार का बीड़ा उठाकर ब्राह्म धर्म की नींव को सुदृढ़ बनाने में कोई बात उठा न रखी। उस नींव पर उन्होंने प्रबल प्रयत्नों से जो इमारत खड़ी की वह, केशवचन्द्र सेन द्वारा प्रगतिशील ब्राह्म धर्म के धक्के से, हिलने लगी। इसी धार्मिक और सांस्कृतिक उथल-पुथल के बीच में रवीन्द्रनाथ का जन्म हुआ।

जिस हिंदू कालेज का उल्लेख ऊपर किया जा चुका है, उसका संक्षिप्त परिचय देने की आवश्यकता है। इस स्कूल की स्थापना डेविड हेयर नामक एक अँगरेज द्वारा राजा राममोहन राय की मृत्यु के प्रायः दस वर्ष पूर्व हुई थी। डेविड हेयर एक साधारण घड़ीसाज था, पर शिक्षा के संबंध में उसके विचार बड़े प्रगतिशील थे। इस कालेज को एक प्रतिभाशाली अध्यापक

प्राप्त हो गया था। इस अध्यापक का नाम था हेनरी लुई विवियन डेरोजियो। वह एक पुर्तगीज़ व्यापारी का पुत्र था और उसकी माता भारतीय थी। उस पर फ्रांस के क्रांतिकारी लेखकों—विशेष कर वाल्तेयर—का गहरा प्रभाव पड़ा था। उसने अपने तरुण भारतीय छात्रों के मस्तिष्क में भी क्रांतिकारी विचारों के बीज बो दिये। उसके विचारों से घबराकर कालेज के अधिकारियों ने उसे इस्तीफा देने के लिये बाध्य कर दिया, पर वह लगन का आदमी था और यों ही शांत होने वाला नहीं था। उसने 'ईस्ट-इंडियन' नाम से एक अँगरेजी दैनिक पत्र निकाला। उसके चारों ओर तरुण छात्रों का एक दल एकत्रित हो गया। उस दल के कई छात्रों ने बाद में सामाजिक तथा सांस्कृतिक आंदोलन के क्षेत्र में बड़ी प्रसिद्धि प्राप्त की। उन छात्रों ने जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में स्वतंत्रता का नारा बुलंद किया। वे धार्मिक कट्टरता, परंपरागत अंध-विश्वास तथा सांप्रदायिक भावना के घोर विरोधी थे। और कट्टर हिंदुओं की धार्मिक भावना पर चोट पहुँचाने के लिये सब समय तैयार रहते थे। वे लोग खुल्लमखुल्ला मुसलमानों की दुकानों से रोटी-गोश्त खरीदकर खाते थे और कट्टर पंडितों के बीच में चिल्ला-चिल्लाकर अपने खाने की घोषणा करते थे।

यद्यपि डेरोजियो ने इस तरह के आचरण की शिक्षा अपने शिष्यों को नहीं दी थी, तथापि विचार-स्वातंत्र्य पर वह बराबर जोर देता रहा। पर उसके उपदेशों का कुछ दूसरा ही प्रभाव उन शिष्यों पर पड़ने लगा। कट्टर हिंदू परिवार के विधि-निषेधों के कठोर नियंत्रण में पले हुए वे युवक एक चरम स्थिति से दूसरी चरम स्थिति को अपनाने लगे। व्यक्ति-स्वातंत्र्य तथा विचार-स्वातंत्र्य का अर्थ उन्होंने उच्छृंखलता लगाया और उनमें कुछ विकृत मनोवृत्ति वाले शराब पी-पीकर मतवाले बनने में ही बड़प्पन मानने लगे। पर कुछ ऐसे प्रतिभाशाली छात्र भी उस दल में थे जिन्होंने साहित्यिक, सामाजिक तथा पत्रकारिता के क्षेत्र में बड़े महत्त्वपूर्ण कार्य किये। राममोहन राय के बाद इन्हीं लोगों ने बंगाल में नवजागृति का बीड़ा उठाया।

एक ओर धार्मिक तथा सांप्रदायिक कट्टरता के विरुद्ध यह जेहाद चल रहा था, दूसरी ओर ईसाई पादड़ियों के धार्मिक प्रचार का प्रभाव भी बहुत से नव-शिक्षित छात्रों पर बड़े जोरों से पड़ रहा था। डा० एलेग्जेन्डर डफ ने स्काटिश चर्चेज कालेज की स्थापना करके अपने छात्रों के मस्तिष्क में ईसाई धर्म के बीज बिखेर दिये। हिंदू समाज की कट्टरता से मुक्ति पाने के लिये कई प्रतिभाशाली छात्र उसके प्रभाव मे ईसाई बन गये, जिनमें एक थे लालबिहारी दे और दूसरे थे कालीचरण बनर्जी। यह कालीचरण बनर्जी भारतीय राष्ट्रीय काँग्रेस के प्रतिष्ठापकों में से एक थे। डेरोजियो के भी बहुत से छात्र अपनी उच्छृंखलता से स्वयं तंग आकर बाद में ईसाई बन गये। कृष्णमोहन बनर्जी के समान सुप्रसिद्ध विद्वान् और देश-सेवक ने ईसाई धर्म अपना लिया। और तो और उस युग के सर्वश्रेष्ठ कवि और साहित्योपासक माइकेल मधुसूदन दत्त भी किसी विचित्र प्रतिक्रियात्मक प्रेरणा से ईसाई धर्म में दीक्षित हो गये थे। इस प्रकार धार्मिक तथा सामाजिक क्षेत्रों में एक अजीब-सी उथल-पुथल बंगाल में मची हुई थी। ईसाई मत का निरंतर बढ़ता हुआ प्रचार देखकर हिंदू नेता बहुत घबरा उठे। देवेन्द्रनाथ ठाकुर ने इस बाढ़ को रोकने के प्रयत्नों में कोई बात उठा न रखी। उन्होंने 'तत्त्वबोधिनी पत्रिका' में ईसाई पादड़ियों की संकीर्णता के विरुद्ध कई लेख लिखे और लिखवाये। वह प्रतिदिन सुबह से लेकर शाम तक कलकत्ते के प्रतिष्ठित हिंदू घरों में जाते थे और वहाँ के लोगों को समझाते थे कि वे अपने बच्चों को ईसाई पादड़ियों के स्कूलों में शिक्षा न दिलायें और स्वयं नये विद्यालयों की स्थापना करें। लोग उनके तर्कों से बहुत प्रभावित हुए और धीरे-धीरे ईसाई धर्म का आकर्षण घटता चला गया।

जब देवेन्द्रनाथ ने ब्राह्म-समाज के पुनस्संगठन की ओर अपनी शक्तियों को केन्द्रित किया, तब हिन्दू धर्म के एक नये और प्रगतिशील रूप के विकास के कारण पादड़ियों द्वारा बहकाये जानेवाले युवकों को एक नया और सुदृढ़ आधार प्राप्त हुआ। डेरोजियो स्कूल के विचार-स्वातंत्र्यवादी युवक भी धीरे-धीरे ब्राह्म धर्म की ओर झुकने लगे। इस प्रकार केवल धर्म के क्षेत्र में ही

नहीं, बौद्धिक क्षेत्र में भी एक नयी जागृति देवेन्द्रनाथ ठाकुर की लगन द्वारा संभव हुई। साथ ही राष्ट्रीय जागरण की लहर भी बड़ी तेजी से उमड़ उठी। उन्हीं दिनों ईश्वरचन्द्र विद्यासागर ने विधवा-विवाह तथा स्त्री-शिक्षा संबंधी आंदोलन द्वारा समाज में बड़ा तहलका मचा रखा था और हरिश्च मुखर्जी ने 'हिंदू पेट्रियट' नामक अँगरेजी पत्र द्वारा राजनीतिक और राष्ट्रीय जागरण के क्षेत्र में जन-मन में बड़ा उत्साह भर रखा था।

इस संक्रांतिकालीन उथल-पुथल के बीच रवीन्द्रनाथ का जन्म हुआ। यह उथल-पुथल केवल धार्मिक तथा सामाजिक क्षेत्रों तक ही सीमित नहीं थी, बल्कि साहित्यिक तथा सांस्कृतिक क्षेत्रों में भी पूरे जोरों से चल रही थी। देवेन्द्रनाथ द्वारा संचालित 'तत्त्वबोधिनी पत्रिका' प्राचीन भारत के यथार्थ आध्यात्मिक गौरव के प्रचारद्वारा नयी अँगरेजी सभ्यता की चकाचौंध से चकित नव्य शिक्षित समाज के आगे एक नया आदर्श रख रही थी। इस पत्रिका में वेद, उपनिषद्, महाभारत आदि का अनुवाद धारावाहिक रूप से छँपा करता था। स्वदेशी भाषा की उन्नति संबंधी आंदोलन भी उन्हीं दिनों देवेन्द्रनाथ द्वारा विविध उपायों द्वारा पूरे जोरों से चल रहा था। फलस्वरूप यूरोपीय साहित्य और दर्शन से प्रभावित विज्ञजन यूरोपीय ज्ञान को बँगला भाषा के भीतर ढालने लगे थे। इस प्रकार प्राच्य और पाश्चात्य ज्ञान का उन्नततम रूप जन-साधारण के आगे प्रकाशित होता चला जा रहा था।

साहित्यिक जागरण भी बड़ी तीव्र गति से हो रहा था। माइकेल मधुसूदन दत्त अपनी विद्रोही प्रतिभा को साहित्यिक रूप देने के लिये अत्यंत उत्सुक हो उठे थे। प्रारंभ में उन्होंने अपनी इस आकांक्षा की पूर्ति अँगरेजी माध्यम से करने का निश्चय किया था। 'दि कैप्टिव लेडी' नाम से एक काव्यात्मक आख्यान उन्होंने अँगरेजी में लिखा भी था। पर बाद में उनके कुछ घनिष्ठ मित्रों ने जब उन्हें यह सुझाया कि विदेशी भाषा में काव्य-रचना करके वह कभी भी वैसी ख्याति प्राप्त नहीं कर सकते जैसी अपनी मातृभाषा में लिखने से। यह बात माइकेल के मन में बैठ गयी। उन्होंने संस्कृत सीखना

आरंभ कर दिया। तब तक वह संस्कृत का एक साधारण शब्द भी शुद्ध रूप में लिखना नहीं जानते थे। 'पृथिवी' को 'प्रथिवी' लिखते थे। उन दिनों ईश्वरचन्द्र विद्यासागर की शैली के अनुकरण से संस्कृत-गर्भित बँगला भाषा का प्रचार बड़े जोरों से हो रहा था। माइकेल ने उसी संस्कृत-बहुल शैली में काव्य रचने का निश्चय किया। कुछ ही समय बाद उन्होंने 'तिलोत्तमा संभव' काव्य अमित्राक्षर या अतुकांत छंद में लिखा। उस काव्य ने तत्कालीन बँगला साहित्य समाज में बड़ी धूम मचा दी।

माइकेल मधुसूदन दत्त मिल्टन से बहुत प्रभावित थे और उसकी शैली में एक महाकाव्य बँगला में लिखने की प्रेरणा उनके मन में जगी। अतएव उन्होंने 'तिलोत्तमा-संभव' के बाद ही 'मेघनाद-वध' महाकाव्य की रचना कर डाली, जो उनके पिछले काव्य की तरह ही अतुकांत छंद में लिखा गया। पंक्ति के मध्य में विराम देने की प्रथा भी माइकेल ने उस काव्य में चलायी। 'मेघनाद-वध' प्रकाशित होते ही बंगाल के तत्कालीन सभी नये और पुराने साहित्यकारों ने एक स्वर से उसकी प्रशंसा की और उसका आश्चर्यजनक स्वागत हुआ। यह बात ध्यान में रखने योग्य है कि 'मेघनाद-वध' में राम और लक्ष्मण की अपेक्षा रावण और मेघनाद को अधिक प्रमुखता दी गयी है। उसमें रावण को राम की अपेक्षा और मेघनाद को लक्ष्मण की अपेक्षा अधिक उदात्त, धीर, प्रशांत और वीर प्रदर्शित किया गया है। माइकेल खुल्लमखुल्ला कहा करते थे : "आई हेट राम ऐन्ड हिज रैबल, रावण वाज ए फाइन चैप।" अर्थात् मैं राम और उनके दलबल से घृणा करता हूँ। रावण बहुत भला था। यह होने पर भी उस युग के वंगीय साहित्यकारों और साहित्यालोचकों ने उस काव्य द्वारा अपने साहित्य को गौरवान्वित अनुभव किया। इससे यह प्रमाणित होता है कि बंगाल के साहित्य-समाज में उस युग में भी विचार-स्वातंत्र्य का महत्त्व किस हद तक स्वीकृत किया जाने लगा था।

माइकेल की प्रतिभा बहुमुखी थी। उन्होंने वैष्णव काव्य-धारा से प्रभावित होकर 'व्रजांगना' काव्य की रचना भी की। चतुर्दशपदी कविता

(सानेट) का प्रवर्तन भी उन्होंने बंगला में किया। इसके अतिरिक्त उन्होंने नाटक और प्रहसन भी बंगला के तत्कालीन नव-प्रतिष्ठित रंगमंच के लिये लिखे।

माइकेल ने ईश्वरचंद्र विद्यासागर द्वारा प्रचारित संस्कृत-गर्भित भाषा को अपनाया। यह ठीक है कि उन्होंने उस भाषा को नयी गति, नया प्रवाह, नया मोड़ दिया, पर संस्कृत-बाहुल्य से उसे मुक्त करने के बजाय उसे जटिल संस्कृत-शब्दों के भार से और अधिक ग्रस्त कर दिया। एक दूसरे साहित्यिक वर्ग में इस प्रकार की भाषा के विरुद्ध तीव्र प्रतिक्रिया चल रही थी। फलस्वरूप जब प्यारीचाँद मित्र द्वारा लिखित 'आलालेर घरे दुलाल' और कालीप्रसन्नसिंह का 'हुतोप पेंचार नक्सा', ये दो व्यंगात्मक रचनाएँ प्रकाशित होने पर लोकप्रिय हुईं तब ठेठ बोलचाली भाषा की एक नयी शैली चल पड़ी। उस युग के सुप्रसिद्ध नाटककार दीनबंधु मित्र ने अपनी रचनाओं में इसी 'आलाली' भाषा को अपनाया और साथ ही उसमें ग्राम्य भाषा का गहरा पुट दे दिया। दोनों शैलियों में मूलगत प्रभेद था। इन दो चरम रूपों के बीच की शैली के विकास की आवश्यकता का अनुभव तत्कालीन साहित्यालोचकगण कर रहे थे। ऐसी स्थिति में बंकिमचंद्र के रूप में एक नयी और महान् प्रतिभा का आविर्भाव हुआ।

बंकिमचंद्र ने तब तक प्रचलित सभी भाषा-शैलियों का मंथन करके एक सुंदर, सामंजस्यात्मक साहित्यिक भाषा का प्रचलन किया। बंकिम ने केवल भाषा का ही संस्कार नहीं किया, भाव के क्षेत्र में भी उन्होंने नये-नये प्रयोग किये। केवल प्रयोग ही नहीं किये, स्थायी महत्त्व की भी बहुत-सी चीजें उन्होंने बंगला साहित्य को दीं। उन्होंने साहित्यिक बंगला भाषा को जिस प्रकार एक नया ओज और नयी शक्ति प्रदान की उसी प्रकार सबल, पुष्ट, स्वस्थ और सुविकसित भावधारा का भी उन्नयन किया। बंकिम ही सर्वप्रथम ऐसे साहित्यकार थे, जिन्होंने एक ओर भारतीय साहित्य को परंपरागत रुढ़ियों की संकीर्णता से मुक्त करके, विदेशी साहित्य के संपर्क से प्राप्त

नयी प्रगतिशील भावभूमि पर उसकी प्राण-प्रतिष्ठा की, और दूसरी ओर विदेशी साहित्यिक ढाँचे के भीतर देशी भावों और रसों का प्रस्फुटन नये रूप में किया। बंकिम ऐसे लेखक थे जिन्होंने इस देश में पहली बार उच्चकोटि के आधुनिक साहित्यिक तत्त्वों, भावों और रसों का प्रवर्तन किया। उनकी बहुत-सी रचनाएँ आज के युग के साहित्यिक दृष्टिकोण से भी खरी उतरती हैं, जबकि उनके समसामयिक या उनके पूर्व के वगीय कवियों तथा साहित्य-कारों की कृतियाँ आज किसी विकसित-रुचि साहित्य-रस-रसिक को किसी भी प्रकार की प्रेरणा देने में समर्थ नहीं हैं।

बंकिम ने 'वंगदर्शन' नाम से एक मासिक पत्र निकालकर उसके माध्यम से केवल नयी-नयी सुन्दर और शक्तिशाली साहित्यिक कृतियाँ ही नहीं दीं, बल्कि साहित्यालोचना का भी एक नया और महत्त्वपूर्ण आदर्श स्थापित किया। साथ ही धर्म, दर्शन, विज्ञान, समाजनीति, राजनीति आदि विविध विषयों पर भी उन्होंने पुस्तकें लिखीं। 'वंगदर्शन' में नियमित रूप से प्रकाशित होनेवाली रचनाओं का बड़ा गहरा प्रभाव बालक रवीन्द्र-नाथ पर पड़ा था, जिसने उनके परवर्ती साहित्यिक जीवन के निर्माण में बड़ी सहायता पहुंचायी थी।

माइकेल मधुसूदन दत्त के अतिरिक्त उस युग के दो और कवियों ने तत्कालीन बंगला काव्य साहित्य के गौरव की वृद्धि की थी। उनमें एक थे हेमचन्द्र वंद्योपाध्याय और दूसरे थे नवीनचन्द्र सेन। उन दिनों मधुसूदन दत्त बंग साहित्य के मिल्टन और नवीनचन्द्र 'बायरन' कहे जाते थे।

हेमचन्द्र माइकेल की शैली के बड़े प्रशंसक थे। 'मेघनादवध' प्रकाशित होने पर उसकी सबसे अधिक प्रशंसात्मक आलोचना उन्हींने की थी। प्रायः उसी शैली में उन्होंने स्वयं भी 'वृत्र-संहार' नाम से एक महाकाव्य रचा था, जिसकी भाव-धारा और रचना-रीति 'मेघनादवध' की अपेक्षा कहीं उन्नत और परिमार्जित थी। पर उस युग का आलोचनात्मक आदर्श और साहित्य–परीक्षण संबंधी मापदंड कुछ ऐसे विचित्र थे कि हेमचन्द्र जन-मन में माइकेल के ऊपर न उठ सके। हेमचन्द्र की राष्ट्रीय जागरण संबंधी कुछ

कविताएँ उस युग में बहुत लोकप्रिय हो गयी थीं। वास्तव में वे कविताएँ बहुत ही मार्मिक थीं और पूरे प्राण-प्रवेग से लिखी गयी थीं। हेमचंद्र वृद्धा-वस्था में एकदम अंधे हो गये थे और रोजी का कोई उपाय न होने से उनकी स्थिति बहुत दयनीय हो उठी थी। रवीन्द्रनाथ उन्हें बहुत मानते थे। उनके अंतिम वर्षों में रवीन्द्रनाथ ने उन्हें नियमित आर्थिक सहायता प्रदान की थी।

नवीनचंद्र सेन द्वारा रचित 'पलाशिर युद्ध' (पलासी की लड़ाई) आज भी साहित्य-प्रेमियों द्वारा सम्मान की दृष्टि से देखा जाता है। उसमें क्लाइव के चरित्र को एक नये प्रकाश में अंकित किया गया है और विश्वास-घाती मीरजाफर के चरित्र को मनोवैज्ञानिक कसौटी पर कसा गया है। अँगरेज सरकार की नौकरी करने पर भी जिस निर्भीकता में उस राज्य में क्लाइव और मीरजाफर के नीचतापूर्ण षड्यंत्र का वर्णन कवि ने किया है, वह आश्चर्यजनक ही है। बंकिम में भी यह निर्भीकता कूट-कूट कर भरी हुई थी। नवीनचंद्र का दूसरा प्रसिद्ध काव्य 'रैवतक' है, जिसमें कृष्ण के दर्शन-तत्त्व का परिस्फुटन एक निराली ही पृष्ठभूमि में किया गया है।

मिल्टन आदि की शैली में रचे गये महाकाव्यों तथा खण्डकाव्यों की इस भरमार के बीच में बिहारीलाल चक्रवर्ती की कविता अपना एक अलग विशेषत्व रखती थी। बिहारीलाल प्रकृति के सच्चे पुजारी थे और उनकी कविता में रोमांटिक रस का स्निग्ध प्रवाह बहता हुआ मिलता था।

यह थी उस युग की सांस्कृतिक और साहित्यिक पृष्ठभूमि, जिस पर रवीन्द्रनाथ का आविर्भाव हुआ था।

शैशव

रवीन्द्रनाथ का जन्म कलकत्ते में संवत् १९१८ में वैशाख मास की कृष्णा त्रयोदशी के दिन सोमवार को अर्द्धरात्रि के बाद हुआ। अँगरेजी हिसाब से ७ मई १८६१ मंगलवार उनका जन्म दिन माना जाता है। अर्द्धरात्रि के बाद जन्म होने से अँगरेजी हिसाब से एक दिन का अंतर पड़ जाता है, अन्यथा ६ मई सोमवार को ही उनकी जन्मतिथि मनायी जाती।

पहले परिच्छेद में यह बताया जा चुका है, कि देवेन्द्रनाथ के पन्द्रह बेटे-बेटियों में रवीन्द्रनाथ चौदहवें थे। चूँकि पन्द्रहवें लड़के की मृत्यु सूतिकागार में हो गयी थी, इसलिये रवीन्द्रनाथ ही अपने भाई-बहनों में सबसे छोटे थे। उनके जन्म के समय उनके पिता की आयु ४४ वर्ष की थी और माता की ३७ वर्ष। सबसे अंतिम संतान होने पर भी उनका स्वास्थ्य प्रारंभ से ही अच्छा था। उनके जन्म के समय उनके सबसे बड़े भाई की आयु २१ वर्ष की थी। रवीन्द्रनाथ के जन्म के एक वर्ष बाद द्विजेन्द्रनाथ के प्रथम पुत्र द्विपेन्द्रनाथ का जन्म हुआ था। अर्थात् चचा और भतीजा प्रायः एक ही उम्र के थे। मँझले भैया सत्येन्द्रनाथ तब उन्नीस वर्ष के थे और भारतीय सिविल सर्विस की परीक्षा देने के लिये विलायत जाने की तैयारी कर रहे थे। जब वह आई० सी० एस० होकर देश लौट आये तब रवीन्द्रनाथ तीन साल के अबोध शिशु थे। सँजले भैया हेमेन्द्रनाथ रवीन्द्रनाथ से सत्रह वर्ष बड़े थे।

रवीन्द्रनाथ कलकत्ते के जोड़ासाँको मुहल्ले में स्थित विशाल पैतृक भवन में पैदा हुए थे। यह विख्यात कोठी प्रायः पिछले सौ वर्षों से निरंतर आवश्यकता की वृद्धि के साथ-साथ आकार में बढ़ती चली जा रही थी। किसी विशेष योजना के अनुसार उसे बढ़ाया नहीं जाता था। प्रत्येक नयी पीढ़ी उस विराट भवन में जगह की कमी का अनुभव करती थी, और केवल

स्थान-वृद्धि की दृष्टि से उसे कभी ऊपर कभी नीचे, कभी दक्षिण कभी पूरब की ओर बढ़ा दिया जाता था। फलस्वरूप उसमें कितनी ही नयी-नयी छतें, नये-नये आँगन, कोठे और गलियारे एक वृहत्, संयुक्त प्राचीन अभिजात परिवार की माँग के अनुसार जुड़ते चले जाते थे। सारा भवन एक विराट रहस्यमय भूलभुलैया की तरह लगता था। रवीन्द्रनाथ ने अपने बचपन के संस्मरणों में कई बार बड़े रस के साथ उस भूलभुलैया की रहस्यमयता का उल्लेख किया है। कई वर्षों तक कवि के लिये उस मकान की कई छतें, कई कमरे और कई गलियारे अपरिचित ही रह गये थे।

सम्मिलित ठाकुर परिवार का विस्तार भी बहुत बड़ा था। केवल देवेन्द्रनाथ और उनके भाइयों के पुत्र-पौत्रादि ही उसमें नहीं रहते थे, बल्कि उनकी पुत्रियाँ भी अपने पति-पुत्रादि के साथ वहीं रहती थीं। ठाकुर लोग ब्राह्मण समाज में गिरे होने से उन्हें कुलीन जामाताओं की प्राप्ति में बड़ी कठिनाई होती थी। बहुत-सा धन देकर वह अच्छे घरों के योग्य जामाताओं को प्राप्त कर पाते थे। और वे योग्य जामाता भी 'पीराली' ब्राह्मणों के यहाँ विवाह करने के कारण अपने समाज से बहिष्कृत हो जाते थे,इसलिये श्वशुर-गृह-निवास के अतिरिक्त उनके लिये दूसरा चारा नहीं रह जाता था।

उतने सब आदमियों का खाना एक ही विशाल रसोईघर में बनता था। सारे घर में सब समय किसी-न-किसी रूप में चहल-पहल तो रहती ही थी, साथ ही अंदर-महल में भीषण कोलाहल भी सब समय सुनाई देता था। वह वृहत् परिवार क्या था, पूरा एक उपनिवेश था। ऐसी स्थिति में स्वभावतः व्यवस्था में कहीं-न-कहीं कुछ-न-कुछ गड़बड़ी अवश्य रह जाती थी। शिशु रवीन्द्रनाथ की देख-भाल और लालन-पालन का भार, घर के दूसरे बच्चों की ही तरह, नौकर-चाकरों को सौंप दिया गया था। नौकर यदि दया करता तो समय पर बच्चे को खाना मिल जाता, न करता तो बच्चे को भूखा ही रह जाना पड़ता। नौकर कोई साधारण नौकर नहीं था। वह एक प्रकार से बच्चे का अभिभावक था। उसकी शिकायत करने का साहस बच्चे में नहीं होता था। और यदि शिकायत की भी जाती तो

उतने बड़े परिवार में किसी एक बच्चे की शिकायत सुनने का अवकाश ही किसे था !

शिशु रवीन्द्रनाथ में इतनी शराफत जन्मजात थी कि वह सभी असुविधाओं को चुपचाप झेल लेते थे, और अपने अभिभावक नौकर की कोई भी शिकायत कभी किसी से नहीं करते थे। नौकर उनके लिये बँधे हुए भोजन, दूध और जलपान संबंधी राशन में कटौती करके अपनी उदर-पूर्ति करने में तनिक भी न चूकते। रवीन्द्रनाथ ने अपने बचपन के संस्मरणों में अपनी इस करुण कथा का वर्णन बड़े ही 'मनोरंजक' ढंग से किया है, जिसे पढ़कर करुणा और भी करुण होकर सामने आती है। उन्होंने अपने शिशु–जीवन के उस युग को 'भृत्य-राजक तंत्र' नाम दिया है।

रवीन्द्र-विद्वेषी लेखकों ने रवीन्द्र-प्रतिभा के असाधारण विकास का एक प्रधान कारण उनका एक धनाढ्य परिवार के बीच में, 'प्रिन्स' द्वारकानाथ ठाकुर के पौत्र के रूप में उत्पन्न होना बताया है। उन लोगों का ध्यान कभी इस बात की ओर नहीं गया कि धनाढ्य परिवार में उत्पन्न होने पर भी कवि का बाल्य-जीवन एक साधारण निम्नमध्यवर्गीय परिवार के बच्चों से भी अधिक दयनीय रूप से बीता है।

ठाकुर-परिवार के बच्चों को नौकरों की संरक्षकता में दिन भर प्रायः बंदी अवस्था में, उनके बीच में रहना पड़ता था। नौकर बाहर की तरफ वाले दुमंजिले मकान में रहते थे। उस मकान की खिड़की के ठीक नीचे एक पक्का तालाब था। उसके पूर्व की ओर बहुत पुराना वटवृक्ष था और दक्षिण की ओर नारियल के पेड़ों की कतार थी। शिशु रवीन्द्रनाथ दिन-भर खिड़की से उस तालाब, वटवृक्ष और नारियल के पेड़ों की कतार की ओर देख-देखकर अपने शिशु-मन की अविकसित तथापि तीव्र अनुभूति द्वारा विश्व-जीवन के अज्ञात और अगाध रहस्य का छिटफुट आभास पाते रहते थे। जिन लोगों की यह धारणा है कि काव्यात्मक अनुभूति के विकास के लिये काव्यात्मक वातावरण की आवश्यकता अनिवार्य है वे लोग रवीन्द्रनाथ के प्रारंभिक जीवन की घोर गद्यात्मक पारिपार्श्विक परिस्थितियों को ध्यान

में रखें। उनके चारों ओर का वातावरण एकदम निर्विचित्र और नीरस होने पर भी वह अपने अनुभूतिशील शिशु-हृदय की कवि-कल्पना द्वारा उस निर्विचित्रता के भीतर भी अगाध रहस्यमयता का अनुभव करते रहते थे। जिस पुराने वट, नारियल के पेड़ों की कतार और तालाब के बीच में शैशव के प्रारंभिक वर्ष उन्हें बिताने पड़े थे उन पर बाद में—किशोर-जीवन के आरंभ में—उन्होंने सुंदर कविताएँ लिखी थीं।

पहले ही कहा जा चुका है कि ठाकुर परिवार की वृहत्तर कोठी में नये-नये अंश और नये-नये खंड बिना किसी योजना के तात्कालिक आवश्यकता के अनुसार जुड़ते चले जाते थे। फल यह देखने में आता था कि बहुत-सी छतें और कमरे बालकों के लिये अपरिचित और रहस्यमय रह जाते थे। शिशु रवीन्द्रनाथ जब कभी नौकरों की अभिभावकता से छुट्टी पा जाने का सुयोग पाते तब उस निर्जन—और शिशु-कवि-हृदय के लिये अनंत रहस्यपूर्ण—छतों पर भटकने में अपार आनंद का अनुभव करते। वहाँ वह अपनी कल्पना के रंगों द्वारा एक निराले ही रूप-कथा-लोक का निर्माण करके बहुत देर तक अकेले ही वहाँ विचरण करते रहते थे। सुविधाओं के नितांत अभाव ने उनके जन्म से ही कल्पनाशील और भाव-प्रवण हृदय को और अधिक कल्पना-प्रिय और भाव-मग्न बना दिया था।

प्रारंभिक शिक्षा

घर के नौकर-चाकरों, वेतनभोगी कर्मचारियों तथा इसी प्रकार के दूसरे व्यक्तियों के संसर्ग द्वारा शिशु रवीन्द्र की शिक्षा आरंभ हुई थी। नौकरों में कुछ ऐसे लोग भी थे जो रामायण, महाभारत, पुराण के सरल अनुवादों के सस्ते जन-संस्करण से कहानियाँ पढ़-पढ़कर अपने साथियों को सुनाते रहते थे। छः साल के शिशु के मन में उन सब कहानियों को सुनकर ठीक-ठीक किस तरह के भाव जगते होंगे इसका अनुमान लगाना कठिन है। पर शिशु कवि-हृदय की अवचेतना पर उन कथाओं का गहरा प्रभाव—फिर चाहे वह कैसा ही अस्पष्ट क्यों न हो—पड़ता होगा, इतना निश्चित है। रवीन्द्रनाथ ने अपने पिछले जीवन से संबंधित संस्मरणों में यह बात स्वीकार भी की है। इनके अलावा विविध रूप-कथाएँ भी उन्हें पहले-पहल नौकर-चाकरों के मुँह से ही सुनने का सुयोग मिला था, जबकि साधारणतः बच्चे दादियों, नानियों या दूसरे बड़े-बूढ़े के मुँह से इस तरह की कथाएँ सुनने का सौभाग्य पाते हैं। अंतःपुर के संपर्क से ठाकुर-परिवार के बच्चे प्रायः वंचित रहते थे। उस युग की विचित्र और कुछ समझ में न आने वाली प्रथा के अनुसार अपनी माँ का भी निकट संसर्ग शिशु रवीन्द्रनाथ को सहज सुलभ नहीं था। पर इस कारण से उनके भाव-जगत् के विस्तार और विकास में कोई कमी न आयी। क्योंकि नौकरों से वह जो कहानियाँ सुनते थे उन्हें अपने भीतर की कल्पना के रंगों से सँवार कर उनसे सहज ही में अपने ज्ञान-कोष और भाव-भंडार को बढ़ाने की समर्थता वह उस छोटी उम्र में भी रखते थे।

कविता का सर्वप्रथम आभास भी उन्हें नौकर-चाकरों के मुँह से सुने हुए 'छड़ा' नामक छंद में रचित लोक-वार्ताओं द्वारा प्राप्त हुआ था।

सुनकर वह जल्दी ही उन्हें कंठस्थ कर लेते थे और किसी निर्जन छत पर जाकर उन्हें एकांत में गुनगुनाते थे।

आजकल शिशुओं के पढ़ने योग्य ऐसी असंख्य पुस्तकें छपती रहती हैं, जिनमें रंग-बिरंगे चित्र, मजेदार कहानियाँ और मन को लुभानेवाले विविध प्रकार के सरल, सुबोध और दिलचस्प पद्य छपे रहते हैं। पर जिन दिनों शिशु रवीन्द्रनाथ ने वर्णमाला की शिक्षा आरंभ की थी उन दिनों शिशु-जनोचित पुस्तकों का नितान्त अभाव था। एकमात्र ईश्वरचंद्र विद्यासागर द्वारा लिखी गयी 'वर्ण-परिचय' नाम की पुस्तिका घर-घर में बच्चों को अक्षरों की प्रारंभिक शिक्षा देने के लिये खरीदकर रख ली जाती थी। रवीन्द्रनाथ का अक्षर-ज्ञान भी उसी से आरंभ हुआ। उस पुस्तिका में "जल पड़े पाता नड़े" (पानी गिरता है, पत्ता हिलता है) इस तरह के तुकांत वाक्यों की भरमार थी। छपे अक्षरों में जो सबसे पहली कविता रवीन्द्रनाथ ने पढ़ी वह यही वाक्य था। शिशु रवीन्द्र की बुद्धि तीव्र होने से उन्होंने बहुत जल्दी अक्षर-ज्ञान प्राप्त कर लिया और प्रारंभिक दो-तीन पुस्तकें भी जल्दी ही समाप्त कर डालीं। ठाकुर-भवन के विस्तृत आँगन में एक पेड़ के नीचे पंडित जी कई बच्चों को एक-साथ पढ़ाते थे। शिशु रवीन्द्र भी वहीं पढ़ने बैठते थे।

जब वह संयुक्त अक्षरों को भी पढ़ना सीख गये तब एक दिन गुरुजी के आगे रोने लगे कि वह नियमित रूप से किसी स्कूल में पढ़ना चाहते हैं। गुरुजी ने उनके कोमल गाल पर एक चाँटा जमाते हुए कहा—"अभी स्कूल जाने के लिये जिस तरह रो रहे हो, बाद में स्कूल न जाने के लिये जिद करते हुए उससे अधिक रोओगे।" गुरुजी की यह भविष्यवाणी रवीन्द्रनाथ परवर्ती के जीवन में किस सचाई के साथ उतरी थी, जानकारों से यह बात छिपी नहीं है।

रोने के फलस्वरूप शिशु रवीन्द्रनाथ पहले गौरमोहन आढ्य द्वारा परिचालित "ओरियेन्टल सेमिनेरी" नामक स्कूल में भरती हुए। कुछ दिन वहाँ पढ़ने के बाद उनका मन उस स्कूल में न लगा। वहाँ से वह नार्मल

स्कूल में भरती हुए। इस विद्यालय की पढ़ाई अँगरेजी शिक्षा-पद्धति के अनुसार होती थी। उस युग के भारतीय सुधारकगण हिंदू छात्रों के लिये जिस ढंग की पढ़ाई की आवश्यकता समझते थे, उस स्कूल में (तथा उस युग के अधिकांश दूसरे स्कूलों में भी) उस आदर्श के अनुसार पढ़ाई नहीं होती थी। अँगरेजी आदर्श ही दिन-दिन प्रतिष्ठित होता चला जाता था। पर शिशु रवीन्द्रनाथ अपने अंतर में अपने अज्ञात में अपने लिये एक स्वतंत्र आदर्श स्वयं गड़ते चले जा रहे थे।

पर केवल नार्मल स्कूल की अति-स्वल्प शिक्षा पर ही कवि का शैशव-कालीन ज्ञान-विकास निर्भर नहीं था। घर में स्कूल की अपेक्षा कई गुना अधिक दुर्बोध और कड़ी पढ़ाई नियमित रूप से होती थी, इस शिक्षा का आरंभ बड़े ही कौतुकप्रद ढंग से होता था। सुबह सूर्योदय के बहुत पहले ही उन्हें घर के दूसरे बच्चों के साथ जागना होता था और लँगोट कसकर हीरासिंह नाम के एक सिख पहलवान के साथ कुश्ती लड़नी पड़ती थी। उसके बाद नियमित रूप से साढ़े तीन घंटा पढ़ाई चलती। पर पाठ्य-विषय उस उम्र के लिये बहुत कठिन थे। रेखागणित, साधारण गणित, भूगोल और इतिहास से लेकर 'वस्तुविचार' और 'प्राणिवृत्तांत' तक उन्हें विधिवत् सीखना पड़ता। अस्थिशास्त्र सिखाने के लिये एक नर-कंकाल की भी व्यवस्था की गयी थी, जो एक विशेष कमरे में बराबर टँगा रहता था। कवि की 'कंकाल' शीर्षक कहानी में इस बात का उल्लेख भी है। साहित्य में माइकेल मधुसूदन दत्त रचित 'मेघनाद-वध' काव्य पढ़ना पड़ता था। दिन में स्कूल से लौटने पर 'ड्राइंग' और 'जिमनेस्टिक' के शिक्षक आ पहुँचते थे। शाम को अँगरेजी का शिक्षक पढ़ाने आता था। संध्या की पढ़ाई रेंड़ी के तेल के दिये के नीचे होती थी। रविवार को प्रातःकाल शास्त्रीय संगीत की शिक्षा प्राप्त करनी होती थी। विज्ञान की व्यावहारिक शिक्षा भी उन्हें बीच-बीच में दी जाती थी।

विज्ञान संबंधी विषयों के प्रति रवीन्द्रनाथ की रुचि (या कुतूहल) बचपन से लेकर वृद्धावस्था तक बराबर बना रहा। यह बात कुछ लोगों को

आश्चर्यजनक लग सकती है कि रवीन्द्रनाथ के यौवन-काल में रची गयी सर्वश्रेष्ठ कविताओं में जीवन के प्रति कवि के वैज्ञानिक दृष्टिकोण का सुस्पष्ट परिचय मिलता है। यह दृष्टिकोण उनकी रहस्यवादी अनुभूति के साथ एक-रूप होकर काव्यात्मक रस में घुल-मिलकर, एक निराली रासायनिक माधुरी और सौन्दर्य की सृष्टि करने में आश्चर्यजनक रूप से सफल सिद्ध हुआ है।

विज्ञान को कवि ने केवल साहित्यिक साधन ही नहीं बनाया है, बल्कि व्यावहारिक क्षेत्र में भी उन्होंने समय-समय पर वैज्ञानिक प्रयोग किये हैं। वनस्पति-विज्ञान संबंधी विविध प्रयोगों द्वारा वृद्धावस्था में उन्होंने आम के पेड़ को एक लतर का रूप देने का प्रयत्न किया था। प्रारंभ ही से वह वैज्ञानिक विषयों से संबंधित प्रबंध विविध पत्र-पत्रिकाओं के लिए लिखते रहे हैं। सन् १९३८ में, परिपूर्ण वृद्धावस्था में, उन्होंने 'विश्व-परिचय' लिखा, जो एक वैज्ञानिक रचना है।

ज्ञान-अर्जन की चिर-अतृप्त पिपासा जन्म से ही अपने प्राणों में लिये रहने पर भी बालक रवीन्द्रनाथ शिक्षकों की कड़ी निगरानी में होनेवाले अध्ययन के कठोर बंधन के प्रति अक्सर विद्रोही हो उठते थे। शिक्षकों के कठोर शासन के विरुद्ध यह विद्रोह रवीन्द्रनाथ के मन में बराबर बना रहा। अवसर पाते ही वह पाठ्य-पुस्तकों को ठुकराकर चोरी-छिपे ऐसी पुस्तकों को पढ़ने में तल्लीन हो जाते जो किसी शिक्षक की दृष्टि में किसी भी स्कूली बालक के लिये नितांत अपाठ्य हो सकती है। अपने बड़े भाइयों की आल-मारियों से नियमित पाठ्यक्रम के बाहर की जो भी पुस्तक उन्हें मिल जाती उसे वह केवल पढ़ते ही नहीं थे, बल्कि उसका रस पूरी तौर से ग्रहण करते हुए उस रस को मन की जीभ द्वारा चाट भी जाते थे। उन दिनों 'अबोध बंधु' नामक एक विविध-विषयक मासिक पत्रिका प्रकाशित होती थी। उसकी पुरानी फाइलों को अपने बड़े भैया की आलमारी से चुपचाप चुराकर वह उसे भी आदि से अंत तक चाट जाते। उसी पत्र में प्रसिद्ध फ्रांसीसी उपन्यास 'पाल और वर्जीनिया' का बंगला अनुवाद छपा था।

उसे पढ़ने में दस-वर्षीय रवीन्द्रनाथ इस कदर तन्मय हो गये थे कि दो-तीन दिन तक खाने और सोने की सुधि भी उन्हें नहीं रही थी।

दो-एक साल बाद बंकिमचंद्र द्वारा संपादित और संचालित 'वंगदर्शन' नामक सुविख्यात मासिक पत्र के दर्शन उन्हें हुए। उसे पाने पर उनके हर्ष और आनन्द की सीमा न रही। 'अबोधबंधु' और 'वंगदर्शन' में जमीन आसमान का अन्तर था। एक तो 'अबोधबंधु' का दृष्टिकोण बहुत ही सीमित और पुराणपंथी था, दूसरे उसमें 'वंगदर्शन' के समान वैविध्य नहीं था, तीसरे उसके संपादन के पीछे बंकिम के समान कोई बड़ी प्रतिभा नहीं थी। 'वंगदर्शन' को पढ़कर बालक रवीन्द्रनाथ को पहली बार इस बात का अस्पष्ट आभास मिला कि किस प्रकार की साहित्यिक रचनाएँ (और निबंध) उनकी सहज प्रवृत्ति के अनुकूल पड़ सकती हैं। 'अबोधबंधु' पुराना पत्र था। उसकी तुलना में 'वंगदर्शन' युगों आगे बढ़ा हुआ लगता था। तब से रवीन्द्रनाथ 'वंगदर्शन' के नियमित पाठक बन गये और बंकिमचंद्र के जीवन-काल तक बराबर बने रहे। बंकिम के बाद कुछ समय के लिये 'वंगदर्शन' के संपादन का भार उन पर पड़ा था। 'वंगदर्शन' में केवल बंकिमचंद्र के उपन्यास ही नियमित और धारावाहिक रूप से नहीं छपते थे, बल्कि उनके तथा उस युग के दूसरे श्रेष्ठ लेखकों के विविध-विषयक लेख भी छपते रहते थे। महीने के जिस दिन 'वंगदर्शन' नया-नया छपकर बालक रवीन्द्रनाथ के हाथ में आता था वह उनके लिये एक बहुत बड़ा पर्व होता था।

अँगरेजी प्रचार के उस युग में ठाकुर परिवार के बालकों की प्राथमिक शिक्षा मातृभाषा के ही माध्यम से होती थी। फलस्वरूप रवीन्द्रनाथ को बचपन में ही बंगला भाषा संबंधी ज्ञान की जड़ को मजबूत करने का सुयोग प्राप्त हो गया था। उनके संझले भैया हेमेन्द्रनाथ इस बातके लिये विशेष रूप से सचेष्ट रहते कि बच्चे मातृभाषा में ही प्राय: सभी विषयों का प्रारंभिक ज्ञान प्राप्त कर लें। बच्चों की पढ़ाई की निगरानी का भार उन्हीं पर था।

पर अँगरेजी भाषा की उपेक्षा भी असंभव थी। इसलिये शीघ्र ही रवीन्द्रनाथ को नार्मल स्कूल से हटाकर 'बंगाल एकेडेमी' नामक एक अँगरेजी

विद्यालय में भर्ती करा दिया गया था, जिसका संचालक डेक्रूज नामक एक यूरोपियन था। वहाँ अधिकतर अँगरेज लड़के पढ़ते थे। इस विद्यालय में बालकों को भरती कराने का मुख्य उद्देश्य यह रहता था कि अँगरेज अध्यापकों की देखरेख और संपर्क में रहकर बच्चे उन्हीं के ढंग से अँगरेजी बोलना और लिखना सीख सकें। रवीन्द्रनाथ ने स्वयं बाद में अपने बच्चों के लिये लारेन्स नामक एक अँगरेज शिक्षक को इसी उद्देश्य से नियुक्त किया था।

बालक रवीन्द्रनाथ स्कूली जीवन से बहुत कतराते थे और जब-जब तनिक भी सुयोग पाते स्कूल जाना 'गोल' कर देते थे। उन्हें घर पर अपना स्वतंत्र, अनियमित और निर्बंध अध्ययन ही रुचता था। स्कूल के अध्यापकों और घर में पढ़ानेवाले शिक्षकों का 'अत्याचार' उन्हें विवश होकर सहन करना पड़ता था। इसलिये उन दोनों से भिन्न अपनी स्वतंत्र और सहज अनुभूति द्वारा प्राप्त नियमरहित पढ़ाई ही उन्हें अच्छी लगती थी।

'बंगाल एकेडेमी' में भी उनकी पढ़ाई अधिक समय तक स्थिर न रह सकी। प्रकृति द्वारा परिचालित एक नये स्कूल में शिक्षा देने के उद्देश्य से एक दिन उनके पिता देवेन्द्रनाथ ठाकुर उन्हें स्कूल से हटाकर हिमालय यात्रा के लिये ले गये।

देवेन्द्रनाथ अधिकतर कलकत्ते के बाहर ही भ्रमण करते रहते थे। इसलिये बीच-बीच में जब वह कुछ दिनों के लिये भ्रमण से लौटकर कलकत्ते आते थे तब घर में बड़ी चहल-पहल मच जाती थी। बच्चों को ऐसा लगता जैसे एक बहुत बड़ा समारोह घर में हो रहा हो।

१८७२ के अंत में जब महर्षि (देवेन्द्रनाथ) हिमालय-भ्रमण के बाद कलकत्ते लौटे, तब उन्होंने अपने दो छोटे लड़के सोमेन्द्रनाथ और रवीन्द्रनाथ तथा नाती सत्यप्रसाद के उपनयन (यज्ञोपवीत संस्कार) का आयोजन किया। ब्राह्मधर्म को अपनाने पर भी देवेन्द्रनाथ ने परंपरा प्रचलित हिंदू संस्कारों का पूर्णतया तिरस्कार नहीं किया था। पर उनमें वह अपनी रुचि के अनुसार सुधार अवश्य करते चले जाते थे। रवीन्द्रनाथ के उपनयन के अवसर पर

उन्होंने इस संस्कार की प्रचलित पद्धति में केवल यह सुधार किया कि शालग्राम शिला का पूजन और होमयज्ञादि क्रिया का अनुष्ठान, दोनों का वर्जन कर दिया और वैदिक मंत्रों को चुन-चुनकर इस प्राचीन वैदिक प्रथा का नया रूप प्रवर्तित किया। देवेन्द्रनाथ ने स्वयं इस अनुष्ठान में आचार्य का पद ग्रहण किया। बटुकों को मंत्रों द्वारा उपदेश प्रदान किया।

उपनयन के बाद नवीन ब्रह्मचारी रवीन्द्रनाथ को प्रतिदिन नियमित रूप से अन्यान्य मंत्रों के साथ गायत्री मंत्र का भी जप करना पड़ता था। पिता के उपदेश और अपनी प्रकृतिगत रुचि के अनुसार बटुक रवीन्द्रनाथ मंत्र का अर्थ समझकर उसके अनुसार ध्यान करते हुए उसका जप किया करते थे। ऐसे अवसर पर वह ग्रहनक्षत्र-समन्वित आकाश के विराट् रूप को ध्यान के अंतर्गत लाने का प्रयत्न करते थे।

नवीन ब्राह्म इस उपनयन-संस्कार के समर्थक नहीं थे और उसे पुराण-पंथी प्रथा बताया करते थे। पर देवेन्द्रनाथ इस प्रथा के संरक्षण के कट्टर पक्षपाती थे। रवीन्द्रनाथ चिरदिन अपने 'पितृदेव' के अनन्य भक्त रहे और उनके द्वारा प्रवर्तित धार्मिक, सामाजिक तथा सांस्कृतिक मतों का समर्थन बराबर करते रहे। उन्होंने स्वयं अपने लड़के रथीन्द्रनाथ का यज्ञोपवीत संस्कार विधिपूर्वक किया था। उनकी एक लड़की का विवाह जब साधारण ब्राह्मसमाज से संबंधित एक युवक से हुआ तब विवाह के समय जामाता ने जनेऊ पहनने से इन्कार कर दिया था। पर रवीन्द्रनाथ इस बात पर अड़े रहे कि जामाता को उस मंगल अवसर पर पवित्र मंगलसूत्र पहनना ही होगा।

इस प्रकार शिशु रवीन्द्रनाथ बटुक रवीन्द्रनाथ में परिणत हुए। अब प्रश्न यह उठा कि घुटा हुआ सिर और उस पर जरी की काम की हुई टोपी, और उसके नीचे अचकन और पायजामा पहनकर अँगरेज लड़कों के स्कूल में पढ़ने कैसे जायें। उन पर जब घरवालों द्वारा उसी विचित्र वेश में स्कूल जाने के लिये जोर डाला जाने लगा तब वह न जाने का हठ ठानकर रोने लगे। इस पर उनके चिर-आदरणीय पिता उनकी रक्षा के लिये अग्रसर हुए।

उन्होंने बटुक रवीन्द्रनाथ को अपने साथ हिमालय ले चलने का प्रस्ताव किया। इससे अधिक आनंदप्रद प्रस्ताव रवीन्द्रनाथ के लिए दूसरा हो नहीं सकता था। ठाकुर-भवन की चहारदीवारी और कलकत्ते के बद्ध वातावरण से कुछ समय के लिये मुक्ति मिलने का सुख उनके लिये उस समय कितना बड़ा था, इस बात की कल्पना भी आज ठीक से नहीं की जा सकती।

पहली हिमालय यात्रा

हिमालय जाने के पहले देवेन्द्रनाथ कुछ दिनों के लिये रवीन्द्रनाथ को बोलपुर ले गये। यहीं बाद में शांतिनिकेतन की प्रतिष्ठा हुई थी। वीर-भूम जिले के अंतर्गत इस छोटे-से गाँव से देवेन्द्रनाथ का संबंध कब से और कैसे स्थापित हुआ, रवीन्द्रनाथ की जीवनी के सिलसिले में इस तथ्य की जानकारी बहुत आवश्यक है।

वीरभूम जिले के अंतर्गत रायपुर ग्राम के प्रतिष्ठित और वैभवशाली सिंह-परिवार से देवेन्द्रनाथ की घनिष्ठता थी। तब ईस्ट इंडिया कंपनी के उद्योग से बोलपुर तक रेल का रास्ता खुल चुका था। एक बार जब देवेन्द्र-नाथ रायपुर जाने के उद्देश्य से बोलपुर स्टेशन पर उतरकर पालकी पर सवार होकर सुरुल के बीच से होकर चले जा रहे थे, रास्ते में सहसा उनकी दृष्टि उत्तर की ओर एक सीमाहीन समभूमि पर पड़ी। उस मैदान में केवल दो सप्तपर्णी वृक्ष और बनखजूर के पेड़ों के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं दिखायी देता था। उस साधारण दृश्य ने किसी विचित्र और रहस्यमय आकर्षण से उनका मन मोह लिया। उसी क्षण उन्होंने वहाँ जमीन खरीदने का निश्चय कर लिया। रायपुर के जमींदार मित्र से बातचीत करके उन्होंने सप्तपर्णी पेड़ों के आस-पास की बीस बीघा जमीन खरीद ली। उस समय रवीन्द्रनाथ केवल दो साल के बच्चे थे। बाद में देवेन्द्रनाथ ने वहाँ एक छोटा-सा एकमंजिला मकान बनवाया, जो समयांतर में अतिथि-शाला के रूप में परिणत हो गया। जब बालक रवीन्द्रनाथ ने पहली बार पिता के साथ वह स्थान देखा, जिसे बाद में उनकी जीवन-साधना के साथ घनिष्ठ रूप से

सम्बद्ध होने का सौभाग्य प्राप्त हुआ था तब भी एक अवर्णनीय, निराली रहस्यात्मक अनुभूति उनके मन में जग उठी थी।

इसी एकांत साधना योग्य स्थान में परिणत-वयस्क पिता के साथ-बालक-कवि को पहली बार घनिष्ठ संपर्क में आने का सुयोग प्राप्त हुआ था। तब तक अनेक पुत्र-पौत्रादि से भरे-पूरे, बहुसंख्यक नाते-रिश्तेदारों, बंधु-बांधवों, परिचित व्यक्तियों और सहकर्मियों से निरंतर घिरे रहनेवाले महर्षि को स्वयं अपने बच्चों—विशेष करके अपने सबसे छोटे लड़के रवीन्द्र-नाथ के जीवन की प्रगति और विकास के संबंध में ठीक-ठीक जानकारी प्राप्त करने का अवकाश ही जैसे प्राप्त नहीं हो पाता था। दीर्घ भ्रमण के बाद वह बीच-बीच में कुछ समय के लिये अपने परिवारवालों से मिल पाते थे। उस स्वल्प अवकाश-काल में सभी बच्चों के घनिष्ठ संपर्क में आ सकना उनके लिये जैसे संभव ही नहीं हो पाता था। बच्चे उनके शान्त, गंभीर तथापि तेजस्वी व्यक्तित्व से अत्यंत प्रभावित होकर दूर ही से उन्हें श्रद्धा और प्रेम की दृष्टि से देखते रहते थे।

पर इस बार देवेन्द्रनाथ की सूक्ष्म, अंतर्भेदिनी दृष्टि से प्रायः बारह वर्षीय पुत्र के व्यक्तित्व के भीतर निहित एक असाधारण प्रतिभा के बीज जैसे छिपे न रह सके, इसलिये अपने साथ चलने के लिये उन्होंने सभी पुत्रों में से केवल उन्हीं को चुना।

शांतिनिकेतन के एकांत वास-काल में बालक-कवि को एक महाकाव्य लिखने की प्रेरणा न जाने अंतर्लोक के किस रहस्यमय सूत्र से प्राप्त हो गयी। वह प्रतिदिन दोपहर को नारियल के एक पेड़ के नीचे कँकरीली जमीन पर बैठकर अपनी कापी को नये-नये पदों से भरते चले जाते थे। इस प्रकार उन्होंने 'पृथ्वीराज की पराजय' नामक एक 'वीर-रसात्मक काव्य' रच डाला! पर, जैसा कि कवि ने अपनी आत्म-जीवनी में स्वयं सूचित किया है, "प्रचुर वीररस भी उस काव्य की विनाश के हाथों से रक्षा न कर सका।" यह अनुमान किया जाता है कि बाद में उन्होंने 'रुद्रचण्ड' नामक जो नाटक लिखा था उसमें उक्त काव्य के भाव-तत्त्व को एक नये और परिमार्जित रूप

में परिणत कर दिया था। रुद्रचण्ड को पृथ्वीराज का एक प्रतिद्वन्द्वी माना गया है।

कविता लिखने का चस्का शिशु रवीन्द्रनाथ को पहले-पहल कैसे और कब लगा इस तथ्य का ठीक-ठीक निर्धारण आज संभव नहीं है। फिर भी कवि ने आत्म-जीवनी में इस संबंध में जो संकेत दिया है वह काफी दिलचस्प है। उन्होंने लिखा है कि जब उनकी उम्र सात-आठ साल के बीच की थी तब एक दिन उनके भांजे ज्योतिःप्रकाश ने, जो उम्र में कवि से काफी बड़े थे, दोपहर को अपने कमरे में ले जाकर उनसे कहा: "तुम्हें पद्य लिखना होगा।" और यह कहकर कवि-प्राण शिशु को बंगला काव्य में बहु-प्रचलित पयार छन्द की प्रत्येक पंक्ति में चौदह अक्षरों को किस तरह सँजोकर कविता रचना की जा सकती है, उसका गुरु-मंत्र बता दिया। उसके बाद शिशु कवि ने नीचे कागज की एक कापी जुटाकर उसमें पेंसिल से कविता-रचना आरंभ कर दी।

तब से वह समय-असमय अपने मन के टूटे-फूटे और बिखरे भावों को छंदोबद्ध करने के लिये प्रयत्नशील दिखायी देते थे। साथ ही दूसरे कवियों की प्रकाशित पद्य-रचनाओं के पाठ में भी मग्न नजर आते थे। कुछ ही समय बाद ठाकुर-भवन में यह बात फैल गयी कि शिशु रवीन्द्र कविता लिखा करता है। उनके बड़े भाइयों और घर के दूसरे सयाने व्यक्तियों को कुतूहल हुआ। पर जब उन्होंने कविताएँ पढ़ीं तब उनमें से अधिकांश अवज्ञापूर्वक मुस्कराकर रह गये। पर कवि के पिता को अभी तक इस बात का पता न था कि उनके कनिष्ठ पुत्र का झुकाव कविता लिखने की ओर है। रवीन्द्रनाथ उनसे छिपाकर लिखते थे।

बोलपुर में कुछ समय तक रहने के बाद पिता-पुत्र यात्रा के लिये अग्रसर हुए। बीच में साहबगंज, दानापुर, इलाहाबाद, कानपुर आदि स्थानों में कुछ दिन विश्राम करते हुए अमृतसर पहुँचे। अमृतसर में सिखों के प्रसिद्ध गुरुद्वारे में ग्रंथसाहब के अखंड पाठ, भजन और कीर्तन सुनने और आरती देखने के लिये देवेन्द्रनाथ पुत्र के साथ जाया करते थे और मुग्ध

भाव से, भक्ति-गद्‌गद्‌ हृदय से वह दृश्य देखते और भजन-कीर्तन सुनते थे। शिशु रवीन्द्रनाथ के मन पर भी उस दृश्य का एक विचित्र मोहक और रहस्यात्मक प्रभाव पड़ता रहता था। विशेषकर आरती का दृश्य उनके अंतर को भक्ति के मंगलमय प्रकाश से जगमगा देता था। गुरुद्वारा में आरती के अवसर पर जो विशेष हिंदी गीत गाया जाता है, उसका सुंदर पद्यानुवाद कई वर्षों बाद कवि ने किया था।

अमृतसर से वे लोग डलहौजी गये। वहाँ बक्रोटा पहाड़ की चोटी पर देवेन्द्रनाथ एक सुंदर बँगले में रहते थे। इतने दिनों तक कलकत्ते के ठाकुर-भवन की चहारदीवारी के भीतर शिशु-कवि के चंचल-प्राण बंद थे। वहाँ थे चारों ओर केवल "ईंटेर पर ईंट माझे मानुष-कीट"। अर्थात् ईंट के ऊपर ईंट के अतिरिक्त और कुछ नहीं था, जिनके बीच-बीच में मनुष्य रूपी असंख्य कीट बने हुए थे। उस कारा से छूटकर सहसा जैसे वह पुष्पक विमान पर चढ़कर डलहौजी के मुक्त पर्वतीय प्रांगण में आ पहुँचे थे। चैत के अंत में वे लोग वहाँ पहुँचे थे जबकि जाड़ों में गिरी हुई बरफ अभी तक छायावाले ठंडे स्थानों में जमी हुई दिखायी देती थी। हिमालय का अपूर्व कल्पित दृश्य देख-देखकर शिशु-कवि से अन्तर्मन में असंख्य अस्पष्ट तथापि हिमालय की चोटियों की तरह ही उत्तुंग भाव घर करते चले जाते थे।

इस यात्रा के अवकाश-काल में भी महर्षि ने अपने पुत्र की पढ़ाई में किसी प्रकार की शिथिलता नहीं आने दी। वह उन्हें नियमित रूप से संस्कृत पढ़ाया करते थे। इसके पहले रवीन्द्रनाथ को शिक्षक द्वारा मुग्धबोध व्याकरण रटाने की चेष्टा व्यर्थ सिद्ध हो चुकी थी। इसलिये ईश्वरचंद्र विद्यासागर प्रणीत 'ऋजुपाठ' की सहायता से रवीन्द्रनाथ को संस्कृतशिक्षा दी जाने लगी और 'पीटर पार्लेज टेल्स' की सहायता से अँगरेजी। इन दो विषयों के अतिरिक्त एक और विषय में देवेन्द्रनाथ ने अपने बारह वर्षीय पुत्र का कुतूहल जगाया। वह विषय था ज्योतिष। महर्षि केवल पुस्तक द्वारा ही रवीन्द्रनाथ को ज्योतिष की शिक्षा नहीं देते थे, बल्कि रात में

आकाश-स्थित ग्रह-नक्षत्रों को दिखाकर उनकी ठीक-ठीक स्थिति का प्रत्यक्ष बोध भी उन्हें कराते जाते थे, ज्योतिष के प्रति रवीन्द्रनाथ की रुचि वृद्धावस्था तक अक्षुण्ण बनी रही।

चार महीने तक पिता के साथ भ्रमण करके, विविध विषयों का ज्ञान और अनुभव बढ़ाकर रवीन्द्रनाथ पिता के एक विश्वस्त अनुचर के साथ कलकत्ता लौट आये।

साहित्य-चर्चा का आरंभ

यात्रा से लौटने पर किशोर कवि ने देखा कि परिवार में उनकी स्थिति इस बार पहले की अपेक्षा अधिक महत्त्वपूर्ण हो उठी है। स्वयं महर्षि ने इतने दिनों तक उपेक्षित कनिष्ठ पुत्र को अपने साथ भ्रमण के लिये ले जाकर उसे गौरव प्रदान किया है, इस तथ्य ने घर के लोगों पर बहुत बड़ा प्रभाव डाला। और इस बार किशोर रवीन्द्रनाथ के व्यक्तित्व में भी एक निराली विशिष्टता सबने पायी। फल यह हुआ कि नौकरों की संरक्षकता से मुक्त हो कर वह अनायास ही एकदम अंतःपुर में प्रवेश पा गये। इतने दिनों तक वह 'भृत्य-राजक-तंत्र' में स्वयं अपने ही घर में निर्वासन का-सा अनुभव करते थे। अब अपनी माता तथा उनकी पार्श्वचरियों के बीच में बैठकर, उन सबका आंतरिक स्नेह पाकर, उनके आगे अपने यात्रा-संबंधी अनुभवों का वर्णन बढ़ा-चढ़ाकर करने में उन्हें एक नये ही सुख का अनुभव होने लगा।

चार महीने तक मुक्त जीवन बिताने के बाद स्कूली जीवन का बंधन उनके लिये असह्य हो उठा। उस निर्मम पाषाण-कारा से मुक्त होने के लिये वह निरंतर छटपटाने लगे। जब-जब सुयोग मिलता तब-तब स्कूल जाना 'गोल' कर देते थे और घर पर नयी-नयी कविताएँ रचने में मन लगाते थे। विद्यालय के प्रति उनका विराग देखकर घर पर उन्हें पढ़ाने के लिये नये-नये और योग्य से योग्यतर शिक्षक रखे जाते थे, पर विद्रोही बालक उन शिक्षकों के नियंत्रण का भी उल्लंघन कर बैठता था। अंत में एक शिक्षक किशोर कवि के मन के अनुकूल मिले। यह थे आनंदचंद्र वेदान्तवागीश के पुत्र ज्ञानचंद्र भट्टाचार्य। वह स्वयं काव्य-प्रेमी थे और किशोर कवि की अंतराकांक्षा को बहुत-कुछ समझ पाये थे। उन्होंने स्कूली पुस्तकों को

ताक पर रखकर रवीन्द्रनाथ को सीधे-सीधे एक ओर 'कुमारसंभव' और दूसरी ओर 'मेकबेथ' पढ़ाना आरंभ कर दिया।

केवल पढ़ाकर, शब्दार्थ और भावार्थ समझाकर ही वह संतुष्ट न हुए। उन्होंने किशोर कवि को 'कुमारसंभव' के प्रत्येक सर्ग और 'मेकबथ' के प्रत्येक अंक का अनुवाद करने का आदेश दिया। रवीन्द्रनाथ ने इस संबंध में स्वयं लिखा है कि जितना अंश भट्टाचार्य महाशय एक दिन में बंगला छंद में अनुवाद करने के लिये देते थे—वह जब तक पूरा न हो जाता तब तक वह कवि को कमरे के भीतर बंद रखते थे। इस उपाय से दोनों पुस्तकों का अनुवाद पूरा हो गया। इन दोनों अनुवादों के कुछ अंश अभी तक विश्वभारती में सुरक्षित हैं। इन अनुवादों को कभी पुस्तक-रूप में प्रकाशित नहीं किया गया, पर दोनों के जो छिटपुट अंश बचे हैं उन्हें पढ़कर आश्चर्य होता है कि इतना अच्छा अनुवाद किसी बालक-कवि द्वारा कैसे संभव हुआ। कोई उच्चकोटि का प्रौढ़ कवि ही वैसा अनुवाद कर सकता है।

एक बारह-तेरह वर्षीय कवि ने विश्व-साहित्य के दो महान् ग्रंथों का सुंदर पद्यानुवाद किया है, इस बात की चर्चा किसी सूत्र से बाहर फैल गयी और ईश्वरचंद्र विद्यासागर के कानों तक पहुँची। उन दिनों ईश्वरचंद्र विद्यासागर बंगाल के सबसे अधिक प्रतिष्ठित विद्वान् और नेता माने जाते थे। उन्होंने बालक-कवि को अपने यहाँ बुलाकर दोनों अनुवादों के नमूने सुने। सुनकर वह बहुत ही प्रसन्न हुए और कवि को आशीर्वाद देने लगे।

बंगाल एकेडेमी में पढ़ने के लिये जाने का क्रम छूट चुका था। कविताएं लिखने की प्रवृत्ति इस कदर बढ़ती चली जा रही थी कि घर पर भी पढ़ाई नियमित रूप से नहीं हो पाती थी। इसलिये तेरह वर्ष की अवस्था में रवीन्द्रनाथ को सेन्ट जेवियर्स स्कूल में भरती करा दिया गया वहाँ भी किशोर कवि का जी नहीं लग पाता था। स्कूली जीवन का बंधन उन्हें चिर-दिन प्राणघाती लगता रहा। कुछ ही समय बाद (मार्च १८७५ में) उनकी माता सारदा देवी की मृत्यु हो गयी। तब से मातृहीन बालक को अंतःपुर में महिलाओं

द्वारा विशेष स्नेह और दुलार प्राप्त होने लगा और जब उन्होंने स्कूल न जाने का हठ किया तब कोई कुछ न बोला।

पर विद्यालय में न पढ़ने पर भी घर में साहित्य-साधना में किसी तरह की कोई कमी नहीं आने पायी। इसी समय 'प्रकृति का खेद' शीर्षक एक कविता उन्होंने लिखी जो 'तत्त्वबोधिनी पत्रिका' में "एक बालक कवि की रचना"—इस सूचना के साथ गुमनाम से प्रकाशित हुई। और भी बहुत-सी कविताएँ इस बीच उन्होंने लिखीं, पर किसी के नीचे अपना नाम नहीं दिया।

'श्रीरवीन्द्रनाथ ठाकुर' इस हस्ताक्षर के साथ जो सबसे पहली कविता प्रकाशित हुई उसका शीर्षक था 'हिन्दू मेले का उपहार'। 'हिंदू मेला' उस युग की प्रमुख स्वदेशी संस्था थी। उन दिनों प्राचीन हिंदू संस्कृति का गौरव नष्ट होते और ईसाई धर्म तथा सभ्यता का देश में अधिकाधिक प्रचार होते देखकर ठाकुर-परिवार में (और फलतः बंगाल में) स्वदेशी आंदोलन और राष्ट्रीय भावना जोर पकड़ने लगी थी।'हिंदू मेला' की स्थापना १८६७ में इसी भावना को कार्यान्वित करने के उद्देश्य से हुई थी। राजनारायण बसु की प्रेरणा और ठाकुर-परिवार के आर्थिक तथा बौद्धिक सहयोग के फलस्वरूप यह 'मेला' काफी लोकप्रिय हो उठा। इसका उद्देश्य था राष्ट्रीय स्वावलंबन, स्वदेशी शिल्प की उन्नति, भारतीय साहित्य और संगीत का विकास, कुश्ती, कबड्डी आदि भारतीय खेलों को उत्साह प्रदान, आदि-आदि। इस आंदोलन के प्रचार के उद्देश्य से और ठाकुर-परिवार के सहयोग से 'नेशनल पेपर' नामक एक अँगरेजी साप्ताहिक भी निकाला गया।

'हिंदू मेला' की स्थापना के समय रवीन्द्रनाथ की आयु केवल पाँच वर्ष की थी। उस छोटी अवस्था से ही राष्ट्रीय जागरण और स्वजातीय पुनरुत्थान के उत्साहजनक वातावरण में उनका पालन-पोषण हुआ था। इसलिये जब मेले के नवम अधिवेशन के अवसर पर किशोर कवि के निकट समय के उपयुक्त एक कविता रचकर पाठ करने का आदेश बड़ों की ओर से आया, तब उन्होंने बड़े ही उत्साह से एक लंबी-सी राष्ट्रीय कविता रच

डाली। इस कविता की प्रेरणा रवीन्द्रनाथ को उस युग के प्रभावशाली कवि हेमचंद्र वंद्योपाध्याय की सुप्रसिद्ध 'भारत-संगीत' शीर्षक कविता से प्राप्त हुई थी। वही छंद, वही बंध और वही द्वन्द्व उसमें पाया जाता है। 'हिमगिरि के उत्तुंग शिखर' के एक शिलासन पर बैठकर व्यास मुनि भारत की दीनता से विह्वल होकर वीणा में झंकार भरते हुए गाते हैं: "हाय अभागे भारत! तू क्यों फिर हँसने का उपक्रम कर रहा है? आज के युग के घोर दुःख के दिनों में भी क्या हँसने की कोई बात रह गयी है? × × × क्या भारत-कंकाल अब कभी फिर से नूतन जीवन प्राप्त कर सकेगा? भारत के भस्म से क्या फिर आग जलायी जा सकेगी? क्या फिर से नवज्योति जगमगा सकेगी?" यह कविता तत्कालीन द्विभाषिक (बंगला और अंग्रेजी) 'अमृत बाजार पत्रिका' में छपी थी।

उस युग में केवल रवीन्द्रनाथ ही नहीं, ठाकुर-परिवार के प्रायः सभी सुशिक्षित व्यक्ति 'स्वदेशी कविता' लिखने की तीव्र प्रेरणा का अनुभव कर रहे थे। ठाकुर-परिवार में राष्ट्रीय जागरण संबंधी कविताओं की बाढ़-सी आ गयी थी। सत्येन्द्रनाथ, द्विजेन्द्रनाथ, गणेन्द्रनाथ आदि सभी राष्ट्रीय भावना से ओत-प्रोत कविताएँ बड़े उत्साह के साथ लिखते चले जा रहे थे।

उन दिनों विख्यात राजनीतिक नेता सुरेन्द्रनाथ बनर्जी (जो बाद में सर सुरेन्द्रनाथ बनकर क्रांतिकारी राष्ट्रीय आंन्दोलन के विरोधी हो उठे थे) युवकोचित उत्साह के साथ इटली के स्वतंत्रता-आन्दोलन के आचार्य मेत्सिनी के शिष्य थे। मेत्सिनी के क्रांतिकारी विचारों का प्रचार सुरेन्द्रनाथ विविध रूपों में कर रहे थे। 'आर्यदर्शन' पत्रिका में उनकी प्रेरणा से मेत्सिनी की जीवनी धारावाहिक रूप से प्रकाशित हो चुकी थी। स्वयं सुरेन्द्रनाथ अपने भाषणों में बार-बार मेत्सिनी के आदर्श की ओर बंगाली युवकों का ध्यान आकर्षित करते रहते थे। प्रसिद्ध राष्ट्रीय नेता स्वर्गीय विपिनचन्द्र पाल ने आत्मजीवनी में लिखा था: "सुरेन्द्रनाथ के मेत्सिनी संबंधित भाषणों से प्रभावित होकर हम लोग भारत को स्वतंत्र करने के उद्देश्य से एक गुप्त समिति की स्थापना में जुट गये। उन दिनों एक ऐसी समिति की

स्थापना हुई थी, जिसके सदस्य तलवार की नोंक द्वारा अपनी छाती से रक्त निकालते थे और उस रक्त द्वारा प्रतिज्ञा-पत्र पर हस्ताक्षर करते थे।"

रवीन्द्रनाथ के मझले भैया ज्योतिरिन्द्रनाथ तथा उनके साथ कुछ युवकों ने मेत्सिनी की क्रांतिकारी गुप्त समिति के अनुकरण में कालेज स्क्वायर के पास एक बहुत ही पुराने और जर्जर मकान में 'संजीवनी सभा' नाम से एक गुप्त समिति की स्थापना की थी। जिस दिन कोई नया सदस्य उस सभा में दीक्षित होता उस दिन अध्यक्ष को लाल कपड़े पहन कर जाना होता था। समिति का यह निश्चित नियम था कि समिति की सारी कार्रवाई एकदम गुप्त रहेगी और किसी भी सदस्य को यह अधिकार नहीं था कि अपने किसी घनिष्ठतम मित्र के आगे भी कार्रवाई को प्रकट करे।

लाल रेशम में मढ़ी हुई वैदिक मंत्रों की एक पुस्तक समिति में सजाकर रख दी जाती थी। समिति की कार्रवाई आरंभ होने के पूर्व मेज की दोनों ओर दो मृतकों की खोपड़ियाँ रख दी जाती थीं और प्रत्येक खोपड़ी की दोनों आँखों के कोटरों में मोमबत्तियाँ जला दी जाती थीं। मृतक की खोपड़ी ब्रिटिश-राज-पदानत मृत भारत का प्रतीक थी और मोमबत्तियाँ ज्ञान-ज्योति को फिर नये सिरे से उद्दीपित करने के संकल्प की प्रतीक थीं। समिति का कार्य आरंभ होने के पहले यह वेदमंत्र समस्वर से गाया जाता था: 'संगच्छध्वं संवदध्वं सं वो मनांसि जानताम्।"सभा की कार्रवाई आरंभ होने पर उसका विवरण ज्योतिरिन्द्रनाथ द्वारा आविष्कृत एक गुप्त भाषा में लिखा जाता था। इस सांकेतिक भाषा में 'संजीवनी सभा' को 'ह्रांचू पामू ह्राफ' कहा जाता था।

किशोर-वयस्क रवीन्द्रनाथ भी इस गुप्त-समिति के सदस्य थे। अपनी 'जीवन-स्मृति' में वह लिखते हैं: "मेरे समान अर्वाचीन भी इस सभा के सदस्य थे। उस सभा में हम लोग एक ऐसी विचित्र खामखयाली की गरम हवा के बीच बहे चले जा रहे थे कि लगता था जैसे उत्साह के पंख पाकर हम लोग निरंतर उड़े चले जा रहे हैं। किसी प्रकार की लज्जा, भय या

संकोच का लेशमात्र अनुभव हम लोग नहीं करते थे। इस सभा में हम लोगों का प्रधान कार्य था निरंतर उत्तेजना की आग जुटाते रहना।"

जब चौदह-पन्द्रह वर्षीय किशोर कवि रवीन्द्रनाथ इस गुप्त समिति के सदस्य थे तब उन्होंने दिल्ली दरबार संबंधी एक कविता लिखी। इस संबंध में उन्होंने 'जीवन-स्मृति' में स्वयं लिखा है: "लार्ड कर्जन के समय दिल्ली दरबार के संबंध में मैंने एक गद्य-प्रबंध लिखा था, पर लार्ड लिटन के समय लिखा था, पद्य में। उस युग की अँगरेज सरकार केवल रूस से ही भयभीत थी, चौदह-पन्द्रह साल के बालक कवि का कोई भय उसे नहीं था।"

वह कविता किसी पत्रिका या संग्रह में प्रकाशित नहीं हुई। कवि ने स्वयं उस कविता के प्रतिपाद्य विषय का वर्णन करते हुए लिखा है कि प्राचीन काल म जब भारतीय सम्राटगण राजसूयादि यज्ञ करते थे, तब देश की क्या स्थिति थी और आज दिल्ली के समारोह में भाग लेने के लिये जो राजा-महाराजा इकट्ठा हो रहे हैं उसका स्वरूप क्या है? संक्षेप में हम क्या थे और क्या हो गये इस बात का दु:खोद्गार उस कविता द्वारा प्रकट हुआ था।

इस लुप्त कविता का पुनरुद्धार बहुत दिनों बाद ज्योतिरिन्द्रनाथ के 'स्वप्नमयी' नाटक के भीतर से हुआ। ज्योतिरिन्द्रनाथ को नाटक लिखने का बड़ा शौक था। पर वह पद्य तथा गीत आदि लिखने में पटु नहीं थे। इसलिये बीच-बीच में रवीन्द्रनाथ के लिखे हुए पद्यों और गीतों को अपने नाटकों में कवि की इच्छा से यथास्थान बिठा देते थे। दिल्ली दरबार संबंधी उक्त कविता जिस रूप में 'स्वप्नमयी' नाटक में मिली है उसका कुछ अंश नीचे दिया जाता है। इससे पाठकों को कवि की किशोरावस्था की प्रतिभा का तनिक परिचय मिल सकेगा :

किसेर तरे गो भारतेर आजि, सहस्र हृदय उठेछे बाजि?
जत दिन विष करियाछे पान, किछुते जागेनि ए महाश्मशान,

बंधन श्रृंखले करिते सम्मान भारत जागिया उठे छे आजि ?
कुमारिका होते हिमालय-गिरि एक तारे कभू छिलोना गाँथा,
आजिके एकटि चरण-आघाते, समस्त भारत तुलेछे माथा !
हारे हतभाग्य भारत-भूमि, कंठे एइ घोर कलंके हार
परिबारे आजि करि अलंकार गौरवे मातिया उठेछे सबे !

× × × ×

"आज भारत के सहस्र-सहस्र हृदय किस कारण से बज उठे हैं ? जितने दिनों तक यह महाश्मशान विषपान करता रहा, तब तक किसी तरह भी नहीं जग सका, और आज बंधन-श्रृंखला के प्रति सम्मान प्रदर्शित करने के लिये वह जग उठा ? कुमारिका से हिमगिरि पर्यंत यह देश कभी एक तार में न बँध सका, पर आज केवल एक चरण-आघात से समस्त देश सिर ऊँचा करके खड़ा हो गया ! ××× हाय हतभाग्य भारतभूमि ! अपने गले में इस घोर कलंक के हार को अलंकार बनाकर पहनने के लिये सब लोग गौरव का अनुभव करते हुए मतवाले हो उठे हैं !"

वह कविता उस समय लिखी गयी थी जब देशव्यापी दुर्भिक्ष के प्रति एकदम उदासीन होकर लार्ड लिटन ने (१ जनवरी १८७७ को) दिल्ली में बड़े समारोह से दरबार किया था और उसमें भाग लेने के लिये हिमालय से लेकर कन्याकुमारी तक के जीहुजूरों का दल अत्यंत लज्जाजनक रूप से उत्साह प्रदर्शित करता हुआ एकत्रित हुआ था।

लार्ड लिटन के तानाशाही शासन का विरोध उन दिनों देशी पत्र बड़ी तीव्रता के साथ कर रहे थे। इसलिये लार्ड लिटन ने सबका मुँह बंद करने के उद्देश्य से 'वर्नाक्यूलर प्रेस ऐक्ट' जारी किया। इस काले कानून के चक्कर में पड़ने से कई प्रमुख पत्र-पत्रिकाएँ बंद हो गयीं। बंगाल में 'सोमप्रकाश', 'साधारणी', 'नवविभाकर', आदि पत्रों ने इस बात के विरोध में पत्र निकालना बंद कर दिया कि देशी पत्रों से राजनीतिक विषयों पर मतामत व्यक्त करने की स्वतंत्रता छीन ली गयी है। 'अमृतबाजार पत्रिका' ने रात ही रात

अपना दुभाषिया रूप बदल दिया और बंगला कलेवर एकदम त्यागकर पूर्णतः अँगरेजी में उसका प्रकाशन होने लगा, क्योंकि नया कानून केवल देशी भाषाओं के पत्रों पर लागू होता था, अँगरेजी पत्रों पर नहीं। राजद्रोह संबंधी कानून पहले ही जारी हो चुका था। उस कानून के पंजे से बचने के लिये कवि हेमचंद्र ने अपनी सुप्रसिद्ध 'भारत-संगीत' शीर्षक कविता में एक महाराष्ट्रीय युवक के मुँह से विद्रोह की वाणी घोषित करायी। कवि नवीन-चंद्र सेन ने इसी कारण अपने सुप्रसिद्ध काव्य 'पलाशीर युद्ध' में परोक्ष रूप से, विभिन्न पात्रों के मुखों से उच्छ्‌वसित उद्‌गार व्यक्त कराये। रवीन्द्रनाथ की उक्त कविता भी जो किसी सामयिक पत्र में प्रकाशित नहीं हो पायी और ज्योतिरिन्द्रनाथ के नाटक के भीतर शरण लेने को बाध्य हुई, उसका भी कारण यही कानून था।

इसके पहले बालक-कवि रवीन्द्रनाथ 'वनफूल' नामक एक आख्यायिका-काव्य लिख चुके थे। तब उनकी आयु तेरह वर्ष सात मास थी। यह काव्य 'ज्ञानांकुर और प्रतिबिंब' नामक एक छोटे से मासिक पत्र में छपा था। एक विचित्र ढंग की रोमांटिक कथा इस काव्य में वर्णित है, जिसमें एक निर्जन कुटिया में पाली-पोसी गयी भोली लड़की के प्रति प्रेम के कारण एक मित्र दूसरे मित्र की निर्मम हत्या करता है। स्पष्ट है कि तेरह वर्षीय कवि को इस तरह की हत्यामूलक प्रेम-कथा के वर्णन की प्रेरणा अपने अंतर से नहीं मिल सकती। उन दिनों अँगरेजी आख्यायिका काव्यों की ओर बंगाल के नाट्य लेखकों का झुकाव बढ़ रहा था और 'वनफूल' के पूर्व अक्षयचंद्र चौधरी का एक आख्यायिका काव्य ('उदासिनी') प्रसिद्धि पा चुका था। उसी से बालक-कवि को प्रेरणा मिली। पर एक गूढ़ मनोवैज्ञानिक कारण भी निश्चय ही कवि के किशोर-हृदय में निहित रहा होगा, जिससे अपने अज्ञात में वह इस तरह का रोमांटिक काव्य लिखने की ओर प्रवृत्त हुआ।

'भारती' युग

रवीन्द्रनाथ की साहित्य-साधना के प्राथमिक युग का निश्चित और वास्तविक प्रवर्तन हुआ 'भारती' नाम की साहित्यिक पत्रिका का प्रकाशन आरंभ होने के समय से। यह रवीन्द्रनाथ का बहुत बड़ा सौभाग्य था कि अपनी साहित्यिक प्रतिभा के उन्मेष के युग में ही उनके हाथ में एक ऐसी पत्रिका आ गयी, जिसमें प्रारंभ से ही विविध दिशाओं में साहित्यिक प्रयोग करने की खुली छूट उन्हें मिल गयी। उन दिनों बंगला में साहित्यिक पत्र-पत्रिकाओं की बहुत कमी थी। राजनीतिक विषयों में ही जनता की दिलचस्पी अधिक थी। बंकिमचंद्र के 'वंग दर्शन' ने अवश्य एक समुन्नत और सर्वांगीण साहित्यिक आदर्श जनता के आगे रखा था और बालक रवीन्द्रनाथ उसमें प्रकाशित होने वाली विविध-विषयक साहित्यिक रचनाओं से निरंतर प्रेरणा प्राप्त करते रहते थे। चार वर्ष तक साहित्यिक क्षेत्र में धूम मचाकर वह बंद हो गया था। दो वर्ष बाद (१८७६ में) बंकिम के भाई संजीवचंद्र चट्टोपाध्याय के संपादन में फिर से उसका प्रकाशन आरंभ हुआ। उसी वर्ष ज्योतिरिन्द्रनाथ ठाकुर ने अपने घर में एक साहित्यिक पत्रिका निकालने का प्रस्ताव किया। सबसे बड़े भाई द्विजेन्द्रनाथ ठाकुर ने उसका नाम 'सुप्रभात' रखने का प्रस्ताव किया, पर ज्योतिरिन्द्रनाथ और रवीन्द्रनाथ उसका 'भारती' नाम रखने के पक्ष में थे। अंत में 'भारती' नाम ही बहुमत से स्वीकृत हुआ।

यहाँ पर इस तथ्य की ओर पाठकों का ध्यान आकर्षित करने की आवश्यकता है कि सभी भाइयों में से सबसे अधिक ज्योतिरिन्द्रनाथ से रवीन्द्रनाथ की पटती थी। दोनों भाइयों में बड़ी ही घनिष्ठता और प्रगाढ़ सौहार्द

था। ज्योतिरिन्द्रनाथ यद्यपि कवि से प्रायः आठ वर्ष बड़े थे, तथापि वह अपने कनिष्ठ भाई से समवयसी की तरह ही बर्ताव रखते थे। दोनों भाइयों में बड़ी घुटती थी। साहित्य, जीवन तथा जगत् के संबंध में दोनों के बीच अकुंठित रूप से, खुलकर बातें होती थीं, और वाद-विवाद होता रहता था। रवीन्द्रनाथ ने अपनी 'जीवन-स्मृति' में लिखा है कि 'ज्योति दादा' ने बालक-कवि के स्वतंत्र विचारों और प्रवृत्तियों में किसी प्रकार का अनुचित नियंत्रण डालने का प्रयत्न कभी नहीं किया। वह अपने कवि-भाई की प्रतिभा के सहज और स्वाभाविक विकास के पक्षपाती थे। घर-भर में वही एकमात्र ऐसे व्यक्ति थे जो स्कूली जीवन से बालक रवीन्द्रनाथ की चिढ़ से दुखी नहीं थे, और न इस कारण से उन्हें निकम्मा समझते थे। रवीन्द्रनाथ की विराट प्रतिभा के जो विविध रूप भविष्य में आश्चर्यजनक रूप से विकसित होकर संसार को चकित करनेवाले सिद्ध हुए उनका पूर्वाभास जैसे ज्योतिरिन्द्र-नाथ को बहुत पहले ही मिल चुका था। इसलिये 'भारती' नाम की साहित्यिक पत्रिका को निकालते समय उनके मन में इस बात का ध्यान विशेष रूप से था कि उसके माध्यम से रवीन्द्रनाथ को सर्वांगीण साहित्य-साधना का पूर्ण सुयोग प्राप्त हो सकेगा।

ज्योतिरिन्द्रनाथ स्वयं भी प्रतिभाशाली थे और उनकी प्रतिभा भी ठाकुर-परिवार की परंपरा में पले हुए अधिकांश व्यक्तियों की तरह बहुमुखी थी। नवयौवनावस्था से ही वह राष्ट्र के राजनीतिक, सामाजिक और सांस्कृतिक जागरण संबंधी आंदोलनों में प्रमुख भाग लेते रहे और प्रत्येक आंदोलन को पुष्ट करने के उद्देश्य से इस बात के लिये बराबर प्रयत्नशील रहे कि उसे ठाकुर-परिवार से आर्थिक सहायता प्राप्त हो। वह भारत में स्वदेशी आंदोलन के प्रथम प्रवर्तक और अग्रदूत थे। देशी वस्त्र और देशी दियासलाई के कारखाने खोलने का उद्यम सबसे पहले उन्हींने आरंभ किया था। देशी स्टीमर कंपनी खोले जाने की आवश्यकता के जिस महत्त्व को हमारे बहुत-से नेता तक स्वतंत्रता के पूर्व नहीं समझ पाये थे उसे ज्योतिरिन्द्रनाथ प्रायः अस्सी बरस पहले समझ चुके थे। उन्होंने

स्वयं अपने उद्योग से एक स्वदेशी स्टीमर कंपनी खोली थी। पर उस समय इन सब महत्त्वपूर्ण उद्योगों में उन्हें सहयोग देनेवाले लोग नहीं के बराबर थे। फल यह हुआ कि महज उद्देश्य से प्रेरित उनकी सभी आर्थिक योजनाएँ एक-एक करके असफल सिद्ध होती चली गयीं और वह आर्थिक दृष्टि से प्रायः दीवालिया हो उठे।

जैसा कि पहले निर्देशित किया जा चुका है, साहित्य-रचना की ओर भी ज्योतिरिन्द्रनाथ का झुकाव था। केवल झुकाव ही नहीं था, उन्होंने कई नाटक रचे भी थे, जिनके लिये रवीन्द्रनाथ ने कई गीत लिखे थे। बंगीय रंगमंच की प्रगति की ओर भी उनका ध्यान था। बंगाल के रंगमंच को सुंदर, समुन्नत और सुसांस्कृतिक रूप देने में ठाकुर-परिवार का और विशेषकर ज्योतिरिन्द्रनाथ का——बहुत बड़ा हाथ रहा है। भारतीय संगीत की पुरानी शैली में परिष्करण और प्राच्य तथा पाश्चात्य संगीत के समन्वय द्वारा एक नयी शैली का जो उद्भावन बाद में रवीन्द्रनाथ ने किया उसकी प्रेरणा बहुत कुछ अंश में उन्हें ज्योतिरिन्द्रनाथ से ही मिली थी। इस प्रकार ठाकुर-परिवार को बंगाल की——और परोक्ष रूप से समग्र भारत की——राष्ट्रीय, सामाजिक और सांस्कृतिक प्रगति का केन्द्र बनाने का श्रेय प्रमुख रूप से ज्योतिरिन्द्रनाथ को ही है।

जुलाई १८७८ (तदनुसार बंगाब्द १२८४, श्रावण) को 'भारती' का प्रथम अंक सबसे बड़े भाई द्विजेन्द्रनाथ के संपादकत्व में प्रकाशित हुआ, तब रवीन्द्रनाथ सोलह वर्ष के थे। द्विजेन्द्रनाथ बहुत उच्चकोटि के दार्शनिक थे, पर न तो वह एक साहित्यिक पत्र के संपादक की कला में ही पारंगत थे और न उसके अनुरूप उद्यम कर सकने में ही समर्थ थे। फलतः नयी पत्रिका के संपादन का वास्तविक भार सोलह वर्षीय किशोर कवि रवीन्द्रनाथ पर पड़ा, जिसे उन्होंने सहर्ष स्वीकार किया। 'भारती' के लिये उपयुक्त और वैविध्यपूर्ण रचनाओं को जुटाने के लिये रवीन्द्रनाथ को कलकत्ते के प्रमुख साहित्यकारों से मिलना पड़ता था। सभी प्रौढ़ साहित्यकार इस तेजस्वी और प्रतिभाशाली तरुण कवि से मिलकर प्रसन्न होते थे और

रवीन्द्रनाथ की तो बहुत दिनों की अभिलाषा पूरी होती चली जा रही थी।

सयाने और प्रतिष्ठित कवियों तथा साहित्यकारों से मिलने की आकांक्षा रवीन्द्रनाथ के मन में छुटपन से ही थी। जिस दिन उन्होंने हिन्दू मेले में दिल्ली दरबार संबंधी राष्ट्रीय कविता श्रोताओं को पढ़कर सुनायी थी उस दिन श्रोताओं में उस युग के प्रतिष्ठित कवि नवीनचंद्र सेन ('पलाशिर युद्ध' के विख्यात रचयिता) भी थे। अपनी 'जीवन-स्मृति' में रवीन्द्रनाथ ने इस बात का उल्लेख गर्व के साथ किया है। उसी दिन नवीनचंद्र से व्यक्तिगत रूप से परिचित होने की आकांक्षा किशोर-कवि के मन में जगी और उन्होंने नवीन सेन से परिचित अपने एक बंधु के आगे अपनी यह इच्छा प्रकट की। उस समय नवीन सेन पूर्ण युवा थे। उनका व्यक्तित्व बड़ा प्रभावशाली था, जिसके कारण लोग उन्हें बंगाल का बायरन कहा करते थे। नवीनचंद्र ने अपनी आत्मजीवनी में किशोर-कवि से इस प्रथम मिलन की घटना का वर्णन इस प्रकार किया है:

"मुझे याद आता है सन् १८७६ में मैं छुट्टियों में कलकत्ते गया हुआ था और कलकत्ते के मुफस्सिल के किसी बाग में नेशनल मेला देखने गया हुआ था। एक सद्य-परिचित बंधु भीड़ के बीच में से होकर मेरे पास आये और बोले कि एक व्यक्ति मुझसे परिचित होना चाहते हैं। वह मेरा हाथ पकड़कर मुझे बाग के एक कोने में एक बहुत बड़े पेड़ के नीचे ले गये। वहाँ जाकर मैंने देखा, एक सादा, ढीला अचकन व पायजामा पहने हुए एक सुंदर नवयुवक खड़े थे। उनका व्यक्तित्व अत्यंत शांत और स्थिर दिखायी देता था। जैसे पेड़ के नीचे कोई सजीव स्वर्ण-मूर्ति खड़ी कर दी गयी हो। बंधु ने परिचय देते हुए कहा : 'यह महर्षि देवेन्द्रनाथ ठाकुर के कनिष्ठ पुत्र रवीन्द्रनाथ हैं।' उनके ज्येष्ठ भ्राता ज्योतिरिन्द्रनाथ कालेज में मेरे सहपाठी रह चुके थे। मैंने देखा, उनका भी वैसा ही रूप था और वैसी ही पोशाक भी। प्रसन्न भाव से कर-मर्दन कार्य समाप्त होने पर उन्होंने अपनी जेब से एक नोटबुक निकाली और कुछ गीत सुनाये और कुछ कविताएँ भी गाकर

सुनायीं। किसी महिलाकंठ से भी अधिक मीठा और सुरीला था उनका गला और कविता का माधुर्य तो मुग्धकर था ही। उनकी स्फुटनोन्मुख प्रतिभा का परिचय पाकर मैं अत्यंत प्रभावित हुआ। उसके दो-एक दिन बाद अक्षयचंद्र सरकार महाशय मुझे निमंत्रित करके अपने चुंचुड़ा वाले मकान में ले गये। मैंने उन्हें बताया कि 'नेशनल मेले में मैंने एक अपूर्व नवयुवक के गीत और कविताएँ सुनी हैं, और मुझे विश्वास हो गया है कि एक दिन वह प्रतिभासंपन्न कवि और गायक सिद्ध होंगे।' अक्षय बाबू बोले : 'कौन? रवि ठाकुर? वह ठाकुर-भवन का खट्टा-मीठा आम है।' उसके बाद १६ बरस बीत चुके हैं। आज सन् १८९३ है। मेरी भविष्यवाणी सच निकली है।"

पर सच पूछा जाय तो नवीनचंद्र और हेमचन्द्र, इन दो प्रतिष्ठित राष्ट्रीय कवियों की अपेक्षा तरुण रवीन्द्रनाथ के अन्तर्मन का झुकाव प्रकृति-बिहारी कवि बिहारीलाल चक्रवर्त्ती की ओर अधिक था। बिहारीलाल की कविताओं में प्रकृति-प्रेम सौ-सौ उच्छ्वसित रस-धाराओं में बरसा करता था। उस युग के दूसरे कवियों की कविता में इस 'प्राकृतिक रस' का नितांत अभाव रवीन्द्रनाथ को दिखायी देता था। इसलिये वह मन-ही-मन सबसे अधिक बिहारीलाल के ही प्रशंसक थे। यह बात ध्यान में रखने योग्य है कि तत्कालीन साहित्य-क्षेत्र में बिहारीलाल की प्रतिष्ठा नवीनचंद्र, हेम-चंद्र आदि की तुलना में नगण्य थी। जब 'भारती' के लिये रचना मांगने के सिलसिले में अपने इस प्रिय कवि से रवीन्द्रनाथ का प्रथम बार व्यक्ति-गत परिचय हुआ तब वह अत्यंत गद्गद् भाव से उनकी ओर देखते रह गये। उस समय बिहारीलाल कविता रचना में तन्मय थे।

बिहारीलाल के प्रेमी केवल रवीन्द्रनाथ ही नहीं थे, बल्कि ठाकुर परिवार के सभी लोग उनके प्रति श्रद्धा की भावना रखते थे। ज्योतिरिन्द्र-नाथ की पत्नी कादंबरी देवी उन्हें अत्यंत आदर से अपने यहाँ निमंत्रित करके भोजन कराती थीं। कादंबरी देवी अपने देवर के प्रति विशेष स्नेह-भाव रखती थीं और अपने मन की इस आशा को बीच-बीच में रवीन्द्र-

नाथ के आगे प्रकट भी कर दिया करती थीं कि एक दिन वह भी बिहारीलाल की तरह सुंदर कविताएँ लिख सकेंगे। पर रवीन्द्रनाथ के मन में तब तक इस हद तक आत्म-विश्वास नहीं जगा था। वह बिहारीलाल का स्थान बहुत ही ऊँचा मानते थे और उस तक पहुँचना एवरेस्ट की चोटी तक पहुँचने के बराबर कठिन समझते थे। फिर भी आत्म-विश्वास की तत्कालीन कमी से उनकी उच्चाकांक्षा में कभी एक क्षण के लिये भी ढिलाई नहीं आयी।

मेरा तो विश्वास यह है कि बिहारीलाल के प्रति रवीन्द्रनाथ की व्यक्तिगत रुचि का ही अज्ञात प्रभाव ठाकुर-परिवार पर पड़ा था। और बिहारीलाल की प्रतिभा की विशेषता की ओर उस इतिवृत्तात्मक युग में सबसे पहले उन्हीं का ध्यान गया था। रवीन्द्र-प्रतिभा की विशिष्टता का यह एक महत्त्वपूर्ण निदर्शन है। युग के किस उपेक्षित बीज को आगे चलकर व्यापक रूप से विकसित किया जा सकता है, इसकी खोज केवल रवीन्द्रनाथ की पैनी और तीव्र अनुभूतिशील दृष्टि ही कर सकती थी। बिहारीलाल की कविता की विशेषता को विशद रूप से समझाने का अवसर यह नहीं है। यहाँ पर केवल इतना ही संकेत पर्याप्त होगा कि बिहारीलाल की स्थिति और स्थान उनके युग के बंग-साहित्य-क्षेत्र में प्रायः वही था जैसा द्विवेदी युग में मुकुटधर पांडेय का।

बात चल रही थी 'भारती' पत्रिका के संबंध में। इस पत्रिका के प्रकाशन से रवीन्द्रनाथ के साहित्यिक जीवन के सर्वप्रथम महत्त्वपूर्ण पर्व का आरंभ हुआ। उसके द्वारा केवल उस युग के बड़े-बड़े लेखकों और कवियों के ही निकट संपर्क में वह नहीं आये, बल्कि उन्हें स्वयं भी अपनी विविध विषयक रचनाओं को बिना किसी रोक-टोक के छापने की पूरी सुविधा प्राप्त हो गयी। इस सुयोग से उन्होंने पूरा लाभ उठाया। उन्होंने विविध छद्मनामों से तथा स्वयं अपने नाम से भी अपनी गद्य और पद्यमयी रचनाओं द्वारा 'भारती' के कालम के कालम भरना आरंभ कर दिया। नियमित रूप से स्कूली शिक्षा न पाने पर भी उन्होंने घर पर शिक्षकों की सहायता से तथा अपने निजी प्रयत्न से उस छोटी उम्र में ही साहित्यिक, वैज्ञानिक, ऐतिहासिक,

धार्मिक, राजनीतिक आदि विविध विषयों का जो आश्चर्यजनक ज्ञान प्राप्त किया था और अपने मन की निराली अनुभूति से उस ज्ञान का समन्वय एक विशेष ढंग से करने में जो सफलता पायी थी, उसका बहुविध प्रदर्शन करने का स्वर्ण सुयोग उन्हें प्राप्त हो गया था। उनकी अविकसित प्रतिभा के भीतर युग-विद्रोह के जो विस्फोटक बीज छिपे और दबे हुए थे वे अवसर पाकर 'भारती' में निरंतर प्रकाशित होती रहनेवाली उनकी गद्य रचनाओं और पूर्णतः नयी शैली की कविताओं के रूप में सुपरिस्फुट और विकसित होते चले गये।

उनकी विद्रोही और विस्फोटक प्रतिभा का सबसे पहला नमूना उस युग के साहित्यकारों और साहित्य-प्रेमी पाठकों को मिला उनके साहित्य-समालोचना संबंधी निबंधों द्वारा। इसके पहले वह 'ज्ञानांकुर' नामक एक छोटे से पत्र में अपनी आलोचनात्मक शक्ति की थोड़ी-बहुत परख कर चुके थे। इस बार 'भारती' के पहले ही अंक में उनके उस परखे हुए और सान पर चढ़े अस्त्र का शिकार हुआ उस युग का सर्वसम्मति से सर्वश्रेष्ठ काव्य 'मेघनादवध'। माइकेल मधुसूदनदत्त रचित इस सुप्रसिद्ध काव्य की भूरि-भूरि प्रशंसा उस समय के सभी साहित्यालोचक और कवि एक स्वर से कर चुके थे। उसके संबंध में कहीं किसी कोने से एक भी विरोधी स्वर संकेत-रूप से भी नहीं उठा था। इसलिये जब पहली बार, सहसा बिना किसी पूर्व सूचना के, एक सोलह-वर्षीय, प्रतिभाशाली कवि की लेखनी ने उस सुदृढ़ रूप से प्रतिष्ठित और 'अमर' माने जानेवाले काव्य पर सुतीक्ष्ण खड्ग की तरह निर्मम आघात करने का 'दुस्साहस' किया तो साहित्य-क्षेत्र में सनसनी फैल गयी।

किशोर समालोचक ने केवल खड्ग से ही नहीं, अपने अस्त्रागार में सुरक्षित विभिन्न अस्त्रों के प्रयोग से मेघनाद की ही तरह शक्तिशाली उस महाकाव्य को ध्वस्त करने का संकल्प कर लिया था। वह जानते थे कि एक-आध अस्त्र के प्रयोग का कोई विशेष प्रभाव उस पर नहीं पड़ेगा। इसलिये उन्होंने रामायण-महाभारत से लेकर ईलियड और ओडीसी तक,

शेक्सपीयर से लेकर एडिसन तक, साहित्य-दर्पण से लेकर पाश्चात्य काव्य-शास्त्र तक, ग्राम्य और स्वभाव-कवियों के उद्धरण से लेकर 'कविवाला' हरि ठाकुर की रचनाओं के निदर्शन तक सभी प्रकार के साहित्यिक अस्त्रों का प्रयोग 'मेघनादवध' काव्य के बध के लिये किया।

तरुण समालोचक ने बताया कि 'मेघनादवध' अस्वाभाविकता के दोष से स्थान-स्थान में दुष्ट है। उदाहरण के लिये वीरबाहु के बध के संवाद से रावण और उसके सारे सभासदों की रोआरोटी का वर्णन अत्यंत अशोभन है। किसी भी वीर का इस प्रकार रोना व्यक्तिगत जीवन में जिस प्रकार असुन्दर है उसी प्रकार काव्य में भी निन्दनीय है। इस संबंध में उन्होंने शेक्सपीयर के एक नाटक तथा दूसरे लेखकों की रचनाओं से दृष्टांत उपस्थित करते हुए यह दिखाया कि धीरोदात्त नायकगण किस प्रकार पुत्रशोक के अवसर पर भी आत्म-संयम का प्रदर्शन करते हैं। इसके बाद 'साहित्य-दर्पण' तथा दूसरे ग्रंथों के विभिन्न सिद्धांतों और दृष्टांतों की सहायता से नवीन समालोचक ने दिखाया कि पद-पद पर 'मेघनादवध' में काव्यगत कितने दोष भरे पड़े हैं। अपने कथन के समर्थन में उन्होंने अनेक देशी और विदेशी कवियों की रचनाओं से उद्धरण उपस्थित किये। इस प्रकार उन्होंने एकमत से सर्वोच्च माने गये काव्य की धज्जियाँ उड़ा डालीं। कुछ समय बाद एक दूसरे निबंध में किशोर कवि ने लिखा कि माइकेल के काव्य में मौलिकता का लेश भी नहीं है। होमर के ईलियड की नकल में, उसी शैली में सरस्वती बंदना से काव्य का आरंभ हुआ है। होमर की ही तरह उन्होंने वीर रस का प्रयोग किया है। यहाँ तक कि नरक का वर्णन अप्रासंगिक होने पर भी केवल होमर का अनुसरण करने के लिये उन्होंने अपने काव्य में भी उस विषय की अवतारणा की है।

'मेघनादवध' के विरुद्ध नवयुवक रवीन्द्रनाथ के इस तीव्र आक्रोश का कारण कुछ तो मनोवैज्ञानिक था और कुछ था उनकी दूरदर्शी प्रतिभा की आश्चर्यजनक रूप से पैनी दृष्टि। पहले ही कहा जा चुका है कि इस तरह के वीर-रसात्मक और इतिवृत्तात्मक काव्यों के प्रति उनके मन में स्वाभाविक

अरुचि थी। उनके भीतर कविता के जो विविध, स्वस्थ, सुंदर और गहन रहस्यात्मक बीज वर्तमान थे उनके पनपने के लिये एक बिलकुल ही नये ढंग की जमीन की ज़रूरत थी। पुरानी घिसी-घिसायी और अनुर्वर जमीन के रहते वह नयी जमीन तैयार नहीं हो सकती थी। अपने अंतर्मन में किशोर कवि को इस बात का अनुभव भलीभाँति हो रहा था। इस बात की आश्वयकता थी कि वह जमीन नये ढंग के रोमांटिक रस से सिंचित हो। उस नये रोमान्टिक रस का स्वरूप भी उनकी कल्पना के आगे काफी हद तक स्पष्ट हो चुका था। वीर-रस की तरह ही छिछले ढंग के भावुकता पूर्ण रोमांस को भी वह अपनी काव्य-प्रतिभा के विकास का आधार नहीं बनाना चाहते थे। वह कुछ ज्ञात में और कुछ अज्ञात में एक ऐसी नयी रोमांटिक शैली की खोज में थे जो अपने भीतर युग-युग की स्वस्थ काव्य-धाराओं की विविध शैलियों को समन्वित रूप में समाहित कर सके; जो जीवन और जगत् के सभी कोमल और कठोर, यथार्थवादी और आदर्शात्मक पहलुओं को अपनाते हुए, युग-युग से विकसित समस्त मानवीय ज्ञान-विज्ञान को भाव और रस में परिणत कर सके। काव्य के संबंध में ऐसा गहन और विराट आदर्श और व्यापक दृष्टिकोण रखनेवाले कवि-आलोचक को 'मेघनादवध' की शैली ईमानदारी से किसी भी हालत में पसंद नहीं आ सकती थी। यही कारण था कि वह सारे युग के मतैक्य के विरुद्ध पहली आवाज उठाने का साहस कर सके। यह बात विशेष रूप से ध्यान देने योग्य है कि किसी दुर्बल रचना के विरुद्ध नहीं बल्कि युग की सबसे सबल रचना के विरुद्ध वह खड्गहस्त हुए थे। रवीन्द्रनाथ के जीवन के विकास-क्रम को समझने के लिये उनके स्वभाव के इस पहलू को अच्छी तरह समझने की आवश्यकता है।

केवल उस युग के सर्वश्रेष्ठ कवि की कविता के विरुद्ध ही किशोर-कवि-समालोचक ने आवाज नहीं उठायी थी, बल्कि उस युग के सर्वश्रेष्ठ उपन्यासकार, आलोचक, द्रष्टा और युग-प्रवर्तक बंकिमचंद्र चट्टोपाध्याय का भी विरोध उन्होंने किया था। वैसे बंकिम के प्रति बाल्यकाल से लेकर

वृद्धावस्था तक रवीन्द्रनाथ की श्रद्धा अटूट रही। पर एक नयी जमीन तैयार करके उस पर नये, अधिक स्वस्थ और अधिक सुंदर फलप्रद बीज बोने का जो ध्येय उनके सामने प्रारंभ ही से था उसकी सफल सिद्धि के मार्ग में जो भी प्रवृत्ति, जो भी महान् व्यक्तित्व आया उसे ठेलकर, लाँघकर आगे बढ़ने के किसी भी प्रयत्न में वह पीछे नहीं हटे।

प्रारंभ ही से रवीन्द्रनाथ की प्रतिभा की गहनता, व्यापकता और वैविध्य का आभास उस युग के साहित्य-निरीक्षकों को 'भारती' के माध्यम से मिलने लगा था। 'भारती' के पहले ही अंक में उनकी विविध-विषयक रचनाएँ विभिन्न नामों से छपने लगी थीं। साहित्य-क्षेत्र में जितनी भी शैलियाँ संभव थीं, सृजनात्मक साहित्य के जितने भी रूप उस युग तक प्रचलित थे, उन सबको परिपूर्ण रचनात्मकता के साथ प्रयुक्त करने की अदम्य आकांक्षा किशोर अवस्था से ही उनमें वर्तमान थी। छोटी कहानी का आरंभ भी उन्होंने 'भारती' के पहले ही अंक में कर दिया था। उस अंक में उनकी 'भिखारिणी' शीर्षक छोटी कहानी छपी थी। उसके पहले बंगला-साहित्य में छोटी कहानी लिखने की ओर किसी भी लेखक का ध्यान नहीं गया था। उनके पहले एकमात्र छोटी कहानी बंकिम के बड़े भाई संजीवचंद्र ने लिखी थी। पर बंगला-साहित्य में छोटी कहानी के वास्तविक प्रवर्तक रवीन्द्रनाथ ही थे।

छोटी कहानी लिखने में अपनी सफलता का परिचय स्वयं पाकर उनका उत्साह बढ़ा और उन्होंने 'करुणा' नाम से एक धारावाहिक उपन्यास 'भारती' में छपाना आरंभ कर दिया। उस युग के विख्यात और प्रतिष्ठित साहित्यालोचक चंद्रनाथ वसु ने उसकी काफी प्रशंसा की थी। पर बाद में स्वयं रवीन्द्रनाथ को वह रचना विशेष पसंद नहीं आयी और उन्होंने उनका पुनर्प्रकाशन बंद करवा दिया।

केवल 'करुणा' ही नहीं, तेरह से अठारह वर्ष तक की आयु में रवीन्द्र-नाथ ने जितने भी काव्य, नाटक, उपन्यास आदि विविध साहित्यिक रचनाएँ लिखीं (जिनकी संख्या काफी थी), उनमें से केवल एक को छोड़कर शेष

सबका पुनर्मुद्रण उन्होंने बाद में बंद करवा दिया था। जो रचना इस संबंध में अपवादस्वरूप रही, वह थी 'भानुसिंह ठाकुरेर पदावली'। यह पदावली कवि की सोलह वर्ष की आयु की रचना है, इसका एक विचित्र, मनोरंजक और रहस्यपूर्ण इतिहास है।

यह पदावली किशोर कवि ने चंडीदास, विद्यापति आदि वैष्णव कवियों के अनुकरण में उन्हीं की शैली में, 'ब्रजबूली' में लिखी थी। यह बात विशेष रूप से ध्यान देने योग्य है कि उस युग के साहित्य-समालोचकगण, जो पाश्चात्य साहित्य-रस में डूबे हुए थे, वैष्णव पदावली को अत्यंत उपेक्षा बल्कि घृणा की दृष्टि से देखते थे। कोई भी अच्छा प्रकाशक उन पदों को छापना नहीं चाहता था। जो अर्द्ध-शिक्षित लोक-साहित्य-प्रकाशक किस्सा तोता-मैना (शुक-सारिका), वैताल-पचीसी, सिंहासन-बत्तीसी, गुलबकावली आदि की कोटि की बँगला पुस्तकें छापते थे; वही वैष्णव कवियों के पदों का भी जन-संस्करण ग्रामीण पाठकों के लिये छापा करते थे। या फिर भिखारियों के मुँह से ही वे पद सुनने में आते थे। सभ्य और सुशिक्षित समाज में वे पद हेय, निन्द्य और अश्लील माने जाते थे। सबसे पहले बंकिमचंद्र ने उस प्राचीन कविता के महत्त्व और माधुर्य की ओर साहित्य-समाज का ध्यान आकर्षित किया। माइकेल मधुसूदनदत्त ने 'ब्रजांगना' नाटक लिखकर वैष्णव कविता की भाव-धारा का अनुसरण अवश्य किया था, पर उस अगाध रसमयी कविता की मूल आत्मा को वह नहीं अपना रहे थे—न भाव में, न रस में, न भाषा में। किशोर-वयस्क रवीन्द्रनाथ ही ऐसे पहले कवि थे, जो वैष्णव-पदावली के रस-माधुर्य को अपनी संपूर्ण आत्मा से ग्रहण करने में समर्थ हुए थे।

असल बात यह थी कि वैष्णव-काव्य-धारा माइकेल की इतिवृत्तात्मक मनोधारा के अनुकूल नहीं पड़ती थी, जबकि रवीन्द्रनाथ की रोमांटिक प्रवृत्ति के साथ उस भावधारा का पूरा मेल बैठता था। अपने एक पत्र में उन्होंने स्वयं यह बात स्वीकार की है: "मेरी उम्र जब तेरह-चौदह साल की थी तभी से मैंने अत्यंत आनंद और आग्रह के साथ वैष्णव पदावली का पाठ

किया है, उसका छन्द, रस, भाषा और भाव सभी मुझे मुग्ध करते थे। उस छोटी उम्र में भी—अस्पष्ट और अस्फुट रूप से ही सही—मैं वैष्णवधर्म-तत्त्व में प्रवेश पा चुका था।"

जो भी हो, उस रस द्वारा प्राप्त आनंद को काव्याभिव्यक्ति देने की प्रेरणा किशोर कवि के भीतर तीव्र हो उठी। एक दिन दोपहर में जब आकाश घने बादलों से घिरा था तब किशोर कवि के हृदय में जयदेव के 'मेघैर्मेदुर-मंबरम्' के अनुरूप एक मधुर विकलता जग उठी और वह पलंग पर औंधे बैठकर स्लेट-पेंसिल लेकर कविता लिखने बैठ गये, जो पहली पंक्ति उन्होंने लिखी वह थी 'गहन कुसुम-कुंज माझे।' इस पंक्ति के लिखते ही उनका कविता-स्रोत फूट पड़ा और कविता पर कविता लिखते चले गये।

'भानुसिंह ठाकुरेर पदावली' की सभी कविताएँ ठेठ बँगला में नहीं, बल्कि वैष्णव कवियों की 'ब्रजबूली' या नकली ब्रजभाषा में लिखी गयी हैं। इस पदावली को 'मरण रे तुंहु मम श्याम समान' यह कविता हिन्दी के कविता प्रेमी-समाज में भी काफी प्रसिद्ध हो चुकी है। यह कविता इस संग्रह की प्रारंभिक कविताओं की अपेक्षा कुछ बाद की है। किशोर-वयस्क रवीन्द्रनाथ की यह 'दुष्टता' विचारणीय है कि उन्होंने इस स्वरचित पदावली को अपने नाम से प्रकाशित नहीं कराया, बल्कि पाठकों को इस भ्रम में डालने में कोई बात उठा न रखी कि वे पद भानुसिंह ठाकुर नाम के किसी प्राचीन वैष्णव कवि द्वारा रचे गये हैं, और उस लुप्त पदावली की जीर्ण पांडुलिपि का उद्धार ब्राह्म-समाज की ग्रंथशाला से हुआ है! रवीन्द्रनाथ ने अपनी जीवन-स्मृति में यह बात स्वयं स्वीकार की है। और आश्चर्य तथा आनंद की बात यह है कि उस युग के अच्छे-अच्छे साहित्य-समीक्षक भी किशोर कवि की इस बात के भुलावे में आ गये!

'जीवन-स्मृति' से ही हमें इस संबंध में एक और मजेदार तथ्य का परिचय मिलता है। रवीन्द्रनाथ ने उसमें सूचित किया है कि निशिकांत चट्टोपाध्याय नामक उस युग के एक प्रतिभाशाली युवक ने जर्मनी के त्सूरिख विश्वविद्यालय से बंगाल के लोकनाटकों पर एक संदर्भ लिखकर

डाक्टर की उपाधि पायी थी। उन्होंने जर्मन भाषा में भारतीय गीतिकाव्य पर भी एक पुस्तक लिखी थी। उसमें प्राचीन भारतीय गीति-कवियों का उल्लेख करते हुए भानुसिंह को भी एक प्राचीन वैष्णव कवि मानकर उसके पदों की भूरि-भूरि प्रशंसा की!

वास्तव में यह 'भानुसिंह' नाम रवीन्द्रनाथ का ही पर्यायवाची है, भानु का अर्थ रवि सभी जानते हैं। जिस प्रकार सिंह सभी जंतुओं में अधिक बलशाली है उसी प्रकार इन्द्र भी सभी देवताओं में श्रेष्ठ है। इस प्रकार भानुसिंह और रवीन्द्रनाथ के शब्दार्थ में भी कोई विशेष अंतर नहीं है। और 'ठाकुर' दोनों में समान है ही, यह बात आज हम लोगों के आगे स्पष्ट होने पर भी उस युग में कैसी विकट भ्र ामक सिद्ध हुई थी, इसका ठीक से अनुमान भी आज नहीं लगाया जा सकता। किसी नवीन कृति पर प्राचीन का मुलम्मा चढ़ाकर उसे भूले हुए प्राचीन कवि की रचना बनाकर प्रचारित करके अहम्मन्य साहित्य-समीक्षकों को ठगने में जो एक विचित्र कौतुकपूर्ण सुख है उसका उपभोग रवीन्द्रनाथ ने जी भरकर किया। इसी तरह की एक घटना एक बार उन्नीसवीं शताब्दी में यूरोप में भी हुई थी, जब किसी एक कौतुक-प्रेमी साहित्य-रसिक ने प्राचीन ग्रीक भाषा में एक मनोमोहक रोमांटिक काव्य की रचना करके उसे ओसियन नामक एक प्राचीन ग्रीक कवि की लुप्त रचना का नया आविष्कार बताया। उस 'नवाविष्कृत' प्राचीन रचना ने सारे यूरोप के साहित्य-समाज में तहलका मचा दिया था। यहाँ तक कि उसने युवक गेटे को भी भ्रम में डाल दिया। गेटे ने अपनी विश्व-विख्यात रचना 'वेटेर' में स्थान-स्थान पर 'ओसियन' का हवाला दिया है। केवल डाक्टर जानसन को वह जालसाजी धोखा न दे सकी। उसने तभी बता दिया था कि उस 'आविष्कार' के पीछे किसी तमाशबीन की दुष्टता काम कर रही है।

'भारती' में पहले ही वर्ष रवीन्द्रनाथ ने अनेक स्फुट कविताएँ, गीत, छोटी कहानियाँ, उपन्यास और विविध-विषयक (साहित्यिक, वैज्ञानिक, राजनीतिक, सामाजिक और धार्मिक) निबंधों के अतिरिक्त एक खंडकाव्य

भी लिखकर प्रकाशित कराया। इसका नाम रखा गया 'कवि-काहिनी' (कवि की कहानी)। इसकी रचना माइकेल मधुसूदनदत्त द्वारा प्रवर्तित अमित्राक्षर छन्द में हुई थी। अपनी 'जीवन-स्मृति' में रवीन्द्रनाथ ने इस काव्य की 'बचकानी' शैली और भाव का परिहास स्वयं उड़ाने का प्रयत्न किया है। बंग-साहित्य के कुछ आलोचकों ने भी इसके महत्त्व की उपेक्षा की है। पर आज जब हम तटस्थ दृष्टि से किशोर-कवि के इस भूले हुए काव्य का अध्ययन करके उस पर विचार करते हैं तब हमारे आनंद और आश्चर्य का ठिकाना नहीं रह जाता। इसमें हम देखते हैं कि सोलह वर्षीय कवि के अंतर में विश्व-प्रकृति के सभी रूपों की अगाध और गहन रहस्यमयता की अनुभूति किस तीव्रता से वर्तमान थी; पृथ्वी के कठोर यथार्थ जीवन के संघर्ष, वैषम्य और अशांति-जनित नैराश्य और अंधकारमय वातावरण की चेतना उसके मर्म को किस हद तक पीड़ा पहुँचा रही थी। पर इन दोनों से भी बड़ी बात यह है कि उस छोटी उम्र में ही कवि पृथ्वी के भावी मानव-जीवन की सुन्दर मंगलमय और सामंजस्यमूलक परिणति के संबंध में विश्वस्त था—केवल भावुकता के कारण नहीं, बल्कि विकास के निश्चित नियमों के संबंध में काव्यगत और विज्ञानगत दोनों प्रकार की धारणाओं की समन्वयात्मक अनुभूति द्वारा।

'कवि की कहानी' का नायक स्वभावतः एक कवि है, एक विजन कुटीर में उसका प्रारंभिक जीवन बीतता है, जहाँ प्रकृति के साथ उसका तादात्म्य स्थापित हो जाता है। बाल्य-काल में प्रकृति का सुन्दर, शांत और मनोमोहक रूप उसके हृदय को लुभाता है। यौवन आने पर प्रकृति के भीषण और दारुण निर्मम रूप से भी उसका परिचय होता है। सृष्टि के आदिम रूप से लेकर उसके आज तक के विकास का सुदृढ़ नियम-बद्ध वैज्ञानिक क्रम उसे चकित और मुग्ध करता है। साथ ही वह यह भी अनुभव करता है कि आज भी पृथ्वी का विकास और सृजन-क्रिया नियमित रूप से चल रही है:

सर्वव्यापी निशीथेर अंधकार-गर्भे
एखनो पृथिवी जेन होतेछे सृजित।

"सर्वव्यापी निशीथ के अंधकारमय गर्भ में आज भी पृथिवी जैसे निरंतर सृजित होती चली जा रही है।"

पर प्रकृति के रहस्य के संबंध में यह एकांत चिंतन चिर-एकाकी कवि को शांति प्रदान करने में किसी प्रकार भी समर्थ नहीं होता। सुखदुःखमय मानव-जीवन के संसर्ग के बिना उसका अंतर्मन तनिक भी चैन नहीं पाता। वह प्रकृति का विजन क्रोड़ त्यागकर मानव-समाज के बीच में आता है। नलिनी नाम की एक लड़की से उसका प्रेम हो जाता है। पर वह प्रेम उसके सर्वग्राही मन की विराट आतृप्ति को शांत करने में समर्थ नहीं होता। नलिनी भी कवि के हृदय की अगाधता के बीच खो जाती है। उस हृदय को अपना बनाने में असमर्थ होने के कारण वह स्वयं भग्नहृदय हो जाती है और एक दिन अकाल में ही इस संसार से चल बसती है। एक दूसरी लड़की के संसर्ग में आने पर उसका भी यही हाल होता है। कवि के शोक और पश्चात्ताप का ठिकाना नहीं रहता। भाव-सत्य और वस्तुसत्य के बीच का यह द्वन्द्व उसे अत्यंत पीड़ित करता है। वह जीवन की वास्तविकता का विश्लेषण करने लगता है। अंत में ज्ञान परिपक्व कवि हिमशुभ्र जटा और श्मश्रु से आच्छादित होकर वह मानव जाति के युग-युग के उत्थान-पतन के चिर-द्रष्टा हिमालय का आश्रय लेता है। उस निष्कलंक उच्चता में भविष्य की ओर अपनी दूरदर्शी आँखों को प्रसारित करने पर एक महान् सत्य उसके आगे उद्भासित होने लगता है। इसी सिलसिले में वह अपने हिमगिरि से प्रश्न करता है:

"हे देव! यह अशांति कब दूर होगी? अत्याचार के गुरु-भार से पीड़ित होकर आज समस्त पृथ्वी क्रंदन कर रही है। सुख और शांति ने जैसे विदाई ले ली है। इस रजनी का अवसान कब होगा? उस दिन की प्रतीक्षा है जब प्रभात के तुहिन-बिंदुओं से स्नान करके तरुण रवि की किरणों के प्रकाश में पृथिवी हँसेगी। असंख्य मानवगण एक कंठ से साम्य का गीत गाकर समस्त स्वर्ग को गुँजा देंगे। न कोई दरिद्र रहेगा न कोई धनी, न कोई अधिपति रहेगा न कोई प्रजा। सभी सब की सेवा के लिये सब समय तत्पर

रहेंगे। न कोई किसी का प्रभु रहेगा न कोई किसी का दास। हे गिरिवर, वह दिन निश्चय ही आयेगा, मैं उस सूदूर भविष्य को आज अपनी अन्तर्दृष्टि से स्पष्ट देख रहा हूँ जब कोटि-कोटि मानव-हृदय एक प्रेम में बँधकर एक सूत्र में गुंथ जायेंगे।"

यह कविता यदि आज के युग में कोई लिखे तो भी नयी मालूम होगी। और यह लिखी गयी थी १८७८ में! इस कविता से कम से कम एक बात तो स्पष्ट हो ही जाती है, वह यह कि रवीन्द्रनाथ में रोमांटिक प्रवृत्ति जन्मजात होने पर भी उस प्रवृत्ति को उन्होंने कभी व्यक्तिगत प्रेम या आशा-निराशा के भीतर सीमित नहीं होने दिया। प्रारंभ ही से वह अपनी वैयक्तिक प्रवृत्तियों को विश्व-प्रकृति और विश्व-जीवन के साथ संबद्ध रूप में देखने के आदी रहे हैं।

पहला प्रेम

'भारती' का दूसरा वर्ष आरंभ होने के समय रवीन्द्रनाथ अपने मँझले भैया सत्येन्द्रनाथ के पास अहमदाबाद चले गये। सत्येन्द्रनाथ को तब बंबई प्रांत में नौकरी करते हुए चौदह वर्ष बीत चुके थे। उस समय वह अहमदाबाद में सेशन - जज थे। उनकी पत्नी ज्ञानदानन्दिनी देवी बाल-बच्चों के साथ विलायत गयी हुई थीं। जिस बादशाही युग की विशाल ऐतिहासिक कोठी में सत्येन्द्रनाथ रहते थे वह एकदम खाली थी। कोठी के नीचे ही साबरमती नदी बहती थी। कल्पना-प्रिय किशोर-कवि के मन में उस एकांत कोठी में तरह-तरह की कल्पनाएँ उड़ान भरने लगीं। बाद में रवीन्द्रनाथ ने 'भूखे पत्थर' (क्षुधित पाषाण) शीर्षक से जो विश्व-विख्यात कहानी लिखी थी, उसकी कल्पना का आधार मुस्लिम राज्य-काल के युग की यही कोठी थी।

सत्येन्द्रनाथ का निजी पुस्तकालय काफी बड़ा था और उसमें संसार की प्रायः सभी समुन्नत भाषाओं के महान् कवियों और लेखकों की प्रसिद्ध रचनाएँ मूल तथा अंग्रेजी अनुवाद दोनों रूपों में संगृहीत थीं। दोपहर को सत्येन्द्रनाथ जब अदालत में होते थे तब रवीन्द्रनाथ उस विशाल भवन में अकेले पड़ जाते थे। इस एकाकीपन का सुख कभी तो वह विचित्र काव्य-कल्पनाओं में मग्न रहकर उठाते और कभी पुस्तकालय वाले कक्ष में बैठकर विश्व के उन महान् कवियों और द्रष्टाओं के बीच में रहकर, जो 'मृत' होते हुए भी अपनी अमर रचनाओं के भीतर चिरवर्तमान थे। कभी वह संस्कृत के विविध कवियों की रचनाओं का पाठ मूल में करते हुए अनुवाद के सहारे उनका अध्ययन करते थे, कभी विख्यात यूरोपियन

कवियों की जीवनियाँ पढ़कर, कल्पना द्वारा उनकी जीवन-धारा को अपने जीवन धारा से एक रूप में मिलाकर विश्व-जीवन धारा की रहस्यात्मक अनुभूति में मग्न हो जाते थे और कभी उन कवियों की रचनाओं के अध्ययन द्वारा रस और ज्ञान दोनों प्राप्त करते थे। संस्कृत में अमरु-शतक से लेकर दान्ते के 'डिवाइना कामेडिया' और गेटे के 'फाउस्ट' तक विविध काव्य ग्रंथों का अध्ययन वह मनमाने और अनियमित ढंग से कर रहे थे।

गेटे की रचनाओं की अपेक्षा उसकी जीवनी से रवीन्द्रनाथ अधिक प्रभावित हुए। एक ओर अनेक नारियों से गेटे का प्रेम, दूसरी ओर अपने स्वभाव और चरित्र पर उसका कड़ा नियन्त्रण--यह विरोधाभास उन्हें आकर्षक लगा। पर गेटे के संबंध में जिस बात से वह सबसे अधिक प्रभावित हुए, वह थी उसकी तीक्ष्ण वैज्ञानिक और वैश्लेषिक बुद्धि की संश्लेषणात्मक परिणति। जीवन की गहराई और यथार्थता को समझने के लिये गेटे ने कवि और वैज्ञानिक दोनों दृष्टियों से जीवन को देखा और परखा था। और वैज्ञानिक सत्य को भाव-सत्य के साथ मिलित करके उसे विशुद्ध काव्यात्मक रस में परिणत करने में सफलता पायी थी। यह बात रवीन्द्रनाथ की स्वाभाविक प्रवृत्ति के साथ आश्चर्यजनक रूप में मेल खाती थी। इसलिये महान् जर्मन कवि और द्रष्टा से अपनी प्रकृति के तादात्म्य का अनुभव करके रवीन्द्रनाथ को स्वभावतः पुलक अनुभव होता था। पर गेटे की रचनाओं--विशेषकर फाउस्ट--को परिश्रमपूर्वक अध्ययन करने का धैर्य किशोर-कवि में नहीं था। वैसे उनकी तत्त्व-ग्राहिणी शक्ति ऐसी तीव्र थी कि किसी रचना को अनियमित और अपूर्ण रूप से पढ़ने पर भी उसके मर्म को पकड़ने में उन्हें देर न लगती थी। गेटे को मूल में समझने के लिये उन्होंने जर्मन भाषा का भी थोड़ा-बहुत अध्ययन किया था, पर उससे कुछ विशेष लाभ न हुआ।

अहमदाबाद प्रवास-काल में उन्होंने दन्ते, पेत्रार्क आदि कवियों की रचनाओं से छिटफुट अंशों का अनुवाद करके उन्हें 'भारती' में छपाया था।

वहीं उन्होंने कुछ पद्य-कहानियाँ 'गाथा' नाम से लिखीं। इन पद्य-कहानियों को लिखने में उन्हें टेनीसन से प्रेरणा मिली थी।

इस सारे अध्ययन, चिंतन और लेखन के बीच में जीवन का एक नया स्मरणीय अनुभव उन्हें हुआ था, जिसका उल्लेख किये बिना वर्तमान प्रसंग को समाप्त नहीं किया जा सकता।

पर इस प्रसंग को आरंभ करने के पूर्व यह बताना आवश्यक है कि रवीन्द्रनाथ किस सिलसिले में अहमदाबाद गये थे। कलकत्ते में उनकी विद्यालय-संबंधी पढ़ाई नियमित रूप से नहीं हो रही थी। भगोड़े छात्रों के साथ रवीन्द्रनाथ की सहानुभूति वृद्धावस्था तक रही। इसका कारण यह था कि स्कूल की पढ़ाई में वह स्वयं कभी मन न लगा सके। उन्हें एक-एक करके कई स्कूलों में भरती किया जा चुका था, पर कहीं भी वह जम नहीं पाते थे। 'भारती' का प्रकाशन जब आरंभ हुआ था तब वह नाममात्र के लिये सेन्ट जेवियर्स स्कूल के छात्र माने जाते थे। पर वास्तविकता यह थी कि उस स्कूल में भी उनका जी नहीं लग रहा था और वहाँ की वार्षिक परीक्षा में वह अनुत्तीर्ण रहे। इन सब कारणों से उनके अभिभावकगण अत्यंत चिंतित हो उठे थे। सबको ऐसा लग रहा था कि ठाकुर-परिवार के लिये इससे बड़े कलंक की बात दूसरी हो ही नहीं सकती। उस प्रतिष्ठित और उच्च-शिक्षित कुल का एक रूप-गुण संपन्न लड़का किसी विद्यालय की परीक्षा में प्रथम आने के बजाय 'पास' ही न हो, इसकी कल्पना भी उन लोगों के लिये आतंक-जनक थी। स्वयं कवि के पिता भी बहुत चिंतित हो उठे थे। वह यद्यपि अपने कनिष्ठ पुत्र की बुद्धिमत्ता से थोड़ा-बहुत परिचित हो चुके थे, पर बुद्धि-मत्ता का जो श्रेष्ठ निदर्शन विद्यालय की परीक्षाओं में विशिष्टता के साथ उत्तीर्ण होना है, उसमें रवीन्द्रनाथ को एकदम पिछड़ा हुआ पाकर वह बहुत दुःखी थे। केवल ज्योतिरिन्द्रनाथ और उनकी पत्नी कादंबरी देवी को इस बात का पूरा विश्वास था कि जो बुद्धिमान लड़का साहित्य-सृजन के क्षेत्र में आश्चर्यजनक कृतित्व दिखा सकता है, उसके भविष्य के लिये चिंतित होने का कारण नहीं है।

जो भी हो, कलकत्ते के अच्छे से अच्छे विद्यालय में रवीन्द्रनाथ का पढ़ने में मन न लगते देखकर उनके अभिभावकों ने यह तय किया कि उन्हें विलायत भेज दिया जाय, ताकि वह वहां से बैरिस्टरी 'पास' करके कुल की लाज रखें। उन दिनों बैरिस्टरी पास करने के लिये ग्रेजुएट होने की कोई कैद नहीं थी। किसी प्रकार लंदन की मेट्रिकुलेट परीक्षा में उत्तीर्ण हो जाने पर बैरिस्टरी पास करने की योग्यता प्राप्त हो जाती थी। रवीन्द्रनाथ ने यह प्रस्ताव स्वीकार कर लिया था। यह तय हुआ था कि विलायत जाने के पूर्व कुछ मास वह सत्येन्द्रनाथ के साथ बितावें और अँगरेजी 'कायदे-कानून' और अँगरेजी वार्त्तालाप सीखें।

सत्येन्द्रनाथ के एक बंधु थे दादोबा पांडुरंग। उनका परिवार अँगरेजी शिक्षा, संस्कृति और सभ्यता में काफी आगे बढ़ा हुआ था। वे लोग बंबई में रहते थे। सत्येन्द्रनाथ ने दो महीने रवीन्द्रनाथ को उसी परिवार में रहकर अँग्रेजी 'एटीकेट' एवं बोलचाल की शिक्षा प्राप्त करने के उद्देश्य से बंबई भेज दिया। दादोबा पांडुरंग की लड़की अन्ना इंग्लैण्ड में रह चुकी थी। वह जैसी ही शिक्षिता और प्रगतिशील थी वैसी ही सुन्दर और सुशील भी। सत्रह वर्षीय नवयुवक कवि रवीन्द्रनाथ के साथ बहुत जल्दी ही उससे घनिष्ठता हो गई। अन्ना को बहुत जल्दी यह पता लग गया कि उसका नया साथी एक बहुत अच्छा कवि है। रवीन्द्रनाथ भी अपने कवित्व का परिचय उसे देने से न चूके। वह अपने नये काव्य 'कवि-कहानी' को पहले मूल में उसे सुनाते थे और फिर उसका अँग्रेजी में अनुवाद करके सुनाते थे। सुनकर वह मुग्ध हो गयी थी। जब वह काव्य पुस्तक रूप में प्रकाशित हुआ तब रवीन्द्रनाथ के लिखने पर ज्योतिरिन्द्रनाथ ने एक प्रति सीधे अन्ना के पास भेज दी। इस पर अन्ना ने उत्तर में ज्योतिरिन्द्रनाथ को लिखा था कि कवि ने 'भारती' से पढ़कर उसे इतनी बार सुनाया है कि वह पूरा काव्य ही उसे प्रायः कण्ठस्थ हो गया है! इससे हम इस अनुमान पर पहुँचते हैं कि जब अन्ना रवीन्द्रनाथ को अँग्रेजी में बोलना सिखा रही थी तब रवीन्द्रनाथ भी उसे बंगला सिखाते जा रहे थे।

रवीन्द्रनाथ ने अपने एक संस्मरण में इस लड़की का उल्लेख किया है, जिससे यह स्पष्ट हो जाता है कि वे दोनों एक दूसरे से बहुत प्रभावित हो उठे थे। और भी दूसरे प्रमाणों से यह पता चलता है कि वे दोनों केवल परस्पर प्रभावित ही नहीं हुए थे, बल्कि एक-दूसरे को चाहने भी लगे थे। नवयौवन का प्रेम कितना उद्दाम होता है, यह अनुभवियों से छिपा नहीं है। फिर भी निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता कि रवीन्द्रनाथ और अन्ना का यह प्रेम किस सीमा तक आगे बढ़ा था। वृद्धावस्था में कवि ने दिलीपकुमार राय से इस प्रेम की चर्चा करते हुए स्वयं कहा था :"उस लड़की को मैं जीवन में कभी न भूल पाया और न कभी उसके आकर्षण को उपेक्षा की दृष्टि से देख सका। उसके बाद मेरे जीवन में कई घटनाएँ धूपछाँह का खेल खेल चुकी हैं, और बहुविध अनुभव मुझे हो चुके हैं, पर मैं एक बात गर्व के साथ कह सकता हूँ कि किसी भी लड़की के प्रेम को मैं भूल से भी कभी अवज्ञा की दृष्टि से न देख पाया—फिर चाहे उस प्रेम का रूप कैसा ही क्यों न रहा हो।"

अन्ना ने जो प्रेम उन्हें दिया उसके संबंध में अपने छुटपन के एक संस्मरण में उन्होंने अपनी स्वभावगत रहस्यवादी भाषा में एक स्थान पर कहा है: "जीवन-यात्रा के बीच में जगत् के किसी अजानित महल से कभी-कभी अपने मन की मनुष्य की दूती आ पहुँचती है, और वह हृदय के अधिकार-क्षेत्र को और अधिक विस्तृत बना जाती है। वह बिना बुलाये ही आती है और अंत में एक दिन बुलाने पर भी उसका कहीं पता नहीं मिलता।"

अन्ना को अपना अँग्रेजी ढंग का नाम कतई पसंद नहीं था। इसलिये उसने कवि से कहा कि उसके लिये कोई नाम अपने मन का चुनें और उसे उसी नाम से पुकारा करे। कवि ने तत्काल उसका 'नलिनी' नाम रख दिया और तब से इसी नाम से वह उसे पुकारा करते। यह नाम कवि को सदा प्रिय रहा है। और वह उनकी कई रचनाओं में दुहराया गया है। अन्ना को भी यह नाम स्वभावतः बहुत पसंद आया। नलिनी को लक्ष्य करके कई गीत रवीन्द्रनाथ ने रचे। "शुनो नलिनी, खोलो गो आँखि" यह गीत तो स्पष्ट ही अन्ना को ध्यान में रखकर रचा गया है, यह बात रवीन्द्रनाथ ने स्वयं स्वीकार की है।

दिलीपकुमार राय को वृद्ध कवि ने इस संबंध में और एक भेद भरी बात बतायी थी। अन्ना के मन में यह विलायती संस्कार किसी कारण से घर किये हुए था कि यदि कोई पुरुष किसी सोई हुई लड़की का दस्तान चुरा सकने में समर्थ हो तो उस चोर को यह अधिकार प्राप्त हो जाता है कि वह उस लड़की का मुख-चुंबन करे। अन्ना ने कवि को यह बात बता दी थी और कवि इस कृत्य में भी सफल हुए थे, ऐसा अनुमान किया जाता है।

नलिनी को लक्ष्य करके कवि ने नव-यौवनावस्था में ही कुछ कविताएँ लिखी थीं। उनमें से एक कविता से कुछ पंक्तियाँ नीचे दी जाती हैं:

ओ आभार नलिनी लो--लाजमाखा नलिनी--
अनेकेर आँखि परे सौन्दर्य विराज करे
तोर आँखि परे प्रेम--नलिनी लो नलिनी!

× × ×

ओ आभार नलिनी गो--सुकोमला नलिनी!
मधुर रूपेर भास--ताई प्रकृतिर वास
सेई वास तोर देहे नलिनी लो नलिनी!

"ओ मेरी नलिनी--लाजसनी नलिनी! बहुतों की आँखों में सौन्दर्य विराजता है, पर तुम्हारी आँखें प्रेम के रंग में रँगी हैं। ओ सुकोमल नलिनी! जहाँ मधुर रूप भासमान होता है वहीं प्रकृति का वास मिलता है। वही वास तुम्हारी देह में विराजता है।"

कविता बहुत साधारण है, यह मानना होगा। पर इस छिछले कविता-कुंड के भीतर जो नलिनी खिल उठी है उसकी शोभा इसी कारण से अधिक बढ़ गयी है।

पहली विदेश यात्रा

कुछ ही महीने बाद रवीन्द्रनाथ अपने मँझले भैया सत्येन्द्रनाथ के साथ विलायत यात्रा के उद्देश्य से बंबई से एक जहाज में रवाना हो गये। सत्येन्द्रनाथ पेन्शन पाने के पूर्व लंबी छुट्टी पाकर अपनी पत्नी और बच्चों के पास जा रहे थे। कुछ दिनों तक भैया और भाभी के साथ रवीन्द्रनाथ ब्राइटन में रहे। उसके बाद उन्हें लंदन में युनिवर्सिटी कालेज में भरती करा दिया गया। तब लंदन युनिवर्सिटी में हेनरी मार्ली अँगरेजी साहित्य के अध्यापक थे। उनके अध्यापन से पहली बार रवीन्द्रनाथ को इस बात का अनुभव हुआ कि छात्रों में साहित्य के प्रति यथार्थ प्रेम जगाने के उद्देश्य से किस ढंग से शिक्षा दी जानी चाहिये, और यह भी कि अँगरेजी साहित्य के अध्ययन का सबसे अच्छा तरीका क्या है।

पर लंदन युनिवर्सिटी में भी तीन मास से अधिक उनका जी न लगा और वह भगकर फिर भैया और भाभी के पास चले गये। ब्राइटन छोटा शहर था, इसलिये वहाँ ब्रिटिश समाज के संपर्क में घनिष्ठ रूप से आने का अच्छा अवसर उन्हें मिला। अपनी विलायत-यात्रा संबंधी अनुभवों को वह 'भारती' में नियमित रूप से छपाते रहते थे। उन्हीं लेखों में उन्होंने गर्व के साथ इस बात का उल्लेख किया था कि वह वहाँ की नाच-पार्टियों में नियमित रूप से सम्मिलित होते हैं और साथ ही यूरोपीय संगीत की शिक्षा भी प्राप्त करते रहते थे। उन्होंने लिखा था : "जिन लड़कियों के साथ मेरा परिचय हो चुका है उनके साथ नाचना मुझे अच्छा लगता है।" किसी एक 'मिस' के साथ उनका घनिष्ठ परिचय हो चुका था, और वह लड़की देखने में भी सुंदरी थी। इसलिये उसके साथ नाचना उन्हें बहुत

अच्छा लगता था और उसके साथ एक बार उन्होंने "गैलप" नृत्य भी किया था। अपरिचित लड़कियों के साथ भी उन्हें शिष्टाचार वश नाचना पड़ता था, पर उन्हें अच्छा नहीं लगता था।

लंदन में एक तो पढ़ाई का झंझट था, दूसरे अभी तक किसी विलायती परिवार के घनिष्ठ संपर्क में वह नहीं आ पाये थे। इसलिए वहाँ से उकताकर वह भागे। तब उनके भैया और भाभी ब्राइटन छोड़कर डेवनशियर के टर्की नामक एक छोटे-से शहर में चले गये थे। यह स्थान समुद्र के तट पर था। वहाँ कवि ने 'भग्नतरी' नामकी कविता गाथा के रूप में लिखी।

पर उन्हें समुद्र के किनारे बैठकर कविता लिखने के लिये विलायत नहीं भेजा गया था। इसलिये अनिच्छा के साथ उन्हें फिर लंदन लौटना पड़ा। इस बार डाक्टर स्काट नामक एक भद्र गृहस्थ के परिवार में रहने की सुविधा उन्हें प्राप्त हो गयी। डाक्टर स्काट की दो लड़कियाँ थीं। दोनों ही सुन्दरी थीं। दोनों तरुणियाँ विदेशी कवि के असाधारण व्यक्तित्व के प्रति अत्यंत आकर्षित हो उठीं। रवीन्द्रनाथ ने स्वयं अपने पत्रों में इन लड़कियों का उल्लेख किया था। उनमें से एक लड़की के प्रति कवि स्वयं भी विशेष अनुरक्त थे, इसका प्रमाण उनकी 'दुदिन' (दो दिन) शीर्षक कविता से मिलता है। यह कविता १८८२ (बँगला सन् १२८७) में 'भारती' में 'श्री दिक्शून्य भट्टाचार्य' इस छद्मनाम से छपी थी। स्पष्ट ही यह छद्मनाम कवि ने अपने गुरुजनों से अपने मन की बात छिपाने के उद्देश्य से ग्रहण किया था। एक बार किसी एक रचना में उन्होंने अपना नाम दिया था 'वाणी-विनोद वंद्योपाध्याय'। 'भारती' के लिये लिखी गयी उस युग की और भी बहुत-सी रचनाएँ उन्होंने छद्मनाम से छपायी थीं।

जो भी हो, 'दुदिन' शीर्षक कविता पढ़ने से दो बातें स्पष्ट हो जाती हैं। एक तो यह कि इसमें उस देश का वातावरण वर्णित है जहाँ जाड़ों में बरफ गिरती है, दूसरी यह कि यह किसी विदेशी प्रेयसी के संबंध में लिखी गयी है। इसकी अंतिम दो पंक्तियाँ इस प्रकार हैं:

किंतु आहा, दुदिनेर तरे हेथ ऐनू,
एकटि कोमल प्राण भेंगे रेखे गेनू !

"हाय, केवल दो दिन के लिये मैं यहाँ आया और एक कोमल हृदय को भग्न करके वापस चला आया !"

बहुत साल बाद——१९२६ में——जब कवि काफी वृद्ध हो चुके थे तब अपने तरुण जीवन की स्मृति जगने पर उन्होंने दिलीपकुमार राय से स्काट परिवार की उक्त दो लड़कियों के संबंध में कहा था : "दोनों लड़कियाँ ही मुझसे प्रेम करती थीं, इस संबंध में मेरे मन में आज तनिक भी धुंधलापन नहीं रह गया है कि दोनों ही लड़कियाँ मुझे चाहती थीं। पर तब इस बात पर विश्वास करने का 'मारल करेज' मुझमें होता तब न !"

तब रवीन्द्रनाथ का कैशोर और यौवन का संधिकाल था। यूरोप आने पर, एक अपेक्षाकृत मुक्त समाज के बीच में——विचरण करने पर जीवन की नयी-नयी अभिज्ञता उन्हें प्राप्त होती चली जा रही थी, जो उनके भावी जीवन की धारा का निर्माण निश्चित किंतु तनिक अलक्षित रूप में करती चली जा रही थी। यूरोपीय जीवन के संबंध में उनकी जो पत्रावली नियमित रूप से 'भारती' में छप रही थी, उसे उनके अभिभावकगण तथा स्नेही स्वजन बड़ी ही दिलचस्पी से पढ़ रहे थे——इस दृष्टि से उतना नहीं कि कोई नया ज्ञान प्राप्त करे जितना इस दृष्टि से कि तरुण-वयस्क, 'जीवन की वास्तविकता से अनभिज्ञ' कवि रवि किस बहाव में बहा चला जा रहा है। उन दिनों विलायत-प्रवासी भारतीयों के संबंध में देश के लोग तरह-तरह की आशंकाएँ किया करते थे। इसलिये जब रवीन्द्रनाथ ने 'भारती' में वहाँ की नाच-पार्टियों, गीत-सभाओं, सम्मिलित उत्सवों आदि का उल्लासपूर्ण वर्णन करने के साथ ही वहाँ की महिलाओं के स्वतंत्र जीवन की भूरि-भूरि प्रशंसा की तब घर के सयाने कुछ आशंकित हो उठे। ज्येष्ठ भ्राता द्विजेन्द्रनाथ ने 'भारती' में ही अपने कनिष्ठ कवि-भ्राता के उस लेख का तीव्र विरोध किया, जिसमें उन्होंने यूरोपीय स्त्री-पुरुषों के सम्मिलित आमोद-

प्रमोद की बड़ी प्रशंसा करते हुए भारतीय सामाजिक बंधन की तीव्र निंदा की थी।

फल यह हुआ कि सहसा उन पर घर लौटने का आदेश जारी कर दिया गया। रवीन्द्रनाथ के दोनों हाथ लड्डू थे। पढ़ने में उनका मन तनिक नहीं लग रहा था और बैरिस्टरी पास करने का परिश्रम उन्हें बहुत बड़ी विडंबना महसूस होने लगी थी। इसलिये घर लौटने के प्रस्ताव का उन्होंने स्वागत ही किया। डेढ़ वर्ष तक विलायत रहकर वह अपने मँझले भैया के साथ देश लौट आये।

अपने कल्पना-प्रिय और तीव्र अनुभूतिशील नव-विकासोन्मुख तरुण हृदय में वह इन अठारह महीनों के भीतर जीवन की कितनी बड़ी अभिज्ञता और भविष्य के लिये कितनी बड़ी साहित्यिक महत्त्वाकांक्षाएँ लेकर आये थे! पर घर पर बंधु-बांधवों और आत्मीय स्वजनों से उन्होंने 'स्वागत' के रूप में जो उदासीनता पायी, उससे उन्हें बड़ा क्षोभ हुआ। बात यह थी कि आत्मीय लोग यह आशा किये बैठे थे कि रवीन्द्रनाथ विलायत जाकर अपने स्वाभाविक 'निकम्मेपन' से मुक्ति पाकर बैरिस्टरी पास करके लौटेंगे और कलकत्ता हाईकोर्ट में वकालत करके प्रचुर यश और धन उपार्जित कर सकेंगे। पर जब उन्होंने देखा कि वह जैसे निकम्मे थे वैसे ही निकम्मे लौटे, तब स्नेही अभिभावकों को आंतरिक दुःख हुआ और उनके समवयसी बंधु मीठी चुटकियाँ लेने लगे।

प्रसन्न हुए केवल उनके चिर-स्नेही 'ज्योति दादा' और उनसे भी अधिक उनकी पत्नी कादंबरी देवी। अपनी इस सुंदरी और स्नेहशीला भावज के प्रति रवीन्द्रनाथ के मन में प्रारंभ ही से अटूट स्नेह का भाव वर्तमान था। देवर और भाभी दोनों समवयसी थे। उन दिनों की प्रथा के अनुसार, बहुत छोटी उम्र में कादंबरी देवी ठाकुर-परिवार की बहू बनकर आयी थीं। बालक रवीन्द्रनाथ, जो तब नौकरों की अभिभावकता में विचित्र बंधनमय और प्रायः एकाकी जीवन बिताते थे, खेल की एक नयी संगिनी पाकर परम

प्रसन्न हुए थे। दोनों पहले ही दिन से, सहज बुद्धि से, एक-दूसरे के प्रति सहज आत्मीयता का अनुभव करने लगे थे। तब से दोनों बचपन के अविच्छिन्न साथी बन गये और उम्र बढ़ने के साथ ही साथ दोनों के बीच स्नेह और सौहार्द भी बढ़ता चला गया। जब दोनों कुछ बड़े हुए तब रवीन्द्रनाथ भी अपनी लिखी प्रत्येक कविता भाभी को सुनाते और भाभी आश्चर्य और आनंद के साथ अपने सुदर्शन और स्नेही देवर की प्रतिभा के नये-नये चमत्कारों का परिचय पाती हुई पुलकित होती रहतीं। दोनों अक्सर आपस में साहित्य-चर्चा करते रहते। भाभी विशेष-विशेष कवियों और साहित्यकारों को निमंत्रित करके देवर को प्रसन्न रखतीं। उन कवियों में बिहारीलाल चक्रवर्ती दोनों के विशेष श्रद्धा-भाजन थे।

इसलिये जब रवीन्द्रनाथ यूरोप से लौटकर, किशोर-जीवन की अपरिपक्वता का चोला उतारकर एक युवक की अभिज्ञता लेकर लौटे तब उनका सुन्दर, नव-विकसित व्यक्तित्व देखकर कादंबरी देवी को आंतरिक प्रसन्नता हुई। उसी हार्दिकता से उन्होंने दूसरे आत्मीयों द्वारा उपेक्षित देवर का स्नेहपूर्ण स्वागत किया।

जब रवीन्द्रनाथ ने विलायत से लौटने के कुछ ही मास बाद, फरवरी १८८० को, दुबारा विलायत जाकर बैरिस्टरी पास करने का निश्चय किया तब इस बीच लिखे गये अपने दो ग्रंथ—'भग्नहृदय' और 'रुद्रचंड'—क्रम से 'श्रीमती हे—' और 'भाई ज्योतिदादा' को समर्पित किये। इनमें से पहला ग्रंथ 'भग्न-हृदय', जो 'श्रीमती हे—' को अर्पित किया गया था, एक गीति-नाटच (अथवा नाटकाकार में लिखा गया गीति-काव्य) था। यह 'श्रीमती हे—' कौन थीं, यह एक रहस्य है। रवीन्द्रनाथ के जीवन के संबंध में जिन लोगों ने परिश्रमपूर्वक खोज की है उनका कहना है कि यह 'श्रीमती हे—' रवीन्द्रनाथ की बाल्य-संगिनी और स्नेह-परायण भाभी कादंबरी देवी के ही छद्मनाम का पहला अक्षर था। कहा जाता है कि उनके अंतरंग बंधु उन्हें 'हेकेटी' इस ग्रीक नाम से संबोधित किया करते थे। यह भी अनुमान किया जाता है कि स्वयं रवीन्द्रनाथ ने उन्हें यह नाम दिया था। जो

भी हो, 'भग्नहृदय' के समर्पण-पत्र पर जो पंक्तियाँ लिखी गयी थीं वे इस प्रकार हैं :

आज सागरेर तीरे दाँड़ाये तोमार काछे,
परपारे मेघाच्छन्न अंधकार देश आछे।

"आज सागर के इस पार के तीर पर मैं तुम्हारे निकट खड़ा हूँ; और उस पार मेघाच्छन्न और अंधकारमय देश है।" अर्थात् "उस पार न जाने क्या होगा !"

यह समर्पण रवीन्द्रनाथ ने उस मनःस्थिति में लिखा था जब वह दुबारा विलायत जाकर बैरिस्टरी पास करके असंतुष्ट घरवालों को संतुष्ट करने का विचार कर रहे थे। अपने भानजे सत्यप्रसाद को भी उन्होंने विलायत चलने के लिये तैयार कर लिया था। मद्रास जाकर जहाज पकड़ने की बात तय थी। पर मद्रास पहुँचने पर नव-विवाहित सत्यप्रसाद को घर का स्नेह पीछे की ओर खींचने लगा। वह जिद करके रवीन्द्रनाथ को भी अपने साथ कलकत्ता घसीट ले गये। इस प्रकार रवीन्द्रनाथ के बैरिस्टरी पास करने की आशा घरवालों को सदा के लिये त्याग देनी पड़ी। अर्थात् रवीन्द्र-नाथ सदा के लिये 'निकम्मे' के निकम्मे ही रह गये ! क्योंकि केवल कवि बनकर रह जाना कोई प्रतिष्ठित सांसारिक पेशा तो था नहीं !

कादंबरी देवी सब दिन की तरह इस बार भी देवर को वापस पाकर प्रसन्न ही हुईं। घर-भर में उपेक्षित इस आश्चर्यजनक प्रतिभाशाली देवर का ठीक-ठीक मूल्य एकमात्र वही समझ रही थीं। चारों ओर से निराशा और जीवन की जटिलता से क्षुब्ध होने पर रवीन्द्रनाथ आशा, उत्साह और स्नेहाशीर्वाद के लिये भाभी के ही दरवाजे पर जाते थे। उनका पवित्र प्रेमपूर्ण मंगलमय वरदान हताश कवि के मन में अटूट आस्था और श्रद्धा की अमिट ज्योति बराबर जलाये रहता था। 'भग्न-हृदय' के अतिरिक्त अपनी और भी बहुत-सी रचनाएँ रवीन्द्रनाथ ने कादंबरी देवी को अर्पित की थीं, जैसे 'शैशव-संगीत', 'भानुसिंह ठाकुरेर पदावली', 'छवि ओ गान', 'प्रकृतिर प्रतिशोध'; आदि-आदि।

रवीन्द्रनाथ के नव-विकासोन्मुख जीवन को निरंतर मंगलमय पथ की ओर परिचालित करती रहनेवाली और उन्हें नयी-नयी काव्यात्मक प्रेरणा देती रहनेवाली इस देवी के जीवन का अंत अत्यंत रहस्यमूलक और करुणा-जनक परिस्थिति में हुआ। ६ दिसंबर १८८३ को रवीन्द्रनाथ का विवाह हुआ और १६ एप्रिल १८८४ को कादंबरी ने अचानक आत्महत्या कर ली। उनकी आत्महत्या का कारण क्या था, यह उनके घरवाले भी न जान सके। प्रत्यक्ष में कोई भी कारण नहीं था। पर संभवतः रवीन्द्रनाथ इस हिमाच्छादित ज्वालामुखी की तरह रहस्यमयी नारी अंतर के उद्वेल से भलीभाँति परिचित होने के कारण उस आत्महत्या के आकस्मिक कारण का ठीक-ठीक अनुमान लगा चुके थे, यद्यपि उन्होंने किसी से इस अप्रिय घटना की चर्चा कभी नहीं चलायी। पर कादंबरी देवी की इस करुण मृत्यु की स्मृति उनके मन में बराबर बनी रही, और उस स्मृति से प्रेरित होकर वह कई अमर कविताएँ लिख गये हैं।

नयी नाट्य-कला और नया संगीत

रवीन्द्रनाथ बैरिस्टर तो न बन सके, पर साहित्य के विविध क्षेत्रों में उनकी सक्रियता निरंतर बढ़ती ही चली गयी। इंगलैंड में उच्चतम कोटि के यूरोपीय संगीत से घनिष्ठ रूप से परिचित होने पर उसका जो गहरा भाव-वेदनामूलक प्रभाव उनके अंतर पर पड़ा था उससे उन्हें एक नयी प्रेरणा प्राप्त हुई। उन्होंने ज्योतिदादा के सहयोग से यूरोपीय और भारतीय संगीत के समन्वय द्वारा एक नयी ही गीत-शैली के आविष्कार की ओर कदम बढ़ाया। रवीन्द्रनाथ की बाल्यावस्था से ही ज्योतिरिन्द्रनाथ रवीन्द्रनाथ की संगीत-शिक्षा के सहायक थे। भारतीय संगीत को यूरोपीय संगीत से सम्मिलित करने की ओर ज्योतिरिन्द्रनाथ की प्रवृत्ति पहले ही से थी। वह पियानो में नये-नये प्रयोगों द्वारा नये-नये सुरों की सृष्टि करते रहते और रवीन्द्रनाथ को अपने पास ही बिठाकर उन नये सुरों के अनुसार गीत रचने का आदेश देते रहते।

इस बार रवीन्द्रनाथ को स्वयं नये-नये सुर निकालकर नये-नये गीत रचने की प्रेरणा हुई। अपनी उस नव-आविष्कृत संगीत-शैली के व्यावहारिक दर्शन की तीव्र इच्छा के फलस्वरूप उन्होंने कई गीत रचे, जिनमें से कई आदि ब्राह्म-समाज के माघोत्सव के अवसर पर नये स्वर-संयोग के अनुरूप गाये गये।

उन्हीं दिनों हर्बर्ट स्पेंसर के एक लेख में रवीन्द्रनाथ ने अपने अंतर की इस धारणा की प्रतिध्वनि पायी कि वार्तालाप के सिलसिले में जब किसी वाक्य द्वारा कोई भाव-वेदना या भावावेग व्यक्त हो पड़ता है तब उसके अनुरूप किसी-न-किसी सुर की भी अभिव्यक्ति स्वतः हो उठती है।

उसी सहज और मूल सुर-तत्त्व का स्वाभाविक विकास ही वास्तविक संगीत है।

यह बात रवीन्द्रनाथ को जँच गयी और इस धारणा को प्रत्यक्ष प्रमाणित करने के उद्देश्य से उन्होंने 'वाल्मीकि-प्रतिभा' नामक एक नाटक की रचना की। इस नाटक में दिखाया गया है कि वाल्मीकि रत्नाकर नामक दस्यु की स्थिति से ऊपर उठकर अंत में किस प्रकार सरस्वती का वरदान पाते हैं और सरस्वती वाल्मीकि के हाथों में अपनी वीणा अर्पित करके किस प्रकार आनंदपूर्ण मुक्ति का अनुभव करती है।

जहाँ नाटकीय कला का प्रश्न है, उसमें कोई विशेषत्व हम इस नाटक में नहीं पाते। पर बंगाल में संगीत के क्षेत्र में एक नयी और ऐतिहासिक क्रांति की लहर इस नाटक में नये—विदेशी और देशी-विदेशी मिश्रित—सुरों में रचित गीतों द्वारा फैली थी। इस दृष्टि से इसका महत्त्व बहुत बड़ा है। यह नाटक 'विद्वज्जन समागम सभा' के वार्षिक अधिवेशन के अवसर पर ठाकुर-भवन में ही खेला गया था। रवीन्द्रनाथ स्वयं वाल्मीकि की भूमिका में अवतरित हुए थे और उनकी भतीजी (हेमेन्द्रनाथ ठाकुर की लड़की) प्रतिभा देवी ने सरस्वती के रूप में अभिनय किया था। उस युग के सभी प्रमुख विद्वान् साहित्यकार, कवि, लेखक और संगीतज्ञ द्रष्टा रूप में उपस्थित थे, जिनमें बंकिमचंद्र का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। बंकिमचन्द्र ने साहित्य और संगीत दोनों दृष्टियों से एक नयी प्रतिभा का परिचय पाकर इस नाटक की बड़ी प्रशंसा की थी। 'स्टेट्समैन' में भी नाटककार और अभिनेता के रूप में तरुण कवि रवीन्द्रनाथ की तारीफ छपी थी।

'वाल्मीकि-प्रतिभा' के बाद रवीन्द्रनाथ के गीतिनाट्य और प्रकाशित हुए—'भग्नहृदय' और 'रुद्रचंड'। इन दोनों का उल्लेख पहले किया जा चुका है। इनमें द्वितीय रचना ('रुद्रचंड') अमित्राक्षर छंद में रचित एक छोटा-सा नाटचकाव्य है। रुद्रचंड को रवीन्द्रनाथ ने हस्तिनापुर के अधिपति पृथ्वीराज का प्रतिद्वन्द्वी मानी है। पृथ्वीराज से पराजित होकर रुद्रचंड प्रतिहिंसा की आग अपने भीतर लिये जंगल में अपनी लड़की अमिया

के साथ एकांतवास करता है। पृथ्वीराज का मित्र-कवि चंद बरदाई अमिया के प्रति स्नेह-भावना रखता है और चोरी-छिपे जंगल में रुद्रचंड की कुटिया में आकर अमिया के साथ काव्यालाप करता है और गाना सिखाता है। जब मुहम्मद गोरी के आक्रमण के फलस्वरूप चंद कवि को युद्ध में जाना पड़ता है तब अमिया भी उसकी खोज में युद्धभूमि में आती है। पृथ्वीराज युद्ध में मारा जाता है। रुद्रचंड को स्वयं अपने हाथों से पृथ्वीराज की हत्या करने का अवसर नहीं मिलता। अपनी प्रतिहिंसा की निष्फलता देखकर वह अपनी छाती में छुरी भोंककर मर जाता है। चंद कवि जब लौटकर उस अरण्य-कुटीर में जाता है तो देखता है कि रुद्रचंड मृत अवस्था में पड़ा है और अमिया मरणासन्न है। अमिया के मरने पर चंद कवि कहता है: "बहन, एक दिन कहीं-न-कहीं हम दोनों अवश्य मिलेंगे और हम दोनों के हृदयों की जो बात जीवन में असंपूर्ण रह गयी है उसे मृत्यु के पार पूरा करेंगे।"

'भग्न-हृदय' एक रोमांटिक गीति-नाट्य है, जिसकी कथा 'कवि की कहानी' से बहुत-कुछ मिलती-जुलती है। उन दिनों काव्य के रूप में किसी रोमांटिक अथवा वीर-रसपूर्ण कहानी रचने की प्रथा-सी बँगला साहित्य-क्षेत्र में प्रचलित थी। रवीन्द्रनाथ भी ऊपरी तौर से उसी प्रथा को अपनाते चले जा रहे थे—यद्यपि उनकी रूप-शैली और भावनात्मक दृष्टिकोण में सभी समसामयिक कवियों से भिन्न एक निजी विशिष्टता सुस्पष्ट दिखायी दे रही थी। पर धीरे-धीरे वह इस सत्य की उपलब्धि करते चले जा रहे थे कि उनकी प्रतिभा के पूर्ण प्रस्फुटन का वास्तविक माध्यम इस तरह की कथामूलक रोमांटिक रचनाएँ नहीं, बल्कि गीति-कविता है।

जिस पहली रचना द्वारा रवीन्द्रनाथ ने समसामयिक बँगला काव्यधारा से अपने को पूर्णतः मुक्त करने में सफलता पायी वह थी 'संध्या संगीत'। स्वयं रवीन्द्रनाथ ने अपनी काव्य-धारा को प्रगति का आदिम स्रोत माना है। 'संध्या संगीत' के पहले की अपनी सभी रचनाओं को (जिनकी संख्या बहुत बड़ी है) उन्होंने बचकाना साहित्य बताकर अत्यंत उपेक्षणीय माना है। उसके पहले की अधिकांश रचनाओं का प्रकाशन भी उन्होंने बंद करवा दिया था।

युग-विवर्तिनी कविता का सूत्रपात

'संध्या-संगीत' में हम पहली बार रवीन्द्रनाथ की काव्य-प्रतिभा की उस विशिष्टता का परिचय पाते हैं जिसके विकसित रूप ने आगे चलकर समस्त बंगाल के साहित्य-क्षेत्र में अभूतपूर्व क्रांति मचा दी थी और बाद में समग्र संसार के सर्वश्रेष्ठ साहित्य-समीक्षकों को चकित और मुग्ध कर दिया था। उनके अन्तर्मन में कई दिनों से अज्ञात रूप से उनकी आनेवाली नयी कविता शैली का रूप विकसित होता चला जा रहा था। जब वह उनके अज्ञात ही में उनके भीतर परिपक्व हो चुकी तब एक दिन उपयुक्त अवसर पाकर वह नयी काव्य-धारा के रूप में मुक्त भाव से फूटकर बह निकली।

यह 'उपयुक्त अवसर' कैसे आया इसका भी एक छोटा-सा इतिहास है। रवीन्द्रनाथ ने अपने एक संस्मरण में सूचित किया है कि एक दिन ज्योति-दादा और भाभी कादंबरी देवी सहसा ठाकुर-भवन त्यागकर कलकत्ते से बाहर किसी दूरस्थित स्थान में भ्रमण के उद्देश्य से चले गये। इन दो परम स्नेहशील आत्मीय जनों के चले जाने से सारा विशाल भवन एकदम शून्य लगने लगा। उनके मन की स्थिति उन दिनों ठीक वैसी ही हो गयी थी जैसी राम और सीता के वन चले जाने से अयोध्यावासियों की हुई होगी : "घर मसान परिजन जनु भूता।" बैरिस्टरी पास करने में असफल और व्यावहारिक जीवन के क्षेत्र में कोई कृतित्व दिखाने में असमर्थ नव-यौवन की देहली पर खड़े उस तीव्र अनुभूतिशील तरुण कवि को घर के सभी दूसरे लोग जब मन-ही-मन नितांत दया का पात्र समझ रहे थे, विराट जीवन की सर्वतोमुखी उपलब्धि के संबंध में उसकी जो महत्त्वाकांक्षा भस्माच्छादित अग्नि की तरह उसके अंतर में दहक रही थी; उसके प्रति एकदम उदासीन

होकर उसकी अन्तर्वेदना को तनिक भी समझने के लिये उत्सुक नहीं थे। तब स्वभावतः उसे उदार-हृदय ज्योति भैया और स्नेहमयी मझली भाभी के बिछोह की वेदना अत्यंत मार्मिक रूप से अनुभूत हुई होगी। ऐसी मनः-स्थिति में वह तीसरे खंड के कमरे और निर्जन छत पर एकांत अधिकार जमा कर अपनी उद्वेलित भाव-वेदना को गीति-कविता का रूप देने के लिये अत्यंत अधीर हो उठे और उनकी लेखनी से स्वतःस्फूर्त रूप से ये पंक्तियाँ फूट निकलीं :

चले गेलो सकलेइ चले गेलो गो !
बुक शुधू भेडे गेलो दले गेलो गो !

"चले गये, सभी चले गये ! हृदय को चूरकर, कुचलकर चले गये !" उपेक्षित कवि के भीतर का अभिमान 'संध्या-संगीत' की कविताओं में जैसे पत्थरों पर पछाड़ खाते रहनेवाले निर्झर की तरह फूल-फूलकर फेनायित हो उठा है। यह अभिमान अपने को छोड़कर चले जानेवाले स्नेही जनों के प्रति भी था और कृतित्व-रहित कवि को दया का पात्र समझनेवाले आत्मीय स्वजनों के प्रति भी था :

एमन महान् ए संसारे ज्ञानरत्न-राशिर माझारे

आपि दीन शुधू गान गाई,
तोमादेर मुख पाने चाई;
भालो यदि ना लागे ले गान,
भालो सखा, ताओ गाहिवो ना।

"इस महान् संसार में, ज्ञान-रत्न-राशि के बीच में मैं गरीब केवल गीत गाता हूँ और तुम लोगों के मुख की ओर देखता रहता हूँ। यदि मेरा गाना भी तुम लोगों को अच्छा नहीं लगता, तब अच्छी बात है, मैं उसे भी गाना छोड़ दूँगा।"

इस संग्रह की कविताएँ सभी एक विचित्र प्रकार की गीतात्मक निराशा की सहज उच्छ्वसित वेदना से भरी हैं। कविताओं के शीर्षकों से ही उसका

आभास मिल सकता है: 'सुख का विलाप', 'आशा का नैराश्य', 'तारे की आत्महत्या', आदि-आदि। पर कुछ कविताएँ ऐसी भी हैं जिनमें कवि की गहन दार्शनिक मनो-भावना का पता चलता है। इस कोटि की कविताओं में 'सृष्टि-स्थिति-प्रलय' और 'महाशून्य' का उल्लेख विशेष रूप से किया जा सकता है।

'सृष्टि-स्थिति-प्रलय' में सृष्टिकर्त्ता ब्रह्मा की कल्पना सृष्टि के आदि कवि के रूप में की गयी है:

देश शून्य, काल शून्य, ज्योतिः शून्य, महा शून्य परि
चतुर्मुख करिछेन ध्यान,
महा अंध अंधकार समये रमेछे दाँड़ाइया——
कबे देव खुलिबे नयान !
भावेर आनंदे भोर, गीतिकवि चारि मुखे
करिते लागिल वेदगान।
अनन्त भावेर दल, हृदय माझारे तॉर,
होतेछिलो आकुल-व्याकुल;
मुक्त होये कुटिलो ताहारा
जगतेर गंगोत्री-शिखर होते
शत-शत स्रोते
उच्छ्वसिलो अग्निमय विश्वेर निर्झर
बाहिरिलो अग्निमयी वाणी
उच्छ्वसिलो वाष्पमय भाव !

"देशशून्य, कालशून्य, ज्योतिःशून्य महाशून्य में ब्रह्मा ध्यानमग्न हैं। चारों ओर का विराट अंधकार भयभीत होकर स्थिर खड़ा है——इस आशंका से कि कब उनकी आँखें खुलेंगी, गीतिकवि ब्रह्मा भाव के आनन्द में विभोर होकर अपने चारों मुखों से वेदगान करने लगे। उनके हृदय में जो अनंत भाव-राशियाँ आकुल-व्याकुल हो रही थीं, वे सहसा मुक्त होकर

जगत् के गंगोत्तरी-शिखर से सौ-सौ स्रोतों में फूट पड़ी। विश्व का अग्निमय निर्झर उच्छ्वासित हो उठा, अग्निमयी वाणी फूट निकली और वाष्पमय भावराशि उड़ चली।"

उसके बाद नूतन प्राणों के उल्लास से और नवीन प्रेम के उच्छ्वास से विश्व जब उन्माद-ग्रस्त हो उठा तब अनंत आकाश पर खड़े होकर विष्णु ने मंत्र पढ़कर सर्वत्र मंगलमय आशीर्वाद बिखेर दिया। इस प्रकार जब असीम जगत् के चराचर एक महाछंद में बँध गये तब धीरे-धीरे विश्व अपने भीतर क्रांति की जड़ता का अनुभव करने लगा। तब सब महादेव की शरण में गये और बोले: "नियम का पाठ बहुत पढ़ चुके, अब खेलने की साध जगी है। हे देव, एक बार इस अनंत आकाश के बीच में हमें मुक्त रूप से बिखेर दो। मरण-गीत गाओ, जिससे हम फिर से जीवन प्राप्त कर उठें।"

सुनकर शूली ने प्रलय-पिनाक अपने हाथों में उठा लिया और अपने पैरों के नीचे सारे जगत् को दबा दिया। तत्काल जगत् के सारे बन्धन टूट गये। महाशून्य में छंदोमुक्त विश्व का आनंद-कोलाहल तरंगित होकर गरज उठा। रवि, शशि, ग्रह-तारा, धूमकेतु, सभी नियम बंधन से छिन्न होकर निर्बंध रूप से महाशून्य में बिखर गये! सृजन के आरंभ में अनादि अंधकार छाया हुआ था, सृजन के ध्वंस-युगान्तर में रह गया केवल असीम हुताशन!

यह कविता परवर्ती युग के महान् द्रष्टा और दार्शनिक विश्व-कवि के प्रारंभिक विकास का बहुत ही सुंदर परिचय देती है।

जो भी हो, यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि 'संध्या-संगीत' की कविताओं ने बंगाल के तत्कालीन काव्य-क्षेत्र में एक क्रांतिकारी भावधारा और पूर्णतः नयी शैली का आनयन किया। उस युग के सभी प्रमुख साहित्य-समीक्षकों ने एक स्वर से उसके महत्त्व और विशेषत्व की घोषणा की। उस युग के सर्वश्रेष्ठ साहित्य-सर्जक और साहित्यालोचक बंकिमचन्द्र चट्टो-पाध्याय ने इस कविता-संग्रह के प्रकाशन के उपलक्ष में तरुण कवि को कितना

बड़ा सम्मान प्रदान किया, इसका उल्लेख स्वयं कवि ने अपने एक संस्मरण में किया है। बात १८८२ के जून या जुलाई महीने की है। उस दिन विख्यात भारतीय पुरातत्त्ववेत्ता और साहित्यकार रमेशचन्द्र दत्त की लड़की का विवाह था। कलकत्ते के सभी विद्वान्, साहित्यकार और कवि उस विवाह में निमंत्रित थे। बंकिमचन्द्र दरवाजे पर पहुंचे ही थे कि रमेशचन्द्र दत्त उन्हें एक महान् साहित्यकार के रूप में सम्मानित करने के उद्देश्य से उनके गले में माला डालने जा रहे थे, इतने में तरुण कवि रवीन्द्रनाथ भी वहाँ पहुंच गये। बंकिम ने तुरंत वह माला रवीन्द्रनाथ के गले में डालते हुए कहा : "इस माला के वास्तविक अधिकारी यही हैं। रमेश, तुमने इनका 'संध्या-संगीत' पढ़ा है ?" रमेशचन्द्र के "नहीं" कहने पर बंकिम ने उसमें संगृहीत कविताओं की मुक्त प्रशंसा की। रवीन्द्रनाथ ने लिखा था कि इतना बड़ा सम्मान उन्हें जीवन में फिर दूसरा नहीं मिला।

'गुलाम-चोर'

अपने चिर-दिन के अभ्यास के अनुसार रवीन्द्रनाथ 'संध्या-संगीत' के युग में भी केवल कविताएँ ही लिखकर संतुष्ट न थे, वरन् 'भारती' के लिये विविध गद्य-प्रबंध लिखकर उनके द्वारा अपने काव्यात्मक दृष्टिकोण को सुस्पष्ट करके काव्यालोचन के क्षेत्र में एक नयी जमीन तैयार करते चले जा रहे थे। रवीन्द्रनाथ की उस युग की कविता उनकी परवर्ती प्रौढ़ कविता की तुलना में भले ही किसी हद तक अपरिपक्व लगती है, पर उनके निबंधों के संबंध में यह बात नहीं कही जा सकती। उस युग में भी उनके निबंधों में वही मौलिकता, जीवन की वही गहन अनुभूति, भाव-विश्लेषण की वही आश्चर्यजनक क्षमता और वही विचार-संतुलन पाते हैं, जिसका परिचय हमें उनके प्रौढ़ जीवन के निबंधों में मिलता है। इन निबंधों की संख्या बहुत अधिक और वे सब साहित्य अथवा जीवन से संबंधित हैं। इनमें से अधिकांश निबंधों को लिखने की प्रेरणा उन्हें उस युग के दूसरे ख्याति-प्राप्त लेखकों के विचारों से मूलगत मतभेद होने के कारण प्राप्त होती थी। उन दिनों बंकिम के 'वंगदर्शन' में कवि और काव्य के आदर्श के संबंध में प्रतिमास एक-न-एक निबंध निकलता रहता था। कविता क्या है, नयी कविता की प्रवृत्ति क्या है, वास्तविक कविता का स्वरूप और मापदंड क्या होना चाहिये, कवि किसे कहा जा सकता है, काव्य की विशेषता वस्तुगत होनी चाहिये या भावगत आदि मूलभूत प्रश्नों पर बंकिम के संपादन में 'वंगदर्शन' के लेखकगण (और स्वयं बंकिम भी) निरंतर विचार कर रहे थे। पर क्रांतिकारी नवयुवक रवीन्द्रनाथ को वे सब विचार बड़े ही रूढ़िवादी मालूम होते थे। इसलिये उन्हीं विषयों पर वह अपने नये और मौलिक विचारों को बड़े ही

तर्कपूर्ण ढंग से 'भारती' के माध्यम द्वारा उस युग के विशिष्ट साहित्य-पारखियों के आगे रखते चले जाते थे।

उदाहरण के लिये, 'वंगदर्शन' में कभी एक लेख निकला था "बंगाली कवि क्यों है?" विषय अपने-आप में विचित्र मूर्खतापूर्ण होने पर भी रवीन्द्रनाथ ने उसे अपने मौलिक विचारों की अभिव्यक्ति के लिये एक अच्छे साधन के रूप में ग्रहण किया और उसके उत्तर में उन्होंने एक लेख लिखा, जिसका शीर्षक रखा "बंगाली कवि क्यों नहीं है?"

'वंगदर्शन' के लेखक ने बंगाली कवि क्यों है, इस प्रश्न के उत्तर में जो प्रधान तर्क उपस्थित किया था वह इस प्रकार है: "कवित्व का प्रधान उपकरण अनुभावुकता और कल्पना है। जो भी व्यक्ति किसी भाव के आवेग को, भाव की तरंग को अपने हृदय में अनुभव करता है वही कवि है। जो कोई भी प्यार करना जानता है अथवा घृणा कर सकता है वही कवि है। बंगाली अशिक्षित अपरिमार्जित बुद्धि, सुसंस्कार-बद्ध होने पर भी उसकी भावानुभूति और कल्पना प्रबल है, इसलिये बंगाली कवि है।"

रवीन्द्रनाथ ने इस प्रबंध के उत्तर में लिखा कि केवल भाव या कल्पना होने से ही कोई कवि नहीं हो जाता। केवल वही व्यक्ति कवि हो सकता है, जिसमें भाव और कल्पना की तीव्रता के साथ ही द्रष्टा और स्रष्टा बन सकने की महान् क्षमता हो। इसके अलावा, केवल किसी भाव या कल्पना की अभिव्यक्ति मात्र ही कविता नहीं है। काव्य है समस्त मानव जीवन की गहन और व्यापक साधना की रसमयी अभिव्यंजना। और फिर, कल्पना कल्पना और भाव भाव में अंतर है। किसी क्लिष्ट कल्पना और दुर्बल भावुकता को आश्रय बनाकर कभी किसी महान् काव्य की सृष्टि नहीं हो सकती। बंगाली का जीवन पंगु होने के कारण उसकी भावात्मक कल्पना भी पंगु है और फलतः उसकी काव्य-साधना भी दुर्बल है। कल्पना बहुत बड़ी चीज है, यदि उसमें प्राणप्रवेग हो। किसी महान् मनीषी की कल्पना और साधारण काल्पनिकता में बहुत बड़ा अन्तर है। केवल साधारण भावानुभूति ही कवि बनने के लिये पर्याप्त नहीं होती। उसके लिये उच्च स्तर की

बौद्धिक कल्पना भी आवश्यक है। जो व्यक्ति अपनी सशक्त कल्पना के सहारे महान् वैज्ञानिक सत्यों को अंतर से ग्रहण नहीं कर सकता वह कवि श्रेष्ठ कवि नहीं हो सकता। मन और बुद्धि की यह गहनता और प्रसारता होने के कारण ही यूरोप में महान् वैज्ञानिकों, दार्शनिकों और कवियों के भाव-सूत्र एक दूसरे से संबद्ध पाये जाते हैं। जिस देश में शेक्सपीयर ने जन्म लिया है उसी देश में न्यूटन का भी जन्म हुआ है। जिस देश में विज्ञान और दर्शन संबंधी खोज साधना के स्तर तक पहुँच सकती है, उसी देश में वास्तविक काव्य की उत्पत्ति संभव होती है। पर बंगाली में जीवन-संबंधी साधना का नितांत अभाव होने के कारण न वह वैज्ञानिक है, न दार्शनिक। तब वह कवि कैसे हो सकता है ? आदि-आदि।

उस युग के बंगीय साहित्यकारों और साहित्यालोचकों को नवयुवक रवीन्द्रनाथ का यह तर्क निश्चय ही अप्रिय लगा होगा, पर उस कटु सत्य ने उनके अन्तर्प्राणों में एक स्वस्थ और मूलतः नयी भावनात्मक भूमि की स्थापना अवश्य ही की होगी। परवर्ती युगों में हम बंगाल के साहित्य-समीक्षकों के विचारों में जो उत्तरोत्तर परिवर्तन और उन्नति पाते हैं वह इस बात का प्रमाण है। ये विचार रवीन्द्रनाथ ने बीस वर्ष की आयु में प्रकट किये थे। इन विचारों का अध्ययन गहराई से करने पर हम देखेंगे कि रवीन्द्रनाथ के सारे जीवन की काव्य-साधना मूलतः भाव और बुद्धि के इस समन्वयात्मक दृष्टिकोण पर ही आधारित है। महान् भावात्मक सत्यों की उपलब्धि में वैज्ञानिक सत्यों की अवज्ञा उन्होंने कभी नहीं की। उन्होंने अपनी जीवन-साधना में किसी भी ऐसे भाव-सत्य को कभी नहीं अपनाया जिसका मूलगत आधार वैज्ञानिक सत्य न हो। यह ठीक है कि उन्होंने अपने जीवन में बड़े-बड़े विज्ञानोत्तर सत्यों की उपलब्धि की। पर उनकी यह उपलब्धि इसीलिये ठोस, स्थायी और महान् बन सकी कि उसके मूल आधार विशुद्ध वैज्ञानिक 'सत्य' ही थे। यदि हम इस तथ्य की अवज्ञा करेंगे तो रवीन्द्र-काव्य की मूलगत विशेषता को समझने में पग-पग पर भूल करेंगे। बीस वर्ष की अवस्था में 'संध्या-संगीत' के युग में काव्य-साधना के संबंध में उन्होंने जो पूर्वोक्त

विचार प्रकट किये थे, परवर्ती सैकड़ों साहित्यिक निबंधों में हम विभिन्न रूपों में उसी एक महान् सत्य के मूलसुर को बजता हुआ पाते हैं।

उसी निबंध में तरुण कवि ने तत्कालीन बंगला कविता के संबंध में लिखा था: "आधुनिक वंग कविता में मनुष्य की बहुविध मनोवृत्तियों की क्रीड़ा नहीं देखी जाती। विरोधी मनोवृत्तियों के बीच संघर्ष का कोई आभास नहीं पाया जाता। किसी महत् भाव की अभिव्यंजना का नितांत अभाव है। केवल हृदय के कुछ छिछले और अस्पष्ट भावों को लेकर कविता-रचना चल रही है।"

आगे चलकर उसी निबंध में उन्होंने कहा था: "वाह्य प्रकृति और वाह्य जीवन के प्रति उदासीनता का स्पष्ट परिचय हमारी कविता में मिलता है। पश्चिम में मानव-समाज के बीच निरन्तर जो संग्राम और द्वन्द्व चल रहा है उसीके अनवरत समुद्र-मंथन से वहाँ महाप्राण व्यक्तियों की उत्पत्ति होती चली जा रही है। पर हमारे जीवन में न वह संग्राम है न वह उन्नत और परिष्कृत आनंद। इसीलिये यहाँ सब-कुछ संकुचित और पंगु है। ऐसे देश की कविता में महान् चरित्र-वैचित्र्य कहाँ से पाया जा सकता है?"

१८८२ में प्रकट किये गये ये विचार ऐसे गंभीर, प्रौढ़ और नवीन लगते हैं कि यदि रवीन्द्रनाथ आज जीवित होते तो संभवतः इसी उक्ति को दुहराते। कई बार उन्होंने दुहराया भी है।

केवल साहित्य और जीवन पर ही नहीं, विज्ञान, धर्म, समाज और राजनीति पर भी बड़े चुटीले और क्रांतिकारी निबंध लिखकर वह 'भारती' में छपाते जाते थे। साथ ही हास्य, व्यंग और विनोद संबंधी निबंध, कविताएँ, नाट्य आदि भी निरंतर लिखते रहते थे। उनके तत्कालीन निबंधों के कुछ शीर्षकों से ही उनकी विनोदी और व्यंगात्मक प्रवृत्ति का परिचय मिल सकता है। 'अकारण कष्ट', 'चर्व्य-चोष्य-लेह्य-पेय', 'गुलामचोर', 'दरबान', 'निमंत्रण सभा' आदि-आदि। 'अकारण कष्ट' में उन्होंने समसामयिक बंगाली कवियों के निराधार रोमांटिक विलाप की हँसी उड़ायी, जिन्हें कभी किसी से प्रेम करने का अवसर नहीं मिला; तथापि जो प्रेम-संबंधी

वैयक्तिक वेदना का झूठा राग अलापते जाते थे। 'चर्व्य-चोष्य-लेह्य-पेय' में उन्होंने लिखा कि उक्त चार प्रकार के भोजन और पान की प्रथा सनातन है, पर आधुनिक युग में इस संबंध में एक पाँचवें तत्त्व का आविष्कार हुआ है; वह है धूम्रपान। यह पंचम तत्त्व जीवन-रक्षा के लिये अपरिहार्य नहीं है। उसका आविष्कार प्रयोजनातीत आनंद के लिये ही मनुष्य ने किया है। इस धूम्रपान की तरह ही साहित्य में औपन्यासिक शैली की उत्पत्ति हुई है, क्योंकि उपन्यास-पाठ का उद्देश्य ज्ञानालोचन नहीं, बल्कि प्रयोजनातीत आनंद प्राप्त करना है! इस प्रकार इस परम परिहास-रसिक तरुण कवि-आलोचक ने उपन्यास-साहित्य को धूम्रपान के अंतर्गत रखकर जो हास्य किया उसके द्वारा भी एक महत्त्वपूर्ण साहित्यिक सत्य की स्थापना में सफलता पायी।

'गुलाम-चोर' शीर्षक निबंध में ताश के एक प्रसिद्ध और पुराने खेल का रूपक बाँधकर विवाह के देवता——प्रजापति——को उस खेल में ताश बाँटने वाले के रूप में दिखाया गया। इस खेल में दो-दो पत्तों को मिलाकर अलग रख लेना होता है——जैसे दो सत्ते, दो अट्ठे, दो एक्के आदि। बाईं ओर वाले खिलाड़ी का पत्ता दाईं ओर वाला अंदाज से खींचता है। इस प्रकार समय पर सबके सब पत्तों के जोड़े मिल जाते हैं। केवल एक गुलाम फालतू रह जाता है। उस गुलाम का जोड़ा बाँटने में नहीं रखा जाता। अंत में जिस आदमी के हाथ में वह गुलाम रह जाता वह 'गुलाम-चोर' सिद्ध होकर सबके उपहास का पात्र बनता है।

अविवाहित रवीन्द्र ने इस निबंध में लिखा: "हमारे देश की विवाह-प्रथा 'गुलाम-चोर' खेल की ही तरह मनोरंजक है। प्रजापति (विवाह के देवता) ने सब खिलाड़ियों को ताश बाँट दिये हैं। अंदाज से पत्ता खींचना होता है; क्या पत्ता है यह पहले से जानने का कोई उपाय नहीं है। जिन-जिन पत्तों के जोड़े मिल गये वह पहले से परस्पर-अपरिचित दंपति की तरह विवाह-सूत्र में जुड़ गये। शेष अविवाहित ताश अनुमान से जोड़े की खोज में व्यस्त रह गये। यहाँ पर मैं सर्वसाधारण को जता देना चाहता हूँ

कि मैं एक अविवाहित ताश हूँ, मेरे जोड़े का ताश किसके हाथ में है यह जानना चाहता हूँ। मेरे बंधु-बांधव मुझे गुलाम बताते हैं, जिसका मेल त्रिभुवन में कहीं नहीं है। जिस-किसी भी लड़की के पिता मुझे खींचेंगे उन्हें 'गुलाम चोर' बनना पड़ेगा।"

इनके अतिरिक्त उनके लिखे हुए राष्ट्रीय तथा अन्तरराष्ट्रीय विषयों पर बहुत से गंभीर निबंध भी 'भारती' में छपते रहते थे। अर्द्ध-सरकारी अँगरेजी पत्रों में भारतीय राष्ट्र तथा भारतीय जनता के विरुद्ध जो अत्यंत अपमानकर लेख निकलते रहते थे, प्रेस ऐक्ट के बावजूद उनका कड़ा व्यंगात्मक उत्तर बीस वर्षीय रवीन्द्रनाथ अपने लेखों द्वारा देते रहते थे। चीन में अफीमखोरी उन दिनों बहुत चलती थी, जिसके प्रचार और प्रसार में विदेशी व्यवसायियों का बहुत बड़ा हाथ था। अपने घृणित स्वार्थ के लिए एक जाति की जाति को विनाश के गढ़े में ढकेलने को कटिबद्ध इन नरघातियों की अमानुषिकता के विरुद्ध बड़े ही कड़े लेख उन्होंने लिखे।

इस प्रकार साहित्य-समाज और पत्र-जगत् में एक नयी क्रांति, एक नयी चेतना की लहर, नवयुवक कवि के अथक प्रयत्नों से, 'भारती' के माध्यम से, धीरे-धीरे निश्चित गति से फैलती चली जा रही थी।

निर्झर का स्वप्नभंग

उन दिनों बंगाल के साहित्य-क्षेत्र में बंकिमचंद्र का प्रताप पूर्ण रूप से छाया हुआ था। बंकिमचंद्र असंदिग्ध रूप से अत्यंत शक्तिशाली लेखक थे। उनकी प्रतिभा भी बहुमुखी और विराट-वादिनी थी। वह जितने ही बड़े विद्वान् थे उतने ही बड़े साहित्य-सर्जक भी थे। जितने ही उच्चकोटि के साहित्यालोचक थे उतने ही महान् जीवन-द्रष्टा भी थे। समाज-शास्त्र, धर्मतत्त्व आदि सभी महत्त्वपूर्ण विषयों में उनकी पैठ बड़ी गहरी थी और आदर्श भी उतना ही ऊँचा, व्यापक और स्वस्थ था। जीवन और जगत् के संबंध में उनका दृष्टिकोण जितना ही क्रांतिकारी था उतना ही समन्वयात्मक भी। साम्यवाद पर सबसे पहली पुस्तक भारतवर्ष में बंकिमचंद्र ने ही लिखी थी और गीता का सर्वप्रथम क्रांतिकारी भाष्य भी उन्होंने लिखा था। तब तक इस देश में शांकर भाष्य का ही प्रभाव छाया हुआ था, जिसका झुकाव सुस्पष्ट रूप से सांख्ययोग और कर्मत्याग की ओर है। बंकिम ने युग के नये प्रकाश में गीता के भीतर निहित एक ऐसे प्रचंड सत्य को उघाड़कर रखा, जिस पर तब तक गीतावादियों ने विशेष ध्यान नहीं दिया। उन्होंने यह प्रमाणित किया कि निःसंग कर्मयोग ही गीता का प्रमुख-प्रतिपाद्य विषय है। उस युग में इस देश की भाग्यवादी और जड़-भावापन्न जनता में प्रचंड कर्म की प्रवृत्ति जगाने की बहुत बड़ी आवश्यकता थी। इसलिये बंकिम के इस भाष्य का बहुत बड़ा प्रभाव समाज पर पड़ा। स्मरण रहे कि लोकमान्य तिलक के गीता-रहस्य लिखने के कई दशाब्दियों पूर्व बंकिम ने कर्मयोग की महत्ता प्रमाणित की थी। कृष्ण-चरित्र की एक नयी समन्वयात्मक व्याख्या करके उस बिखरे हुए प्राचीन आदर्श को नये सुंदरतर

और अधिक सच्चे रूप में संयोजित करके देश के आगे रखा। अपने उपन्यासों द्वारा राष्ट्रीय जागृति की एक अदमनीय लहर उन्होंने फैलायी। 'वंगदर्शन' नामक मासिक पत्र उनकी साहित्य-सर्जना और विविध-विचार प्रकाशन का प्रमुख माध्यम था।

रवीन्द्रनाथ बचपन से ही 'वंगदर्शन' के बड़े ही प्रेमी और नियमित पाठक थे। बहुत छोटी उम्र में ही बंकिम की बहुमुखी प्रतिभा का जो गहरा प्रभाव उन पर पड़ा था वह बाद में भी नहीं मिट पाया। यह रवीन्द्रनाथ का बहुत बड़ा सौभाग्य था कि बंकिम की शक्तिशाली परंपरा के बीच में उन्हें अप ी प्रतिभा के विकास का सुयोग प्राप्त हुआ था। पर चूँकि स्वयं उनके भीतर बंकिम से कुछ कम प्रचंड प्रतिभा के बीज नहीं थे, इसलिये बंकिम की सर्व-व्यापी छाया से युक्त होने की प्रवृत्ति भी उनमें प्रारंभ ही से तीव्र रूप में वर्तमान थी। इसलिये जहाँ एक ओर वह बंकिम की साहित्य-धारा और विविध-विषयक विचारों से प्रभावित होकर उनका अनुकरण करने से बाज न आते थे वहाँ, दूसरी ओर, अपने विभिन्न आलोचनात्मक निबंधों में बंकिम की कमियों को दिखाने के प्रयत्न में भी पीछे नहीं रहते थे। साथ ही वह यह भी जानते थे कि उस निर्विवाद रूप से शक्तिशाली, वैचित्र्य-पूर्ण, स्वस्थ और कल्याणोन्मुखी प्रतिभा में त्रुटियाँ प्रमाणित कर सकने की वास्तविक क्षमता तभी प्राप्त हो सकती है जब उनसे साहित्य-सर्जना के विविध क्षेत्रों में भी होड़ लगायी जा सके। इसलिये काव्यों, नाटकों और निबंधों के अतिरिक्त नवयुवक रवीन्द्रनाथ उपन्यास लिखने की ओर पूरी दिलचस्पी से प्रवृत्त हुए।

'संध्या-संगीत' के बाद 'बौठाकुरानीर हाट' नामक एक अर्द्ध-ऐतिहासिक रोमांटिक उपन्यास धारावाहिक रूप से 'भारती' में प्रकाशित होकर पुस्तकाकार छपा। अपने इस उपन्यास से बीस वर्षीय नवयुवक कवि को मन-ही-मन बहुत बड़ी आशाएँ थीं। इसलिये साहित्य में 'ट्रेजेडी' का वास्तविक रूप और महत्त्व क्या है, इस संबंध में आलोचना करते हुए, प्राचीन और अर्वाचीन, पाश्चात्य तथा भारतीय साहित्य से उदाहरण उपस्थित करने

के बाद उन्होंने यह दिखाया कि 'बौठाकुरानीर हाट' में ट्रेजेडी का तत्त्व क्यों और कहाँ पर है। इसी सिलसिले में उन्होंने बंकिम के उपन्यासों की भी आलोचना की। उन्हें वह छोड़ नहीं सकते थे, क्योंकि उस युग के आदर्श उपन्यास वे ही थे, और स्वयं रवीन्द्रनाथ को उनसे प्रेरणा प्राप्त हुई थी। पर चूँकि उन्हीं उपन्यासों से उन्हें प्रतियोगिता करनी थी, इसलिये उनकी आलोचना भी आवश्यक थी। यहाँ पर सत्य की खातिर इतना बता देना आवश्यक है कि बंकिम की कुछ विशेष रचनाओं की त्रुटियाँ दिखाते हुए भी रवीन्द्रनाथ ने उनकी सर्जनात्मक कला संबंधी प्रतिभा की बड़ी प्रशंसा की, और जो त्रुटियाँ भी दिखायीं वे ऐसी थीं जिन पर वह उस उम्र में भी ईमानदारी से विश्वास करते थे और बाद में भी करते रहे।

पर यह सब होने पर भी 'बौठाकुरानीर हाट' साहित्य-जगत् में कुछ विशेष सम्मान न पा सका। समसामयिक अँगरेजी तथा बँगला पत्रों में उसकी जो आलोचना हुई वह तनिक भी उत्साह-वर्द्धक नहीं थी। और अगर उस उपन्यास के संबंध में कहीं से प्रोत्साहन मिला तो वह बंकिमचंद्र से—जिनके 'आनन्दमठ' की तीव्र आलोचना उन्होंने की थी! बंकिम की पैनी दृष्टि ने रवीन्द्रनाथ के रूप में एक नयी, क्रांतिकारी और सशक्त प्रतिभा का प्रारंभिक रूप देख लिया था। वह इस तरुण कवि-लेखक की प्रत्येक रचना को बड़े ही मनोयोग से और प्रेमपूर्वक पढ़ते रहते थे और उसे प्रोत्साहित करने का कोई भी अवसर नहीं चूकते थे।

'बौठाकुरानीर हाट' लिखने के साथ ही रवीन्द्रनाथ की काव्य-प्रतिभा प्रचंड प्रवेग से उमड़ती हुई तूफानी लहरें उठाती चली जा रही थी। 'संध्या-संगीत' में जिस नयी शैली का उद्भावन उन्होंने किया था उसी को आगे बढ़ाते हुए उन्होंने 'प्रभात-संगीत' के युग की कविताएँ लिखीं। पर इन नयी कविताओं में उनकी भाव-भूमि एकदम बदल गयी थी। 'संध्या-संगीत' की कविताओं को लिखते समय जिस रोमांटिक विषाद की भाव-छायाओं के जिन बादलों ने उनके हृदय को छा रखा था, वे एक नयी अनुभूति के प्रकाश से फट गये थे और उस निर्मुक्त हृदयाकाश में अभिनव ज्योति-तरंगें खेलने

लगी थीं। उनकी सुप्रसिद्ध रचना 'निर्झरेर स्वप्न-भंग' इसी नवोदित युग की पहली कविता थी। इस कविता में रवीन्द्रनाथ के परवर्ती युगों की संपूर्ण जीवन-साधना के आदर्श का पूर्वाभास उनके अज्ञात ही में प्रस्फुटित हो उठा था, यह बात उन्होंने स्वयं 'जीवन-स्मृति' में स्वीकार की है। कवि के अन्तस्तल में दबी हुई गहरी अनुभूतियों और उदात्त भावों की जो निर्बंध धारा समस्त मानसिक उलझनों, कुण्ठाओं और अवरोधों के पाषाणों को हटाकर इस कविता द्वारा निर्झर के उन्मुक्त प्रवाह के रूप में बह निकली, वही आगे चलकर विकसित होती चली गयी और कल-प्रवाहिणी भागीरथी में परिणत होकर अपने कूलों-उपकूलों को शस्य-श्यामला बनाती हुई, अपनी अन्तर्साधना द्वारा विश्व-जीवन के महासागर में मिलित होने के लिये निरंतर आगे बढ़ती चली गयी।

मोहितचंद्र सेन द्वारा संपादित जो रवीन्द्र-काव्य-ग्रंथावली १९०४ में प्रकाशित हुई थी, उसमें 'संध्या-संगीत' तथा उसके आस-पास के युग की कविताओं को जिस वर्ग में स्थान मिला है उसका नामकरण किया गया था 'हृदय-अरण्य'। यह नामकरण संभवतः स्वयं कवि ने ही किया था। 'हृदय-अरण्य' के युग में कवि के अंतर में उठनेवाली अनुभूतियाँ गहन होने पर भी अस्पष्ट और उलझी हुई थीं और हृदय के विशाल-श्यामल-अरण्य में जैसे भटकती फिरती थीं। 'प्रभात-संगीत' के युग की कविताओं का नाम दिया गया था 'निष्क्रमण,' जिससे स्पष्ट ही यह ध्वनि निकलती है कि इस युग में कवि हृदय-रूपी अरण्य के अंधकार और उलझनों से मुक्त होकर जीवन के प्रकाशमय प्रांगण में प्रवेश कर चुका है :

भाङ भाङ भाङ कारा आघाते आघात कर!
ओरे आज कि गान गेयेछे पाखी
एयेछे रविर कर!

"तोड़ो तोड़ो तोड़ो इस कारा को, और प्रहार पर प्रहार करो! ओ

भाई, आज न जाने क्या गान भोर के पंछी ने गाया ! आज (मेरे प्राणों की अँधेरी गुहा में) सूरज की किरणें प्रवेश कर गयी हैं ! "

आजिके एकटि पाखी पथ देखाइया मोरे
आनिलो ए अरण्य बाहिरे,
आनन्देर समुद्रेर तीरे

"आज एक पंछी मुझे पथ दिखाकर, मुझे इस हृदय-अरण्य के बाहर निकालकर, आनन्द-सागर के तीर-पर ले आया।"

अपने हृदय की असंख्य उलझनों से मुक्त होकर, छोटे-छोटे वैयक्तिक सुख-दुःखों, हृदयावेगों और उच्छ्वासों के ऊपर उठकर जब कवि ने श्यामला विपुला पृथ्वी के जीवन-वैचित्र्य पर अपनी द्वन्द्व-रहित दृष्टि प्रेरित की तब एक ऐसा अपार सौन्दर्य-सागर उनकी आँखों के आगे लहरा उठा, जिसके ऊपर जीवन की मूल प्राण-धाराएँ सौ-सौ तरंगों में उच्छ्वसित हो रही थीं। 'प्रभात-संगीत' के बाद उनका जो दूसरा काव्य-संग्रह 'छवि ओ गान' नाम से निकला और उस संग्रह के बाद भी जो कविताएँ उन्होंने लिखीं उनमें वाह्य और अंतर-जीवन के विविध रूपों की यही सहज आनंद अनुभूति रस बनकर छलक उठी है।

इसी युग में कवि ने 'प्रकृतिर प्रतिशोध' नामक एक काव्य-नाट्य लिखा। इस नाटक में हम पहली बार कवि की नाटकीय कला में प्रौढ़ता का परिचय पाते हैं। इसमें दिखाया गया है कि किस प्रकार एक गृहत्यागी संन्यासी अपनी साधना के बीच में एक अनाथ अछूत कन्या के प्रति पिता की-सी ममता का अनुभव करके जीवन-बंधन में बँध जाता है और फिर उस बंधन से मुक्त होने के लिये छटपटाने लगता है। तीव्र अन्तर्द्वन्द्व के बाद वह इस सत्य की उपलब्धि करता है कि वास्तविक मुक्ति वैराग्य-साधना द्वारा नहीं, बल्कि जीवन के सहस्र बंधनों के बीच से ही प्राप्त हो सकती है। यह 'थीम' रवीन्द्रनाथ को बहुत ही प्रिय था और उनकी परवर्ती अनेक रचनाओं में विविध रूपों में इसकी अभिव्यक्ति हुई है।

विवाह

कुछ समय पूर्व अविवाहित रवीन्द्रनाथ ने जो 'गुलाम-चोर' शीर्षक हास्यरसपूर्ण निबंध लिखा था, उसके भीतर निहित गंभीर श्लेष का प्रभाव उनके अभिभावकों पर पड़ा। तब से कवि के विवाह की चिंता उन लोगों के सिरों पर सवार हो गयी। योग्य कन्या खोजी जाने लगी। 'योग्य कन्या' से अभिभावकों का आशय उत्तम गोत्र की कुलीन ब्राह्मण-कन्या से था। रवीन्द्रनाथ के पिता देवेन्द्रनाथ यद्यपि अपने युग के प्रसिद्ध समाज-सुधारक माने जाते थे और आदि-ब्राह्म-समाज के प्राण थे, तथापि ब्राह्मणत्व-संबंधी मनोग्रंथि से वह कभी मुक्त न हो सके। ठाकुर-परिवार के लोग जिस 'पीराली ब्राह्मण' कुल के वंशज थे वह यद्यपि कुलीन ब्राह्मणों द्वारा वहिष्कृत और परित्यक्त था, तथापि वे लोग अपनी आर्थिक और सामाजिक प्रतिष्ठा के बल पर बराबर उच्च-कुल के ब्राह्मण पात्र-पात्रियों को खोज-खोजकर उन्हीं के साथ अपने परिवार की लड़कियों और लड़कों का विवाह करते थे। रवीन्द्रनाथ के ससुर वेणीमाधव राय चौधरी देवेन्द्रनाथ की जमींदारी के एक साधारण कर्मचारी थे। सामाजिक, आर्थिक अथवा सांस्कृतिक, किसी भी दृष्टि से ठाकुर-परिवार की परंपरा से उनका कोई मेल नहीं बैठता था। पर उनका कुल और गोत्र बहुत उच्च और सम्मानित था। चूँकि विवाहादि संबंधी मामलों में देवेन्द्रनाथ इसी बात को अधिक महत्त्व देते थे, इसलिये उन्होंने इस विवाह में प्रसन्नता से अपनी सहमति दे दी। पुत्र रवीन्द्रनाथ अपने पिता के प्रति एक प्रकार से अंधश्रद्धा रखते थे और उनकी किसी भी इच्छा या आदेश के विपरीत आचरण उन्होंने जीवन में कभी नहीं किया—फिर चाहे वह इच्छा या आदेश कैसा ही असंगत या अयौक्तिक क्यों न हो।

इसलिये यह जानते हुए भी कि उनका विवाह एक ग्यारह वर्ष की देहाती लड़की से होने जा रहा है, रवीन्द्रनाथ ने विरोध की आवाज तनिक भी नहीं उठायी।

इसके पूर्व अपनी भावी जीवन-संगिनी के संबंध में उनके मन में तरह-तरह की विचित्र कल्पनाएँ धूप-छांह का खेल खेला करती थीं। यूरोप के नारी-समाज की स्वतंत्रता का पक्ष-समर्थन करते हुए उस पाश्चात्य आदर्श को अपने यहाँ के प्राचीन आदर्श से समन्वित करके योग्य जीवन-संगिनी की जो प्रतिमा उन्होंने निर्धारित की थी, उसमें कम से कम कालिदास के "गृहिणी सचिवः सखी मिथः प्रियशिष्या ललिते कलाविधौ" का आदर्श तो निहित था ही। पर ग्यारह वर्ष की जिस देहाती लड़की से उनका गठजोड़ा होने जा रहा था उसके साथ उक्त आदर्श की चरितार्थता की संभावना प्रकट में कुछ विशेष न होने पर भी उसके लिये उन्होंने अपनी मौन सहमति दे दी। रवीन्द्रनाथ के चिर-रहस्यमय स्वभाव की इस विचित्रता पर बहुत से पाठकों को आश्चर्य होगा। पर यदि हम गहराई से इस विषय पर विचार करें तो इस आश्चर्य की तीव्रता बहुत-कुछ कम हो जायगी।

रवीन्द्रनाथ की सहमति का एक कारण पहले ही बताया जा चुका है। अपने श्रद्धेय पिता की किसी भी इच्छा या आदेश के विरुद्ध चलना वह पसंद नहीं करते थे। दूसरा कारण यह हो सकता है कि परिस्थितियों के कारण जन्म से ही शहराती वातावरण में बंधा रहने पर भी उनका प्रकृति-प्रेमी प्राण देहात के निर्मुक्त जीवन के प्रति ज्ञात या अज्ञात में बराबर एक निराले आकर्षण का अनुभव किया करता था। शहराती लड़कियों के जीवन की कृत्रिमता से वह भली भाँति परिचित हो चुके थे। इसलिये उनके मन के किसी कोने में यह विश्वास निश्चय ही घर किये होगा कि देहाती वातावरण में पली लड़की भले ही अल्प-शिक्षित और असंस्कृत हो, उसका हृदय निश्चय ही स्वस्थ होगा। उनके विवाहित जीवन के संबंध में जितने भी तथ्य प्राप्त हुए हैं उनसे यही प्रमाणित होता है कि उनके विश्वास ने उन्हें धोखा नहीं दिया।

कुंडली के अनुसार उनकी ग्यारह वर्षीय पत्नी का नाम था भवतारिणी। विवाह होने पर ससुराल में उनका नाम रखा गया मृणालिनी। संभवतः यह नया नाम स्वयं रवीन्द्रनाथ ने ही रखा था। मृणालिनी देवी में कोई ऐसी विशेषता नहीं थी जो किसी तीव्र अनुभूतिशील रोमान्टिक कवि को आकर्षित कर सके। पर रवीन्द्रनाथ एक दूसरे ही कैड़े के आदमी थे। रोमान्टिक और रहस्यमयी अनुभूति की चरम सीमा को छूते हुए भी वह यथार्थवादी थे। यदि हम उनके स्वभाव के इस पहलू की अवज्ञा करेंगे तो उनके व्यक्तित्व के सर्वांगीण विकास की वास्तविकता को समझने में बहुत बड़ी भूल करेंगे। यह सच है कि मृणालिनी देवी वास्तविक अर्थ में उनकी सचिव और "प्रिय शिष्या ललिते कलाविधौ" न बन सकीं। पर वह बहुत योग्य गृहिणी थीं। इसलिये जीवन-संगिनी के संबंध में उनके आदर्श की पूर्ण पूर्ति जब परिस्थितियों के कारण संभव न हो सकी तब उन्होंने अपनी पत्नी के गृहिणी रूप से ही संतोष कर लिया। कभी किसी इंगित से भी उन्होंने किसी पर यह प्रकट न होने दिया कि अपने वैवाहिक जीवन से वह संतुष्ट नहीं हैं। पत्नी के प्रति वह बराबर स्नेहशील और सहानुभूति-परायण रहे।

देवेन्द्रनाथ इस विवाह में उपस्थित न हो सके थे। वह उन दिनों नदी-पथ से नौका द्वारा निरुद्देश्य भ्रमण कर रहे थे। बाँकीपुर पहुँचने पर उन्हें समाचार मिला कि उनकी शिलाइदह की जमींदारी में उनके सबसे जेठे दामाद सारदाप्रसाद की मृत्यु हो गयी है। यह अत्यंत दुःखद घटना ठीक उस दिन घटी थी जिस दिन रवीन्द्रनाथ का विवाह हुआ था। वह नाव छोड़कर रेल द्वारा पटने से बोलपुर गये। वहाँ से कलकत्ता गये। केवल तीन दिन वह जोड़ासाँको वाले ठाकुर-भवन में रहे। उसके बाद उस भवन से जो बाहर निकले तो फिर मृत्यु-पर्यंत वहाँ उन्होंने पाँव न रखा।

सबसे छोटी बहू को आशीर्वाद देकर महर्षि उसकी शिक्षा का पूरा प्रबंध करने का आदेश अपने लड़कों को दे गये। जब पत्र द्वारा उनसे यह निवेदन किया गया कि नयी बालिका-वधू को 'लारेटो हाउस' में अँगरेज लड़कियों के

साथ पढ़ने को भेजने की अनुमति दी जाय तब उन्होंने वह बात भी बिना बहस के मान ली।

विवाह हो जाने के बाद सभी भाइयों तथा ठाकुर परिवार के दूसरे आत्मीयों ने आपस में यह तय किया कि इस शुभ कार्य के उपलक्ष में एक नाटक खेला जाय। इस अवसर के लिये रवीन्द्रनाथ ने एक नया नाटक लिखा। उसका नाम रखा 'नलिनी'। किसी विशेष मनोवैज्ञानिक कारण से यह नाम रवीन्द्रनाथ को बराबर बहुत प्रिय रहा है। विलायत जाने के पूर्व बंबई में जो लड़की उन्हें अँगरेजी बोलना और अँगरेजी अदब व कायदा सिखाती थी उसका नाम भी रवीन्द्रनाथ ने नलिनी ही रखा था। अपनी पत्नी का नया नामकरण उन्होंने किया 'मृणालिनी' जो 'नलिनी' का ही रूपान्तर है। इसके पूर्व उनके कई नाटकों, कहानियों और काव्यों में नायिका अथवा प्रधान पात्री का नाम नलिनी ही रखा गया था। इस बार नाटक का ही नाम 'नलिनी' रखा गया।

पर दुर्भाग्य से यह नाटक खेला न जा सका। ठाकुर परिवार पर जैसे मृत्युदूतों ने सहसा संगठित रूप से आक्रमण कर दिया। रवीन्द्रनाथ के विवाह के कुछ ही समय बाद उनके जीवन की सबसे अधिक प्रिय और मान्य सहचरी, सबसे प्रिय भाई ज्योतिरिन्द्रनाथ की पत्नी कादंबरी देवी ने एक दिन सहसा आत्महत्या कर ली। आत्महत्या का कोई भी सुस्पष्ट कारण किसी के आगे प्रकट न हो सका। पर अपनी स्नेहशीला भाभी के अंतर और बाहर बहुत निकट से रहनेवाले रवीन्द्रनाथ से वह कारण छिपा रहा होगा, यह संभव नहीं लगता। मृत्यु और उस पर भी अकस्मात् आत्महत्या द्वारा घटित मृत्यु के क्रूर और मर्मभेदी रूप का यह पहला परिचय रवीन्द्रनाथ को हुआ। उसके पहले वह अपनी माता की मृत्यु देख चुके थे। उससे वह दुखी अवश्य हुए थे, पर जैसे पहले ही से उसके लिये तैयार थे और जानते थे कि सत्रह संतान की जननी उनकी रुग्ण माता अधिक जीएँगी नहीं। इसलिये शोक तथा आतंक की जिस तीव्र अनुभूति ने उन्हें कादंबरी की मृत्यु पर धर दबाया उसका तनिक भी अनुभव उन्हें माता की मृत्यु से नहीं हुआ था। जब रवीन्द्रनाथ

सात सालके बच्चे थे तब कादंबरी देवी ने नव-वधू के रूप में ठाकुर-भवन में प्रवेश किया था। वह रवीन्द्रनाथ से केवल तीन साल बड़ी थीं। तभी से वह रवीन्द्रनाथ की खेलने और पढ़ने-लिखने की संगिनी बन गयी थीं। उनकी माँ की मृत्यु के बाद शोक की बहुत बड़ी पूर्ति भी कादंबरी देवी ने ही अपने स्नेह द्वारा की थी। स्त्रियों में सयानापन बहुत जल्दी आता है ! स्नेह और सौहार्द की दुनिया में किसी बालक से तीन वर्ष की ज्येष्ठता किसी बालिका के लिये बहुत अधिक होती है। इसलिये बालक और बाद में नवयुवक रवीन्द्रनाथ को अपनी इस सुंदरी और स्नेहशीला भाभी से बहुत अधिक दुलार प्राप्त हुआ था——विशेषकर उस स्थिति में जब सारे परिवार के लोग व्यावहारिक जीवन के क्षेत्र में कवि को 'निकम्मा' साबित हुआ देखकर उनकी उपेक्षा करने लगे थे। कवि के साहित्यिक जीवन का जब निर्माण हो रहा था, तब कादंबरी देवी ने इस क्षेत्र में भी उन्हें निरंतर प्रोत्साहित किया। ऐसी हालत में जब अकस्मात् उनके विवाह के ठीक बाद ही उनकी प्रिय भाभी ने आत्महत्या कर ली तब तरुण कवि के हृदय के एक निगूढ़तम स्थान में ऐसी चोट पहुँची कि वह घाव फिर आजीवन न भर सका। उनकी विविध रचनाओं में वह वेदना फूट पड़ी है। उनमें कई रचनाएँ प्रौढ़ावस्था की हैं और उनकी सर्वश्रेष्ठ कृतियों में स्थान अधिकार किये हुए हैं।

कादंबरी देवी की मृत्यु के ठीक एक वर्ष बाद——संभवतः उनके श्राद्ध दिवस पर——रवीन्द्रनाथ ने 'पुष्पांजलि' नाम से एक गद्य-कविता लिखी और बाद में इसी माला में और भी गद्य-कविताएँ प्रायः उसी ढंग की लिखीं। उनमें से एक के कुछ अंशों का अनुवाद नीचे दिया जाता है।

"हे जगत द्वारा विस्मृत किंतु मेरे चिरस्मृत ! पहले तुम्हें जिस तरह गीत गाकर सुनाता था अब क्यों नहीं सुना पाता ? मैं जो-कुछ भी लिख रहा हूँ सब तुम्हारे लिये। कहीं तुम मेरा चिर-परिचित कंठस्वर भूल न जाओ, अनन्त पथ पर चलते-चलते यदि कभी दैवयोग से तुम्हारा और मेरा मिलन फिर से हो जाय तब कहीं तुम मुझे पहचान न पाओ, इसलिये प्रतिदिन तुम्हें

स्मरण करके अपने हृदय की जो बातें कह रहा हूँ, तुम उन्हें क्या सुन नहीं पा रही हो ? एक दिन ऐसा आयेगा जब इस पृथ्वी पर मेरी कोई भी बात किसी को याद नहीं रहेगी--पर क्या तुम भी मेरी दो-एक बातें स्नेहपूर्वक याद न रखोगी ? मेरी जिन सब रचनाओंको तुम इतने प्रेम से सुना करती थीं, जो रचनाएँ तुमसे घनिष्ठ रूप से संबंधित थीं, आज तुम्हारे और मेरे बीच व्यवधान पड़ जाने से क्या उन रचनाओंका भी कोई संबंध तुमसे नहीं रह गया ? क्या तुम किसी अनजान देश के किसी नूतन-परिचित महाकवि की कविताएँ सुन रही हो ?"

इस गद्य-कविता माला में कादंबरी देवी के प्रति कवि का प्रेम और श्रद्धा-भावना सुस्पष्ट रूप से व्यक्त हो उठी है। पर किसी तत्कालीन उलझन (संभवतः पारिवारिक) के कारण उन्हें अन्तर की व्यथा बहुत दबानी पड़ी है, इसलिये उनमें कवि की अंतर्भावना का सच्चा रूप ठीक से व्यक्त नहीं हो पाया है। इसलिये उन्हें कवि ने पुस्तकाकार प्रकाशित नहीं कराया। पर बाद में अपनी कई अमर कविताओं में उन्होंने अपने भीतर की भावना अत्यंत मार्मिक सुंदरता से व्यक्त की थी।

अपनी 'जीवनस्मृति' में इस मर्मविदारक घटना के संबंध में कवि ने लिखा है : "तब तक मैं नहीं जानता था कि जीवन के बीच में कहीं तनिक भी रीतापन है। अचानक एक दिन मृत्यु ने आकर इस अत्यंत प्रत्यक्ष जीवन के एक कोने को एकदम रीता कर दिया तब मन के भीतर न जाने कैसा धुंध छा गया। चारों ओर के पेड़-पौदे, मिट्टी, जल, चन्द्र, सूर्य और ग्रह-तारा तब भी पहले की ही तरह निश्चित सत्य के समान विराज रहे थे, किंतु जो मानवात्मा उन्हीं की तरह निश्चित सत्य थी, बल्कि देह, प्राण, हृदय और मन के सहस्रविध स्पर्श द्वारा जिसे मैं उन सबसे अधिक ही सत्य मानता था--इतने निकट के व्यक्ति का तिरोभाव जब स्वप्न की तरह एक पल में हो गया, तब सारे जगत् की ओर देखकर मैं सोचने लगा कि प्रकृति का यह कैसा आत्म-खंडन है ! अभी जिसका अस्तित्व था वह देखते-देखते लुप्त हो गया, उसकी इन दो स्थितियों के बीच में मैं मेल कैसे बिठाऊँ ?"

'पुष्पांजलि' की गद्य-कविताएँ लिखने के प्राय: चालीस वर्ष बाद 'लिपिका' नाम से रवीन्द्रनाथ की रचना प्रकाशित हुई वह उन्हीं पुरानी गद्य कविताओं का नया रूपान्तर था। जीवन के प्रभात में जिस नारी ने अपने अन्तर के स्नेह से कवि के अन्तर में प्रतिभा-रूपी दीप अखंड रूप से प्रज्वलित रखा जीवन की संध्या में उसकी स्मृति उनके मन में दुगनी तीव्रता से जग उठी थी। अपनी कई महत्वपूर्ण रचनाएँ रवीन्द्रनाथ ने कादंबरी देवी को उनके जीवन-काल में और उनकी मृत्यु के बाद भी अर्पित की थीं।

कादंबरी देवी की मृत्यु के केवल एक महीने बाद रवीन्द्रनाथ के सँझले भैया हेमेन्द्रनाथ की भी मृत्यु हो गयी। इस प्रकार कवि की ग्यारह वर्षीया बालिका-वधू जैसे अपने साथ मौत की छाया लेकर ठाकुर-भवन में प्रविष्ट हुई थी। ठीक विवाह के दिन रवीन्द्रनाथ के सबसे बड़े बहनोई की मृत्यु हुई और विवाह के एक महीने के भीतर दो प्रिय आत्मीय चले गये।

छवि और गीत

'प्रभात संगीत' के कवि की काव्य-धारा ने जो एक नया मोड़ लिया था वह उत्तरोत्तर फलता-फूलता चला गया। उनके विवाह के तीन महीने बाद 'छवि ओ गान' प्रकाशित हुआ, जिसकी कविताएँ पहले ही लिखी जा चुकी थीं। इस संग्रह में रूप के सुन्दर चित्रण और रस के सहज प्रवाह का जो परिचय मिलता है उसमें कवि की पिछली कविताओं की अपरिपक्वता का लेश भी हम कहीं नहीं पाते। प्राय: सभी कविताओं में प्रौढ़ता पूरी मात्रा में वर्तमान है। यह संग्रह भी कवि ने कादंबरी देवी को अर्पित किया था।

साथ ही विविध-विषयक गद्य-रचनाएँ 'भारती' में नियमित रूप से छपती चली जा रही थीं। साहित्य, संस्कृति, समाज, राजनीति, धर्म, ज्ञान, विज्ञान आदि कोई भी विषय छूटा नहीं रह जाता था। हास्य और व्यंग का पुट उनके अधिकांश निबंधों में यों भी निहित रहता था, साथ ही हास्य संबंधी स्वतंत्र लेख आदि भी लिखे जाते थे। उस युग में लिखे गये वैज्ञानिक निबंधों में 'फोर्थ डायमेन्शन' या चतुर्थ आयतन के संबंध में लिखित लेख विशेष रूप से उल्लेखनीय है। 'टाउनहाल का तमाशा', 'कराल कुष्माण्ड' आदि राजनीतिक निबंधों में अँगरेज पदाधिकारियों और उनके 'पगड़ीधारी' भारतीय पिट्ठुओं पर बड़े चुटीले व्यंग कसे गये हैं। साहित्यिक निबंधों के भी नामकरण बड़े विचित्र हैं, जैसे 'लेखाकुमारी ओ छायासुन्दरी', 'गोंफ एवम् डिम' (मूँछें व अंडे) आदि। इन निबंधों में (विशेषकर 'गोंफ एवम् डिम' में) उन समालोचकों पर छींटे उड़ाये गये हैं जो स्वयं सर्जनात्मक साहित्य की सृष्टि करने में नितांत असमर्थ होते हैं और वास्तविक साहित्य-

स्रष्टाओं पर निरर्थक तर्कों द्वारा चोट करने में ही तृप्ति का अनुभव करते हैं।

पर सभी निबंध हलके और व्यंगात्मक नहीं होते थे। गंभीर साहित्यिक निबंधों की संख्या भी काफी रहती थी। 'सौन्दर्य ओ प्रेम', 'वैष्णव कविर गान' आदि निबंध इसी पर्याय के हैं। इनके अलावा गंभीर दार्शनिक तथा आध्यात्मिक विषयों पर भी वह लिखते रहते थे।

इन्हीं दिनों बंगाल के दो प्रमुख सांस्कृतिक दलों के बीच धार्मिक वाद-विवाद ने बड़ा तीव्र रूप धारण कर लिया था। देवेन्द्रनाथ के आदि ब्राह्म समाज के कुछ 'पुराण-पंथी' नियमों से मतभेद होने के कारण केशवचंद्र सेन ने किस प्रकार ब्राह्मों का एक नया दल संगठित कर लिया था, इसका उल्लेख पहले किया जा चुका है। कुछ अति-आधुनिकतावादी उत्साही युवक केशवचंद्र सेन से भी आगे बढ़ गये और उन्होंने फ्रांसीसी क्रांति-युग के मंत्र "साम्य मैत्री और स्वतंत्रता" का नारा बुलंद करते हुए ब्राह्म समाज के सभी प्राचीन हिंदू आदर्शों से नाता तोड़कर पाश्चात्य ज्ञान और दर्शन को ब्राह्म-धर्म में पूर्णतया मिला लेने की सलाह दी। ईसाई मत का प्रभाव भी इन पाश्चात्य रंग में रँगे हुए तरुणों पर गलत ढंग से पड़ रहा था। यह स्थिति देखकर बंकिमचंद्र तथा उनके कुछ साथियों ने हिंदू धर्म की नयी व्याख्या द्वारा एक नया समन्वयात्मक आदर्श स्थापित करना आरंभ कर दिया। गीता का नया भाष्य करके उन्होंने यह सिद्ध किया कि उसमें सभी धर्मों और दर्शनों के उन्नततम रूप सम्मिलित हैं। कृष्ण-चरित्र की विश्लेषणात्मक विवेचना द्वारा उन्होंने यह प्रमाणित किया कि कृष्ण ने अपने द्वारा प्रचारित धर्म को अपने जीवन में किस खूबी और बारीकी के साथ उतारा।

तब तक आदि ब्राह्म-समाज अपने को प्रगतिशील हिंदू-धर्म का एक मात्र संरक्षक मानता था। हिंदू-धर्म के प्रचलित आदर्शों और संस्कारों में आदि-ब्राह्म-समाज ने कुछ सुधार अवश्य किये थे, पर बहुत-से प्राचीन आदर्शों को उसने कायम रखा था। पर बंकिमचंद्र देख रहे थे कि आदि ब्राह्म-समाज पाश्चात्य सभ्यता तथा संस्कृति के नशे से मोहाच्छन्न युवकों

की अनुशासनहीन उच्छृंखलता की बाढ़ को रोकने में समर्थ सिद्ध नहीं हो रहा है, इसलिये उन्होंने हिंदू-धर्म के आदर्शों को विश्वजनीन धर्म की भित्ति पर स्थापित करके नव-हिंदू समाज को एक स्वस्थ दिशा की ओर मोड़ने के प्रयत्नों में कोई बात उठा नहीं रखी।

पर आदि ब्राह्म-समाज ने बंकिम के इन महत्वपूर्ण और ईमानदारी से भरे हुए प्रयत्नों को अपने धार्मिक सिद्धांतों और सामाजिक आदर्शों के विरुद्ध संगठित विद्रोह तथा प्रहार के रूप में ग्रहण किया। यह ठीक है कि ब्राह्म समाज के प्रति बंकिम की विशेष सहानुभूति न थी, पर साथ ही यह भी उतना ही सच है कि ब्राह्म-समाज द्वारा प्रचारित स्वस्थ आदर्शों का विरोध उन्होंने कभी नहीं किया। अपने विचारों की उदारता के कारण वह स्वयं कट्टरपंथी हिंदुओं के कोप का भाजन बन चुके थे। पर आदि ब्राह्म-समाज के समर्थकों ने सब कुछ जानते हुए भी उनके साथ किसी प्रकार की कोई रियायत नहीं करनी चाही। उन लोगों ने बंकिम और उनके साथियों के धर्म, समाज तथा संस्कृति संबंधी निबंधों का विरोध तीव्र भाषा में, संगठित रूप से करना आरंभ कर दिया। इन विरोधियों में तरुण रवीन्द्रनाथ प्रधान थे। बंकिम ने रवीन्द्रनाथ के छुटपन ही से उन्हें साहित्य-क्षेत्र में जो स्नेह और प्रोत्साहन दिया था उसे भूलकर वह बंकिम के स्वतंत्र धार्मिक और सामाजिक विचारों के विरुद्ध एकदम खड्ग-हस्त हो उठे। उक्त विषयों पर बंकिम और उनके समर्थक जो भी निबंध लिखते रवीन्द्रनाथ निर्द्वंद्व शैली में उनका विरोध और खंडन करते। बंकिम के उन्नत, सुलझे हुए और स्वस्थ विचारों का महत्व आज भी नहीं घटा है। पर रवीन्द्रनाथ ने नयी जवानी के जोश में जिन निबंधों द्वारा उनका विरोध किया था उन्हें पुस्तक-रूप में कभी नहीं छपाया। उन निबंधों का महत्व बाद में स्वयं उनकी अपनी आँखों से गिर गया था।

बंकिम के प्रमुख समर्थकों में चंद्रनाथ बसु भी थे, जो रवीन्द्रनाथ के गुरु रह चुके थे और उनके प्रति प्रारंभ ही से विशेष स्नेहशील थे। रवीन्द्रनाथ उनसे भी बुरी तरह उलझ गये, और तीव्र व्यंगात्मक निबंधों और

कविताओं द्वारा उनके विचारों की खिल्ली उड़ाने लगे। इन कविताओं में एक का शीर्षक था 'हिङ-टिङ-छट'। यह कुछ लंबी कविता है। जब यह व्यंगात्मक प्रकाशित हुई तब उसके भीतर निहित संकेतों से जानकार लोगों ने यह मत प्रकट किया कि वह व्यक्तिगत व्यंगों और आक्षेपों से भरी कुरुचिपूर्ण कविता है। इस कविता को रवीन्द्रनाथ ने बाद में अपनी नयी कविताओं के एक संग्रह ('सोनार तरी') में प्रकाशित होने के लिये दे दिया और किसी की कोई आपत्ति नहीं सुनी।

जब देवेन्द्रनाथ को अपने कनिष्ठ पुत्र की इस प्रतिभा का परिचय मिला कि वह आदि-ब्राह्म-समाज के आदर्शों के लिये बंकिम जैसे दिग्गजों से मोर्चा ले सकता है तब उन्होंने प्रसन्न होकर उन्हें 'आदि-ब्राह्म-समाज' नामक पत्रिका का संपादक बना दिया। यहाँ पर यह बात ध्यान में रखने योग्य है कि बाद में रवीन्द्रनाथ ने धार्मिक वाद-विवाद में भाग लेना एकदम बंद कर दिया था और ब्राह्म धर्म **से** अपना कोई विशेष संबंध वह नहीं बताते थे। बंकिम के जिन विचारों का उन्होंने खंडन किया था बाद में वह उनके पूरे समर्थक बन गये थे और बात-बात में उन्हें उद्धृत किया करते थे। पर उन दिनों (प्रायः २२ वर्ष की आयु में) वह जैसे आदि-ब्राह्म-समाज का झंडा अपने कंधे में लिये फिरते थे। उन्होंने ब्राह्म-सभाओं में गाये जाने के लिये बहुत-से धार्मिक गीत भी लिखे थे।

उन्हीं दिनों 'बालक' नामक एक और पत्र का भार उनके ऊपर आ गया। यह पत्र उनकी बड़ी भाभी ज्ञानदानन्दिनी देवी (सत्येन्द्रनाथ की पत्नी) के संपादकत्व में निकाला गया था, जिससे घर के बच्चे मनोरंजन के साथ ही शिक्षा भी प्राप्त कर सकें। पर ज्ञानदानन्दिनी के सँभाले वह पत्र नहीं सँभल रहा था। इसलिये उन्होंने छोटे देवर की सहायता चाही। इस प्रकार रवीन्द्रनाथ को प्रतिमास निरंतर तीन-तीन पत्रों के लिये कविता, कहानियाँ, नाटक, निबंध, हास्य-रचनाएँ आदि लिखने पड़ते थे। 'बालक' में उन्होंने धारावाहिक रूप से 'राजर्षि' नामक उपन्यास छपाया। इस उपन्यास का कथानक उन्हें एक दिन रेल में स्वप्न द्वारा प्राप्त हुआ था। कई वर्षों बाद

इसी उपन्यास को उन्होंने नाटकाकार में परिवर्तित करके 'विसर्जन' नाम से प्रकाशित कराया था, जिसका अँगरेजी अनुवाद पढ़कर पाश्चात्य साहित्या-लोचकों ने मुक्त प्रशंसा की थी। यह उपन्यास मन्दिरों में पशुबलि के विरोध में लिखा गया था।

'बालक' अधिक चला नहीं। उसे शीघ्र ही 'भारती' के साथ मिलाकर एक कर देना पड़ा। 'बालक' के भार से मुक्त होने पर रवीन्द्रनाथ कुछ दिनों के लिये अपने बड़े भैया सत्येन्द्रनाथ के पास नासिक चले गये। वहां तब उनका समवयसी भतीजा सुरेन्द्रनाथ नहीं था। वह कलकत्ते में पढ़ रहा था। एक दिन मौज में आकर उन्होंने सुरेन्द्रनाथ को 'हिन्दी' कविता (!) के रूप में एक पत्र लिख डाला। हिंदी के पाठकों के लिये इस पत्र की शैली व भाषा कौतुकप्रद सिद्ध होगी, इसलिये उसका कुछ अंश नीचे उद्धृत किया जाता है :

कलकत्ता में चला गया रे सुरेन बाबू मेरा,
सुरेन बाबू, आसल बाबू, सकल बाबू का सेरा।
खड़ा सा'ब को काहे को नाहीं पतिया भेजो, बाच्चा—
महीना-भर कुछ खबर मिलेना, यह तो नाहीं आच्छा!
घर को जाके काहे को बाबा, तुमसे हमसे फरखत्?
दो-चार कलम लिख देओगे इस्में क्या है हरकत्?
प्रवास को एक सीमा पर हम बैठके आछि एकेला—
सूरो बाबा के वास्ते आँख से बहुत पानी नेकला।
सर्वदा मन केमन करता कैंदे उठता हिरदय—
भात खाता, इस्कूल जाता सुरेन बाबू निर्दय!
मन का दुःखे हू-हू करके निकले हिन्दुस्थानी—
असंपूर्ण ठेकता कान में बंगाल का जबानी।
मेरा ऊपर जुलुम करते तेरे बहिन-भाई,
कि करेंगा कोथा जांगा भेवे नाह पाई।

कभी-कभी निकट आके ठोंट में चिमटि काटता।
काँची लेकर कोंकड़ा कोंकड़ा चूलगुलो सब छाँटता।

कवि की इन विविध और विचित्र उड़ानों से परिचित होने पर किसी भी गंभीर पाठक के मन में यह प्रश्न स्वभावतः उठेगा कि कवि जब सामयिक पत्रकारिता की दुनिया में इस तरह अपने को उलझाये हुए थे और अवकाश के क्षणों में अपने मित्रों को हास्यपूर्ण पद्य-पत्र लिखने में रस लेते थे तब गंभीर काव्य-साधना के लिये उन्हें अवसर कहाँ से मिलता होगा। वास्तविकता यह है कि धार्मिक विषयों पर गंभीर वाद-विवाद, साहित्यिक आलोचना-प्रत्यालोचना, हास्य और व्यंग लेखन—ये सब रवीन्द्रनाथ के बाहरी व्यक्तित्व के बिखरे हुए रूपों के परिचायक थे। उनका भीतरी व्यक्तित्व काव्य-साधना के विकास-क्रम को पूरी लगन और एकांत तन्मयता से अपनाये हुए था। उनकी बहुविध और बहुमुखी प्रतिभा को संपूर्ण रूप से हम तभी समझ सकते हैं जब उनके बाह्य-जीवन और अन्तर्जीवन के सभी पहलुओं पर हम सम्मिलित और समन्वयात्मक रूप से विचार करें। अन्यथा किसी भी एक छिटपुट पहलू के आधार पर उनके जीवन, व्यक्तित्व और साहित्य की गहनता और व्यापकता को समझने का प्रयत्न एकदम व्यर्थ सिद्ध होगा।

कड़ि और कोमल

'छवि ओ गान' नामक कविता-संग्रह के प्रकाशन के प्राय: तीन वर्ष बाद (१८८६ में) 'कड़ि ओ कोमल' नामक काव्य-ग्रंथ प्रकाशित हुआ। इस संग्रह में कवि की काव्यधारा विकास के महत्वपूर्ण मोड़ पर जा पहुँची थी। कवि के युवा-प्राणों में जीवन की अनादि धारा विविध रूपों, रसों और रंगों के माध्यम से जिन विचित्र सौन्दर्य-तरंगों के घात-प्रतिघात का लीलामय प्रभाव छोड़ती चली जा रही थी उनका अपूर्व चित्रण एक निराले जादूगर की-सी मोहिनी कला द्वारा 'कड़ि ओ कोमल' की कविताओं में हुआ है। नर-नारी के पारस्परिक आकर्षण-विकर्षण की चिर-रहस्यमयी लीला के विविध रूपों का जैसा मार्मिक चित्रण अत्यन्त स्वाभाविक और सहज-सरल शैलीमें इन कविताओं में हुआ है वैसा उसके पहले भारतीय साहित्य में कभी पाया नहीं गया। पाश्चात्य साहित्य में भी वैसी जीवन-स्पन्दिनी स्वाभाविकता दुर्लभ है। इन कविताओं में उन्नीसवीं शती के पाश्चात्य—विशेषकर फ्रांसीसी—कवियों का प्रभाव तत्कालीन समालोचकों को दिखायी दिया। रवीन्द्रनाथ की कविताओं में किसी एक विशेष कवि की काव्य-धारा का प्रभाव प्रमाणित कर सकना कोई आसान काम नहीं है। प्राच्य तथा पाश्चात्य साहित्य-दर्शन और ज्ञान-विज्ञान के गहन और व्यापक अध्ययन का कुछ-न-कुछ प्रभाव किसी-न-किसी रूप में उनके अन्त:र्जीवन के निरन्तर निर्माण के सिलसिले में निश्चय ही पड़ता रहता होगा, पर बाहर से प्राप्त सभी भाव और विचार उनके अन्तर्व्यक्तित्व के विराट् यज्ञकुंड में होम होकर कब किस नये रासायनिक रूप में अपने को व्यक्त करते रहते थे, इसका ठीक-ठीक अंदाज लगा सकना कोई साधारण काम नहीं है। इसलिये

उनकी तत्कालीन कविताओं के संबंध में समसामयिक साहित्यालोचकों ने जो यह मत प्रतिपादित किया कि वे पाश्चात्त्य रोमांटिक कविता से प्रभावित हैं, उसे आज हम पूर्णतः निर्भ्रान्त नहीं मान सकते।

'कड़ि ओ कोमल' के युग में ही रवीन्द्रनाथ ने मानव-प्रेम से संबंधित वह प्रसिद्ध कविता लिखी थी जिसकी प्रथम चार पंक्तियां इस प्रकार हैं :

मरिते चाहिना आमि सुन्दर भुवने,
मानुषेर माझे आमि बाँचिबारे चाई।
एई सूर्यकर एई पुष्पित कानने
जीवन्त हृदय माझे जेन स्थान पाई।

"मैं इस सुन्दर भुवन में मरना नहीं चाहता। मनुष्य के बीच में मैं जीना चाहता हूँ। सूरज की इन किरणों को, इस पुष्पित कानन को भी अपने हृदय की जीवन्त अनुभूति द्वारा अपने जीवन के साथ घुला-मिला सकूँ, यही मेरे अंतर की अभिलाषा है।"

प्रकृति के मुक्त प्रांगण के बीच में, जीवन की घोर यथार्थता के भीतर से मानवता को परिपूर्ण अनुभूति के साथ अपनाने की जो प्रवृत्ति रवीन्द्र काव्य-धारा में आदि से लेकर अंत तक अविच्छिन्न रूप से पायी जाती है उसी का सुन्दर, सुस्पष्ट और सहज प्रस्फुटन पहली बार 'कड़ि ओ कोमल' में हुआ। इसकी अधिकांश कविताएँ 'सानेट' (चतुर्दशपदी कविता) के ढाँचे में ढाली गयी हैं, जिसका प्रवर्तन बँगला में पहली बार माइकेल मधुसूदन दत्त ने किया था।

धार्मिक और राष्ट्रीय गीत-रचना का क्रम 'कड़ि ओ कोमल' के युग में भी नियमित रूप से चला जा रहा था। दिसंबर १८८६ को दादाभाई नौरोजी के सभापतित्व में कलकत्ते में कांग्रेस का द्वितीय अधिवेशन हुआ। विभिन्न प्रांतों से प्रतिनिधि आये हुए थे। जनता में बड़ा उत्साह था। रवीन्द्र-नाथ को एक राष्ट्रीय गीत रचकर सभा में गाने के लिये आमंत्रित किया गया। कलकत्ते में होनेवाले सभी महत्त्वपूर्ण राष्ट्रीय अथवा सामाजिक उत्सवों

पर रवीन्द्रनाथ को स्वरचित गीत गाने के लिये बुलाया जाता था, क्योंकि एक तो उनका रचा हुआ गीत सुंदर होता था, दूसरे उनका कंठ बहुत ही सुरीला था। इस अवसर पर उन्होंने "आमरा मिलेछि मायेर डाके" (हम लोग माँ की पुकार सुनकर एकत्रित हुए हैं) गाकर सुनाया।

भगवद्भक्ति संबंधी गीत भी वह निरंतर लिखते चले जाते थे। उन गीतों को रचने का उद्देश्य केवल यही नहीं था कि ब्राह्म-सभा में वे गाये जायँ, वरन् भक्ति और विश्वास की जो प्रवृत्ति उन्होंने अपने पिता से पायी थी उसी की सहज प्रेरणा से वह लिखते थे। उनके छुटपन में लिखी गयी कविताओं को पिता देवेन्द्रनाथ बच्चों का खेल समझा करते थे। रवीन्द्रनाथ ने अपनी 'जीवन-स्मृति' में लिखा है कि एक दिन उन्होंने उनकी कविता के संबंध में पिता की इस स्नेहपूर्ण अवज्ञा का 'बदला' चुकाया था। तब वह किशोरावस्था पार कर चुके थे। महर्षि को किसी ने बताया कि रवीन्द्रनाथ ने इधर कुछ बहुत अच्छे गीत लिखे हैं। उन्होंने पढ़कर सुनाने के लिये रवीन्द्र-नाथ को बुला भेजा। रवीन्द्रनाथ ने एक गीत गाया, जिसका प्रथम पद इस प्रकार था:

नयन तोमारे पाय ना देखिते
रयेछो नयने नयने।

"आँखें तुम्हें देख नहीं पातीं, यद्यपि तुम नयन-नयन में विराजते रहते हो।"

सुनकर देवेन्द्रनाथ इस कदर मुग्ध हुए कि अपना भावावेश रोक नहीं पाये। स्नेहपूर्वक पुत्र को आशीर्वाद देते हुए बोले: "यदि हमारे शासक-गण देशी साहित्य की कदर जानते होते तो ऐसा सुंदर गीत रचनेवाले कवि को वे पुरस्कृत करते। पर जब ऐसा संभव नहीं है तब मैं ही पुरस्कार देता हूँ।" यह कहकर उन्होंने तत्काल चेक-बुक मँगाकर पाँच सौ का एक चेक तरुण कवि को प्रदान किया। आज यह रकम हास्यास्पद लग सकती है। पर उस समय रवीन्द्रनाथ के लिये उसका महत्त्व नोबेल पुरस्कार से भी बढ़कर था। पाँच सौ का चेक केवल प्रतीक था। उस पुरस्कार को पाने पर

उनके उल्लास का सब से बड़ा कारण यह था कि वह अपनी एक रचना द्वारा अपने आदरणीय पिता को तृप्त कर पाये। पिता के प्रति रवीन्द्रनाथ की श्रद्धा को यदि हम अंध श्रद्धा कहें तो भी अत्युक्ति के दोष का भय कम ही रहेगा। इसलिये इतने दिनों की उपेक्षा के बाद जब उनकी एक रचना का इतना आदर उनके पिता ने किया तब उनके अंतर के आनन्द का अनुमान आसानी से किया जा सकता है। दूसरी बात यह थी कि उन दिनों के पांच सौ रुपयों का मूल्य आज के पांच हजार से अधिक था। तीसरी बात यह थी कि उन दिनों ठाकुर-परिवार में किसी भी किशोर या नवयुवक को तब जेब-खर्च के लिये जो रकम मिलती थी वह कुछ-नहीं के बराबर थी। इसलिये उस समय उस पुरस्कार का आर्थिक मूल्य भी रवीन्द्रनाथ के लिये कुछ कम नहीं था।

'कड़ि ओ कोमल' ने तत्कालीन काव्य-जगत् में एक समस्या खड़ी कर दी। कविताएँ पढ़ने में सभी साहित्यालोचकों को अच्छी लगती थीं। क्योंकि उनकी भाषा में सरलता के साथ एक अपूर्व रसमयी तरलता भी घुली-मिली थी। उनका रूप-गठन भी सुन्दर था। पर उनके संबंध में आम शिकायत यह पायी गयी कि उनके भाव अत्यंत अस्पष्ट हैं। तब अधिकतर इतिवृत्तात्मक कविताएँ ही बँगला साहित्य-संसार में प्रचलित थीं। पर रवीन्द्रनाथ को चूँकि बाह्य-जीवन के वर्णन की अपेक्षा अंतर्जीवन के सुकुमार भावों का और अनुभूतियों का परिस्फुटन अधिक अभीष्ट था, इसलिये उन्होंने एक नयी ही शैली को अपनाया। दोष उनकी शैली का नहीं था, दोष था पाठकों और आलोचकों की अविकसित और अपरिमार्जित रुचि का। आज के विकसित-रुचि पाठक के लिये यह विश्वास करना कठिन हो जाता है कि किसी जमाने में रवीन्द्रनाथ की कविताएँ 'भावों की अस्पष्टता' के लिये बेहद बदनाम थीं। अपने समालोचकों को तुर्की-ब-तुर्की जवाब देने में रवीन्द्र-नाथ कभी पीछे नहीं रहे। अपनी कविताओं की निन्दात्मक आलोचनाओं का उत्तर देते हुए वह पाठकों और आलोचकों की रुचि का भी विकास करते चले जाते थे। उनकी शक्ति का बहुत बड़ा भाग अपने विरोधी आलोचकों

का उतर देने में खर्व होता था। पर उनकी प्रत्यालोचनाओं से अंततः बहुत बड़ा लाभ उस युग के बंगला साहित्य-जगत् को हुआ। धीरे-धीरे उच्च कोटि की और गहन भाव-भरी कविताओं का महत्व समझने और उनका मर्म ग्रहण कर सकने की योग्यता साहित्यिक जनता को प्राप्त होती चली गयी। फिर भी रूढ़िवादी मनोभाव पूरी तरह से दूर न हुआ और अस्पष्टता तथा अश्लीलता के नाम पर नवोदित प्रतिभाशाली कवि की रचनाओं का विरोध विविध रूपों में होता रहा।

मानसी

'कड़ि ओ कोमल' के बाद रवीन्द्रनाथ का जो दूसरा महत्त्वपूर्ण काव्य-ग्रंथ प्रकाशित हुआ वह था 'मानसी'। इस संग्रह की कविताओं में कवि के अंतर की रोमांटिक भाव-वेदना विविध रंग-बिरंगी धाराओं में अत्यन्त तीव्र रूप में व्यक्त हो उठी है। इनमें निस्संदेह रूप-गठन और शैली में पहले से कई गुना अधिक निखार पाया जाता है और भावानुभूति भी अधिक गंभीर और परिपक्व पायी जाती है। पर जीवन और जगत् के प्रति जो उद्दाम आसक्ति और आस्था 'कड़ि ओ कोमल' की कविताओं में पायी जाती है उसका 'मानसी' में अभाव है। प्रेम के संबंध में जो भोगात्मक भावना 'कड़ि ओ कोमल' में अत्यंत सुरुचिपूर्ण सुकुमारता के साथ व्यक्त हुई है वही 'मानसी' में त्यागात्मक रोमांटिक वेदना के रूप में परिवर्तित हो गई है, जो राग-तत्त्व के भीतर निहित सौन्दर्य की एक सूक्ष्म और अतीन्द्रिय चेतना का पुलकाभास पाठक के अंतर में भर देती है। त्यागात्मक राग के सौन्दर्य की यह अनुभूति इस संग्रह की 'सूरदास' नामक कविता में अत्यंत मार्मिक रूप से अभिव्यक्त हुई है।

यह कविता इस लोक-प्रचलित कथा के आधार पर रची गयी है कि कवि सूरदास एक सुंदरी युवती के रूप पर मुग्ध होकर साधना-भ्रष्ट होने जा रहे थे। पर सहसा जब उनकी भीतरी आँखें खुलीं तब उन्होंने बाहर की आँखों को फोड़ डालने का निश्चय किया। इस अन्तर्द्वन्द्व ने कवि को दो स्थितियों में से केवल एक को चुनने के लिये विवश किया—या तो वह बाहरी आँखों को खोले रहें और विविध रूप-रंग-रसमयी वाह्य-प्रकृति की चित्र-विचित्र माया के अपार सौन्दर्य-सागर में निरुद्देश्य भाव से बहते चले जायें,

या अंतर की चिर-स्थिर और चिर-प्रशांत सौन्दर्य-ज्योति की कभी न बुझने-वाली लौ से लौ लगाये रहें। बड़ी कशमकश के बाद अंत में सूरदास बाह्य प्रकृति की विविध नाम-रूपमयी प्रतिमाओं के सौन्दर्योपासन से मन को खींच-कर उसे पूर्णतया अन्तःप्रकृति की ओर नियोजित करने के उद्देश्य से बाहरी आँखों की ज्योति को सदा के लिये नष्ट करने का निश्चय कर लेते हैं। फिर भी सौन्दर्य-प्रेमी कवि के मन से वाह्य-प्रकृति की अपार सौन्दर्य-लीला के प्रति मोह किसी-न-किसी हद तक बना ही रहता है। कवि के अंतर के इस द्वन्द्व की मार्मिक वेदना इस कविता के अक्षर-अक्षर से विकल आवेग से फूट पड़ी है।

कविता का आरंभ इस प्रकार होता है :

"आंचल खींचकर अपना मुँह ढक लो, मैं कवि सूरदास फिर तुम्हारे द्वार पर आ पहुँचा हूँ। अत्यंत असहनीय जलन मैं सब समय अपने मर्म में वहन करता रहता हूँ। कलंक-राहु प्रतिपल मेरे जीवन को ग्रस रहा है। तुम पवित्र हो, निर्मल हो, देवी हो और सती हो; मैं अत्यंत घृणित, अधम, पामर और पंकिल हूँ। तुम्हीं लक्ष्मी हो, तुम्हीं शक्ति हो। मेरे हृदय में भक्ति जगाओ। तुम्हारी वह पुण्य-ज्योति कहाँ है जिससे मेरे अंतर का घोर पापमय तिमिर जलकर भस्म हो जाय!"

इसके बाद कवि अपने अंतर की पाप-वासना का विश्लेषण करते हुए कहता है : "तुम क्या जानती हो कि इतने दिनों तक मैं पाप-भरी दृष्टि से तुम्हारे इस अकलंक सौन्दर्य को देखता रहा हूँ? मेरी विभोर वासना दुर्निवार वेग से तुम्हारे इस सुन्दर मुख की ओर दौड़ पड़ी थी। मेरी उस वासना-गलित दृष्टि का कुछ अन्दाज तुमने लगाया था क्या? क्या तुम्हारे हृदय के निर्मल दर्पण पर मेरे अंतर के दीर्घ श्वास का कुछ वाष्प-धूमिल चिन्ह पड़ा था? ठीक जिस प्रकार पृथ्वी का कुहासा आकाश में उषा की निष्कलंक काया को मलिन कर देता है। क्या लज्जा ने तब अपने लाल वसन से तुम्हें मेरे लोभी नयनों की पाप-दृष्टि से ढकने का प्रयास किया था?

क्या मेरी वह मोह-चंचल लालसा काले भौंरे की तरह तुम्हारे दृष्टि-पथ पर गुन-गुन करती हुई रो रही थी ?

"यह लो, प्रभात की झलझलाती हुई तीखी किरण की तरह यह तेज छुरी लाया हूँ। इससे मेरी इन वासना-विकल, काली और कलंकित आँखों को बींध डालो। ये आँखें मेरे शरीर पर नहीं हैं, ये मेरे मर्म के भीतर हैं और दिन-रात निरंतर जलते हुए अंगारे की तरह दहकती रहती हैं। उन दो ज्वालामयी आँखों को उपाड़ लो। जो आँखें तुम्हारे रूप की प्यासी हैं वे तुम्हारी ही होकर रहें।

"उन आँखों के साथ ही अपार भुवन, उदार गगन, श्यामल वन, स्वच्छ नदियाँ, रंग-बिरंगा सांध्य-मेघ, ग्रहतारामयी रात्रि, लहलहाते हुए खेतों की हरियाली, सुदूर-प्रसारित नील गिरिमाला, उस पर कनक-किरण-ज्वलित सूर्योदय, विविध वर्णमय कुसुमों से रंजित वसंत, तड़ित्, चकित वर्षाकाश, पूर्ण इंद्रधनुष, शरत्-ज्योत्स्ना—ये सब भी विलीन हो जायेंगे। तब होने दो! इन सबकों चिर-दिन के लिये मेरे दृष्टि-पथ से ओझल होने दो! मेरे आकाश के चित्रपट में एक छोर से लेकर दूसरे छोर तक निर्मम तिमिर-तूलिका फेर दो!

"ये सब मुझे निरंतर अपनी मोह-माया से भुलाये रहते हैं और न जाने किस अनजान लोक की ओर खींचे लिये चलते हैं। सब मिलकर मेरी ही बांसुरी छीन-छीनकर बजाना चाहते हैं, और मैं पागल की तरह नयी-नयी तानें छेड़ता हुआ नये-नये गीत गाता चला जाता हूँ। अपनी ललित रागिणी सुनकर स्वयं ही विभोर और विवश होता रहता हूँ। आकाश मुझे व्याकुल मोह से जकड़े रहना चाहता है, फूल मुझे चारों ओर से घेरकर बेसुध किये रहते हैं। चांदनी मेरे रोम-रोम में प्रविष्ट होकर प्रवाहित होती चली जाती है। कितनी ही कल्पित छाया-मूर्तियाँ मुझे पकड़-पकड़कर नचाती रहती हैं। मेरी हृदयतंत्री ढीली पड़ जाती है, वीणा गिर पड़ती है और बरस-बरस तक हरिनाम-गान उसमें बज ही नहीं पाता। मेरी वह हरिहीन अनाथ वासना

सारे जगत में प्यासी फिरती रहती है, क्योंकि उस अकूल लवण-समुद्र में प्यास बुझाने योग्य जल कैसे प्राप्त हो सकता है !

"इसलिये अच्छा है कि मेरे आगे से सब-कुछ विलीन हो जाय। अब मैं रूप के अपार स्रोत में अनंत काल तक निरुद्देश्य बहते चले जाना नहीं चाहता। मुझे इस आलोक-मग्न रूप-जगत् से ऊपर उठा लो। उस प्रकाश-रहित विशाल हृदय में मैं विजा-वास करूँगा और प्रलय-आसन मारकर बारहों महीने स्थिर बैठा रहूँगा।

"पर क्या वह विश्व-लोभी विमल अंधकार चिर-दिन वैसा ही बना रहेगा ? क्या उस निबिड़ तिमिर में धीरे-धीरे तुम्हारे पवित्र मुख, मधुर मूर्ति और स्निग्ध आँखों का प्रकाश नहीं खिल उठेगा ? तुम्हारी निष्कलंक प्रतिमा की यह शांति-रूपिणी शोभा निश्चय ही अनंत रात्रि के बीच आग की रेखाओं में अपूर्व महिमा के साथ अंकित हो उठेगी।

"इसलिये हे देवि, ऐसा ही हो। मेरे हृदय-गगन में तुम्हारी देहहीन ज्योति चिर-काल तक बिराजती रहे। तुममें मैं अपने देवता को देखूँगा, और तुम्हारे आलोक में अनंत कालीन रात्रि तक जगा रहूँगा।"

रवीन्द्रनाथ की यह विशेषता ध्यान देने योग्य है कि प्रायः प्रत्येक कविता की रचना की प्रेरणा उन्हें व्यक्तिगत अनुभूति द्वारा प्राप्त होती थी और उस वैयक्तिक अनुभूति को विश्व-अनुभूति में परिणत करने की कला में वह पारंगत हो चुके थे। सूरदास की वेदना और अन्तर्द्वन्द्व रवीन्द्रनाथ की निज की वेदना और निज का अन्तर्द्वन्द्व है। एक ओर विश्व-प्रकृति की अनंत-प्रसारित रूप-धारा के विविध-वर्णमय रूप-स्रोत में उनका सौन्दर्य-पिपासु कवि हृदय सहज ही बहा चला जाता था, और दूसरी ओर वह प्रारंभ ही से पृथ्वी और आकाशव्यापी रूप-लीला की भुवनमोहिनी माया से ऊपर उठकर, अरूप की चिर-स्थिर शांति की स्थायी आनंदानुभूति में मग्न रहने के लिये निरंतर व्याकुल रहते थे। 'मानसी' तथा उसके पहले के युगों से लेकर 'गीतांजलि' के युग तक ये दो परस्पर-विरोधी—तथापि एक-दूसरे की पूरक—भाव-धाराएँ हम बराबर उनकी रचनाओं में पाते

हैं। 'गीतांजलि' के "रूप-सागरे डूब दियेछि अरूप रतन आशा करि" (रूप-सागर में डूबकर गोते लगा रहा हूँ और 'अरूप'-रत्न को पाने की आशा करता हूँ) इस भाव में हम उक्त दोनों परस्पर-विरोधी प्रवृत्तियों में सामंजस्य पाते हैं।

रूप-रस-वर्ण-गंध-गीत की सम्मिलित मोहिनी माया कवि के हृदय के तीव्र अनुभूतिशील तारों को अनयास ही झंकृत करती रही है। पर उसके विराट व्यक्तित्व के दूसरे रूप या तो उसे उस काव्यात्मक 'छलना' से ऊपर उठकर अरूप में मग्न होने के लिये समय-समय पर प्रेरित करते रहे हैं या मानव-जीवन के विपुल कर्मक्षेत्र में फाँदकर, लोक-संग्रह के विविध कर्मों में बँधकर, अकर्म की अनुभूति प्राप्त करने की प्रवृत्ति जगाते रहे हैं।

'चित्रा' युग की 'एबार फिराओ मोरे' शीर्षक प्रसिद्ध कविता में हम यही द्वन्द्व पाते हैं, इस कविता में कवि कहता है :

> **एबार फिराओ मोरे, लये जाओ संसारेर तीरे**
> **हे कल्पने, रंगमयी, दुलायो ना समीरे समीरे**
> **तरंगे-तरंगे आर, भुलायो ना मोहिनी-मायाय।**
> **विजन विषादघन अन्तरेर निकुंज-छायाय**
> **रेखो ना बसाये।**

"इस बार मुझे लौटाओ, हे रंगमयी कल्पने, मुझे अब समीर-समीर में, तरंग-तरंग में झूला न झुलाओ और मोहिनी माया में मत भुलाये रहो। अंतर की विजन विषादघन निकुंज-छाया में अलस कर्महीनता के बीच में बिठाये न रखो। मुझे संसार के तीर पर कर्मचक्र के बीच में ले चलो।"

'मानसी' की 'भैरवी' कविता में भी हम यही भाव पाते हैं। यौवन के मोहपाश से मुक्त होने का प्रयासी एक तरुण पथिक जब प्रातःकाल घर से विदा होकर कर्मपथ की ओर बढ़ता है तब पीछे से कोई मीठी उदासी-भरी भैरवी गा उठता है। वह विह्वल रस से छल-छल तान पथिक के हृदय में पिछले प्रेम की मीठी-मीठी स्मृतियाँ उभाड़कर एक अलस-वेदना से उसके

कर्म-कातर प्राणों को भरने लगती है और घर लौट चलने की प्रेरणा देती है। पथिक छटपटाता है। पर इस द्वन्द्व में अंत में उसकी विजय होती है। वह कहता है :

"तुम यह गीत उनके निकट जाकर गाओ जिनके मोहमग्न प्राण ऊपर उठना चाहते हैं फिर भी उठ नहीं पाते, जो ललित लता के बंधन को तोड़ने में असमर्थ हैं, जो अलस रागिणी गाकर अलस वेदना में ही डूबे रहना चाहते हैं, और मीठे रोदन की धारा में जो दिन-रात बहते रहते हैं और अपने करुण गीत-रस में जो स्वयं ही गलते चले जाते हैं।

"इससे तो जीवन-भर कर्मक्षेत्र की अग्नि में जलते रहना अच्छा है। आजीवन मैं पत्थर से कठिन पथ पर चलता रहूँगा। यदि वह पथ मुझे मृत्यु के बीच में भी ले जाय तो उस मरने में भी सुख है।"

'मानसी' से भी पहले से, 'कड़ि ओ कोमल' के युग से ही, नवयुवक कवि रूप-मग्नता और भाव-विभोरता की स्थिति से ऊपर उठने के लिये निरंतर प्रयत्नशील दिखायी देते थे। इस संबंध में रवीन्द्रनाथ ने एक बार स्वयं एक पत्र में लिखा था : "मुझे कभी कभी ऐसा लगने लगता है कि मेरे भीतर दो विपरीत शक्तियों का द्वन्द्व चलता रहता है। एक मुझे सर्वदा विश्राम और परिसमाप्ति की ओर आह्वान करता है, और दूसरा मुझे किसी भी हालत में विश्राम नहीं लेने देता। मेरी भारतीय शांत-प्रकृति को यूरोप का चांचल्य बराबर आघात करता रहता है। इसी कारण मेरी रचनाओं में एक ओर (राग-) वेदना पायी जाती है और दूसरी ओर वैराग्य। एक ओर कविता और दूसरी ओर फिलासफी। एक ओर देश के प्रति प्रेम और दूसरी ओर देशहितैषिता के प्रति उपहास का भाव। एक ओर कर्म के प्रति आसक्ति और दूसरी ओर चिन्ता के प्रति आकर्षण।"

इस द्वन्द्व की विशेषता ठीक से समझे बिना रवीन्द्र-चरित्र को समझना संभव नहीं है।

ज़मींदारी का दायित्व और 'सोने की नैया'

'मानसी' का युग प्रायः तीन-चार वर्ष का रहा। इस युग में कवि ने कई नाटक लिखे—'राजा ओ रानी', 'विसर्जन' आदि। बीच-बीच में जोरदार राजनीतिक निबंध भी लिखते चले जाते थे। कभी कविताएँ रचते, कभी साहित्यिक आलोचनाएँ लिखते, कभी राजनीति में डूब जाते और कभी निरुद्देश्य भ्रमण करते। इन्हीं दिनों, अगस्त १८९० में, उन्होंने दुबारा विलायत की यात्रा की। इस बार तरुण कवि इंगलैंड में कुछ विचित्र वेश में रहा करते थे। इस बार टोप, कालर, 'नेकटाई' आदि के बदले 'पीराली' परंपरा की ऊँची भारतीय टोपी और गलाबंद कोट पहनते थे। उस पर कुछ-कुछ लंबे बाल और छोटी सी दाढ़ी रखे थे। फलतः वहाँ के लोगों—विशेषकर महिलाओं—के कुतूहल और कभी-कभी हास के कारण बनते थे। इस बार दो मास से अधिक उनका जी विलायत में नहीं लगा, विलायत से लौटने पर 'मानसी' युग की कविताएँ पुस्तक-रूप में प्रकाशित हुईं। पुस्तक छपने पर साहित्य-जगत में बड़ी धूम मच गयी। कई विरोधी समालोचनाएँ निकलीं। पर प्रशंसकों की भी कमी नहीं थी। विरोध का एक कारण यह भी था कि उक्त संग्रह में 'नव्य हिंदू'-संप्रदाय के विरुद्ध कई कड़ी, व्यंगात्मक कविताएँ भी थीं।

इसी बीच कलकत्ते के कुछ प्रमुख साहित्यकारों और साहित्य-प्रेमियों ने 'हितवादी' नाम से एक साहित्यिक साप्ताहिक निकालने की योजना बनायी। उन लोगों ने एक कंपनी खड़ी की। रवीन्द्रनाथ भी उसमें सम्मिलित हुए। उन्हें उसका संपादन-भार सौंपा गया। इस नये पत्र के लिये वह प्रति सप्ताह एक छोटी कहानी लिखने लगे। छोटी कहानियाँ लिखने का वास्त-

विक क्रम उन्होंने इसी समय से आरंभ किया। इसके पहले दो-एक कहानियाँ कभी लिखी थीं, अब नियमित रूप से लिखने लगे। तब तक रवीन्द्रनाथ ने जो भी उपन्यास, पद्य-कथाएँ अथवा नाटक लिखे थे उनके पात्र कवि के कल्पना-लोक की उपज थे। अब जो छोटी कहानियाँ लिखने लगे उनके पात्रों की अवतारणा जीवन की कठोर वास्तविकता के बीच से हुई थी। इसका कारण था। जमींदारी का काम देखने के लिये कुछ समय से वह देहात में रहने लगे थे और वहाँ यथार्थ जीवन के घनिष्ठ संपर्क में उन्हें आना पड़ा था।

महर्षि वृद्ध हो चुके थे और सांसारिक कार्यों में लिप्त न रहकर दूरस्थित स्थानों में एकांतवास किया करते थे। सत्येन्द्रनाथ प्रवास में सरकारी कामों में व्यस्त रहा करते थे। ज्योतिरिन्द्रनाथ पत्नी की मृत्यु के बाद से विषय-संपत्ति संबंधी कार्यों से विरक्त हो चुके थे। हेमेन्द्रनाथ की मृत्यु हो चुकी थी और वीरेन्द्रनाथ तथा सोमेन्द्रनाथ वायुविकार से ग्रस्त थे। इसलिये जमींदारी के काम का भार या तो सबसे बड़े भाई द्विजेन्द्रनाथ पर आ सकता था या सबसे छोटे भाई रवीन्द्रनाथ पर। दार्शनिक द्विजेन्द्रनाथ से यह काम निभ सकना संभव न था। उन्होंने कुछ समय के लिये अपने बड़े लड़के को वह काम सौंप दिया था। पर उनसे भी वह काम न सँभल सका और सारी व्यवस्था बिगड़ने लगी। इसलिये महर्षि ने रवीन्द्रनाथ पर जोर डाला कि वह जमीन्दारी का काम सँभालें। कवि स्वभावतः इस तरह के घोर नीरस कामों से कतराते थे। पर इस बार जब पिता का निश्चित आदेश प्राप्त हुआ तब वह टाल न सके। इसके अलावा एक बात और थी। इतने दिनों तक वह सांसारिक दृष्टि से सभी क्षेत्रों में निकम्मे सिद्ध हो चुके थे। इसलिये इस बार उन्होंने निश्चय किया कि जाकर जमींदारी का काम देखेंगे। उन दिनों ठाकुर-परिवार की जमींदारी संयुक्त होने के कारण बहुत बड़ी थी। उतनी बड़ी जमींदारी का प्रबंध अकेले रवीन्द्रनाथ के अपटु और अनुभवहीन हाथों पर पड़ा।

पर रवीन्द्रनाथ के स्वभाव और चरित्र की यह बहुत बड़ी विशेषता

थी कि भाव-प्रवणता के साथ ही कर्मनिष्ठा भी उनमें किसी से कुछ कम नहीं थी। उन्होंने पूरी लगन के साथ, एक अनुभवी सांसारिक की तरह, नये कर्म-भार को सँभाला और इस प्रकार अपने पिता तथा परिवार के दूसरे व्यक्तियों के आगे यह प्रमाणित किया कि वह 'निकम्मे' नहीं हैं। इस काम को देखने के लिये महर्षि ने उनके लिये २५० रु० मासिक वेतन तय कर दिया था। जमींदारी की देख-भाल के सिलसिले में रवीन्द्रनाथ ने जिस आश्चर्यजनक विषय-बुद्धि का परिचय दिया उसे देखकर बड़े-बड़े अनुभवी जमींदार दांतों तले उँगली दबाने लगे।

तब से रवीन्द्रनाथ की जीवन-धारा एक अत्यंत महत्त्वपूर्ण मोड़ से होकर प्रवाहित होने लगी। एक ओर दीन-हीन प्रजावर्ग के निकट-संपर्क में आने से मानव-जीवन की यथार्थता के संबंध में उनकी अभिज्ञता बढ़ती चली गयीदूसरी ओर उनके कवि के भाव-प्रवण प्राणों को निरावरण प्रकृति के साथ एकांत और घनिष्ठ संबंध स्थापित होने की सुविधा प्राप्त हो गयी।'

मानव-जीवन की दयनीय यथार्थता से ज्यों-ज्यों उनका परिचय गहन से गहनतर होता चला गया त्यों-त्यों अपने अनुभवों को छोटी कहानियों के रूप में बांधने की प्रवृत्ति भी बढ़ती चली गयी। रवीन्द्रनाथ की कहानियाँ समग्र संसार के कहानी साहित्य में अपने ढंग की अनूठी हैं। उनमें हमें केवल जीवन के ऊपरी यथार्थ की ही झाँकी नहीं मिलती, भीतरी यथार्थ के मर्म की भी कुंजी मिल जाती है। उनकी संवेदनशील काव्यानुभूति जीवन के यथार्थ को और अधिक गहराई में उपस्थित करने, और अधिक बारीक रेखाओं में चित्रित करने में सहायक सिद्ध हुई है। इन कहानियों में उन्होंने जीवन के किसी भी पहलू को, किसी भी स्तर को नहीं छोड़ा है। शताब्दियों की दासता से जर्जर, रोग-शोक और दुःख-दैन्य से पीड़ित समाज का कोई भी पहलू उनकी सूक्ष्मदर्शिनी अंतर्दृष्टि से बचा नहीं रहा है।

उन दिनों लिखे गये उनके विविध पत्रों में उनके अंतर की यह मर्म-पीड़ा बार-बार अभिव्यक्त हुई है कि जिस प्रजावर्ग में वह कर वसूल करते हैं वह

उन्हें अपने ही समान सुख-दुःख से पीड़ित मनुष्य के रूप में नहीं देख पाता। एक पत्र में वह लिखते हैं : "सुबह उठकर लिख रहा था। सहसा सूचना मिली कि राजकार्य में उपस्थित होना होगा। 'प्रधान मंत्री' ने मृदु स्वर में बताया कि 'राज-सभा' में मेरी उपस्थिति अनिवार्य है। क्या करता, लक्ष्मी का आदेश सुनकर सरस्वती को छोड़ना पड़ा। एक घंटे तक राजकार्य देखकर अभी लौट रहा हूँ। मुझे मन-ही-मन हँसी आती है—ऐसे अवसरों पर अपने अपार गांभीर्य और अतलस्पर्शी बुद्धिमान की तरह अपनी मुखमुद्रा की कल्पना करके सारा चक्कर ही मुझे एक प्रहसन की तरह लगता है। जब प्रजागण बड़े संभ्रम के साथ कातर भाव से मेरे 'दरबार' में सलामी बजाने आते हैं और कर्मचारीगण हाथ जोड़कर विनीत भाव से खड़े रहते हैं तब मैं सोचता हूँ कि मैं इन लोगों से क्या सचमुच इस कदर बड़ा हूँ कि मेरे एक इशारे से ही इन लोगों की जीवन-रक्षा हो सकती है और मेरे तनिक विमुख होते ही इनका सर्वनाश हो सकता है। मैं एक विशेष चौकी पर बैठकर जो यह स्वांग रच रहा हूँ कि मैं इन सब लोगों से एक स्वतंत्र सृष्टि हूँ, इन लोगों का हर्ता-कर्ता और विधाता हूँ, इससे अद्भुत और क्या बात हो सकती है। अपने भीतर मैं भी इन्हीं लोगों की तरह दरिद्र और सुख-दुःख कातर मनुष्य हूँ, मुझे भी संसार में छोटे-छोटे मामलों को लेकर दरबारदारी करनी पड़ती है, छोटे-छोटे कारणों से मर्मभेदी क्रंदन मेरे भीतर से उच्छ्वसित होता है, न जाने कितने लोगों की प्रसन्नता और कृपा पर मेरा भी जीवन अवलंबित है! पर ये सरल-हृदय किसान लोग मुझे कितना गलत समझते हैं! यह नहीं जानते कि मैं भी उन्हीं लोगों का समजाति हूँ। उनकी इस भूल को कायम रखने के लिये न जाने कितनी जुगत करनी पड़ती है, कितना आडंबर रचना पड़ता है। 'प्रेस्टिज' का वास्तविक अर्थ है, मनुष्य के संबंध में मनुष्य की गलत धारणा। यदि यहाँ के प्रजागण मुझे ठीक तरह से समझ पाते, तो पहचान जाते कि मैं उन्हीं लोगों में से एक हूँ।"

यह वेदना कवि के विभिन्न पत्रों और निबंधों में बार-बार अभिव्यक्त

हुई है। उस युग के किसी भी जमींदार के मन में इस तरह की ग्लानि की कल्पना तक नहीं की जा सकती।

जमींदारी के काम के झंझटों में फँसे रहने पर भी रवीन्द्रनाथ लिखने-पढ़ने के लिये समय निकाल लेते थे। आलस्य का लेश भी उनके स्वभाव में कभी नहीं रहा——यद्यपि कर्महीन जीवन की अलस शांति के पक्ष में वह स्वयं कई निबंध लिख चुके थे। कई पत्रों का संपादन उन्हें करना पड़ता था और कई पत्रों के लिये कविताएँ, कहानियाँ, निबंध आदि उन्हें नियमित रूप से लिखने पड़ते थे।

'हितवादी' से उनका संबंध केवल तीन महीने तक बना रहा। उसके प्रबंधकर्तागण उन पर बार-बार इस बात के लिये दबाव डालते थे कि वह 'हितवादी' के लिये मनोरंजक और चटपटी कहानियाँ लिखें और ऐसी कहानियाँ न लिखें जो जीवन के गंभीर पहलुओं पर प्रकाश डालती हैं। रवीन्द्रनाथ फरमायशी चीजें लिखने के पक्ष में कभी न रहे। उन्होंने 'हित-वादी' से संबंध त्याग दिया।

इन्हीं दिनों द्विजेन्द्रनाथ के तृतीय पुत्र सुधीन्द्रनाथ के संपादकत्व में 'साधना' नाम से एक साहित्यिक मासिक पत्रिका का प्रकाशन ठाकुर-भवन से होने लगा। रवीन्द्रनाथ के ही भरोसे पर यह पत्रिका निकाली गयी थी। जब किसी भी नयी पत्रिका का भार रवीन्द्रनाथ पर आ पड़ता था तब वह अत्यंत उत्साहित हो उठते थे। पहले ही अंक से उन्होंने अपने पत्र को अपनी विविध-विषयक रचनाओं से भरना आरंभ कर दिया। कविता, छोटी कहानी, साहित्यिक और राजनीतिक निबंध, वैज्ञानिक संवाद, सामयिक साहित्यालोचन आदि बहुत सी रचनाएँ स्वयं लिखकर, कुछ अपने नाम से, कुछ छद्म नाम से तैयार करके 'साधना' में छपने को दे दीं। रवीन्द्रनाथ महसूस कर रहे थे कि उन्हें नये युग की प्रगति के अनुसार बहुत-सी नयी बातों को प्रकाश में लाता है और पिछले युग के सड़े-गले और रूढ़िवादी विचारों का कूड़ा साफ करना है। अपने एक मित्र को उन्होंने लिखा: "आज बहुत-सी बातें कहने की आवश्यकता है, पर सभी चुप हैं। एक तो

यों ही बंगाली की बुद्धि बहुत साफ नहीं होती, उस पर इधर कुछ समय से एक आध्यात्मिक कुहरा उठकर चारों ओर छा गया है। साहित्य से सत्य, वैचित्र्य और सौन्दर्य एकदम जैसे लुप्त हो गये हैं। इसलिये कुछ समय तक बड़ी कड़ी-कड़ी बातें साफ साफ कहनी होंगी।"

और फिर जो नये सिरे से रवीन्द्रनाथ अखाड़े में आ कूदे तो उन्होंने न उस युग के साहित्य-सर्जकों को छोड़ा न साहित्यालोचकों को, न ढंगी राजनीतिज्ञों को छोड़ा न धर्मध्वजियों को। सभी क्षेत्रों के वितंडावादियों पर उन्होंने निर्मम व्यंगात्मक प्रहार करना आरंभ कर दिया। राजनीतिक विषयों में रवीन्द्रनाथ प्रारंभ ही से दिलचस्पी लेते चले आ रहे थे और अक्सर उस पर टीका-टिप्पणियाँ करते रहते थे। अपने साहित्यिक जीवन की प्रगति के दौरान में वह देश की राजनीतिक तथा धार्मिक गतिविधि के प्रति कभी उदासीन न रह सके। इसका कारण यह था कि वह जीवन की सर्वांगीण प्रगति पर विश्वास रखते थे और साहित्य का एक महत्त्वपूर्ण उद्देश्य उस व्यापक प्रगति की अभिव्यंजना मानते थे।

काव्यक्षेत्र में 'मानसी' के बाद 'सोनार तरी' का युग आरंभ हुआ। 'मानसी' की अंतिम कविता लिखने के प्रायः पन्द्रह महीने बाद उन्होंने 'सोनार तरी' (सोने की नैया) लिखी। यह कविता 'साधना' के द्वितीय वर्ष के किसी एक अंक में प्रकाशित हुई। तब तक रवीन्द्रनाथ की प्रतिभा का जादू उस युग के सभी प्रमुख साहित्यकारों और साहित्य-पारखियों के सिरों पर चढ़कर बोलने लगा था। उनके कड़े व्यंगात्मक और आलोचनात्मक प्रहारों से तिलमिलाने पर भी यह धारणा सब के मन में जम चुकी थी कि देश के सांस्कृतिक आकाश में धूमकेतु के समान विस्तार वाला एक नया और प्रखर तेजसंपन्न सूर्य उदित हो चुका है। एक ओर वे लोग रवीन्द्र-प्रतिभा के नये-नये रूपों से प्रभावित और मुग्ध होते थे, दूसरी ओर अपने रूढ़िवादी संस्कारों की हठधर्मी के कारण उनके प्रगतिशील और क्रांतिकारी विचारों के कट्टर विरोधी भी बन बैठते थे। पर किसी भी हालत में उनकी रचनाओं के प्रति उदासीन नहीं रह पाते थे। इसलिये जब 'सोनार तरी' शीर्षक कविता

'साधना' में प्रकाशित हुई तब उसके रूप-गठन और रचना-शैली की नवीनता से मुग्ध होने पर भी साहित्य-सम.ज उसके भावों की अस्पष्टता की तीव्र आलोचना करने लगा। इस कविता के प्रकाशन के प्रायः चौदह वर्ष बाद इस विरोधी आलोचना ने अत्यंत तीव्र रूप धारण किया था, जिसके फलस्वरूप बंगाल के साहित्य-गगन में एक विकट बवंडर सा उठ खड़ा हुआ था। तब रवीन्द्र-साहित्य के विरोधियों ने संगठित होकर, 'सोनार तरी' कविता को केन्द्र बनाकर, यह प्रमाणित करने का प्रयत्न किया कि चूँकि रवीन्द्रनाथ की अधिकांश कविताओं के भाव अत्यंत अस्पष्ट होते हैं, इसलिये वे कविताएँ रूप-गठन में सुंदर लगने पर भी एकदम महत्वहीन हैं। इस विरोधी दल के मुखिया उस युग के प्रमुख साहित्यकार द्विजेन्द्रलाल राय थे। इस बात को लेकर रवीन्द्रनाथ के समर्थकों और विरोधियों के बीच ऐसा बावैला मचा कि तटस्थ साहित्यकार भी विचलित हो उठे। रवीन्द्रनाथ के विविध समर्थकों ने 'सोनार तरी' के विविध अर्थ किये, जिसमें विरोधियों की आवाज बंद होने के बजाय और अधिक तीव्र हो उठी। अंत में स्वयं रवीन्द्रनाथ ने उसका अर्थ समझाने का प्रयत्न किया। पर उन्होंने खींच-तानकर उसकी जो व्याख्या की वह कविता से भी अधिक जटिल हो उठी। असल बात यह थी कि वह कविता कवि की किसी निगूढ़ रहस्य-मूलक मनःस्थिति में लिखित एक भाव-चित्र के अतिरिक्त और कुछ नहीं थी। पर रवीन्द्रनाथ उसकी दार्शनिक व्याख्या में उलझ गये। इस कवितात्मक भावचित्र की तुलना कवि के उन विचित्र चित्रों से की जा सकती है जो वृद्धावस्था में उन्होंने अंकित किये थे। वे चित्र हृदय में केवल एक गहरी किंतु अस्पष्ट अनुभूति छोड़ जाते हैं---उनकी कोई निश्चित व्याख्या गणित के सिद्धांतों की तरह नहीं हो सकती।

'सोनार तरी' सिरीज की कुछ कविताएँ भाव की दृष्टि से अस्पष्ट हैं, पर उस माला की सभी कविताओं के संबंध में यह बात नहीं कही जा सकती। अधिकांश कविताएँ केवल रूप-गठन और शैली की दृष्टि से ही सुंदर नहीं हैं, वरन् भावों की गहनता, रूप-चमत्कार और रसोद्वेलन की

दृष्टि से भी अनुपम हैं। उन कविताओं ने निश्चित रूप से बंगाल के तत्कालीन साहित्य-क्षेत्र में एक मूलतः नयी और सर्वप्लाविनी धारा का आनयन कर दिया। जो लोग इस नयी क्रांति की बाढ़ को रोकने का निरर्थक प्रयत्न कर रहे थे उन्हें अंत में अपनी असफलता से खीझकर चुप रह जाना पड़ा।

'सोनार तरी' युग में रवीन्द्रनाथ की बहुत-सी अमर रचनाओं की सृष्टि हुई। इस युग में वह तीस वर्ष पार कर चुके थे और जीवन-सागर के गहन मन्थन के महान कार्य में जुटकर प्रकृति के अतल गर्भ से एक से एक नये और मूल्यवान रत्न निकालते चले जा रहे थे। मानव-जीवन के निगूढ़ रहस्य के विश्लेषण से संबंधित अपनी सारी चिन्तना और ज्ञान को रस में परिणत करके उस रस को अपूर्व-सुन्दर और अभिनव कला से सँवारी हुई काव्य-धारा के रूप में अनायास प्रवाहित करते चले जा रहे थे। उन कविताओं में हम केवल विचित्र चित्रात्मिका अंतः और बहिर्प्रकृति की मोहिनी माया का ही सहज-चमत्कार पूर्ण प्रस्फुटन नहीं पाते, बल्कि मानव-जीवन और मानव-चरित्र के मर्मगत रहस्यों का भी विश्लेषण और उद्घाटन उनमें हमें मिलता है। इन कविताओं में एक ओर कवि की छायात्मिका प्रकृति और रहस्योन्मुखी प्रवृत्ति का परिचय पाया जाता है और दूसरी ओर ठोस जीवन के सनूर्त सत्यों में कवि की गहरी दिलचस्पी दिखायी देती है। इस युग में हम देखते हैं कि अनंत यौवन और अनंत प्रेम के आनन्द उद्गम से निकली हुई 'हृदय-यमुना' में बाढ़ आयी है, उसके दोनों कूल अमित रस-राशि से छाये हुए हैं और उनमें उद्दाम तरंगें हिलोरें मार रही हैं। 'मानसी' में कवि सूरदास मानवीय प्रेम-जनित दुर्निवार वासना को स्वर्गिक प्रेम के आध्यात्मिक स्तर तक ऊपर उठाने के लिए व्याकुल दिखायी देते हैं; 'सोनार तरी' में प्रेम की स्वर्गिक अनुभूति को मानवीय स्तर पर, जीवन के प्रतिदिन के सुख-दुःखों के बीच में उतारने की प्रवृत्ति का परिचय मिलता है। 'वैष्णव कविता' शीर्षक कविता में यह भाव स्पष्ट लक्षित होता है। वैष्णव भक्तों का कहना था कि वैष्णव कविता में राधा-कृष्ण की जो प्रेम-लीला वर्णित है उसका मानवीय प्रेम से कोई संबंध नहीं है, वह केवल भक्त और भगवान

के बीच की रसानुभूति का विषय है, और मानवीय स्तर से उसका रसास्वादन करने का प्रयत्न पापपूर्ण और निष्फल है। इस दृष्टिकोण के विरुद्ध कवि का मन विद्रोही हो उठता है। वह निजी अनुभूति के बल पर अधिकार के साथ यह घोषित करना चाहता है कि देवताओं के स्वर्गिक प्रेम की कल्पना मानवीय प्रेमानुभूति द्वारा ही संभव हुई है, इसलिये उस प्रेम-लीला में रस लेने का पूरा अधिकार मनुष्य को है :

"हे वैष्णव कवि, मुझे सच-सच बताओ, तुमने जिस स्वर्गिक प्रेमछवि का वर्णन किया है उसे तुमने कहाँ पाया ? तुमने यह विरह-तप्त प्रेम-गान कहाँ से सीखा था ? किसकी आँखें देखकर राधिका के गीले नयनों की छवि तुम्हारी कल्पना में उतरी थी ? प्रेम-पीड़िता राधा की मर्मभेदी व्याकुलता तुमने किसके मुख से, किसकी करुण आँखों से चुरायी थी ? आज उसी के नारी-हृदय से सिंचित धन से तुम उसी को वंचित करना चाहते हो ? यह प्रेम गीति-हार केवल नर-नारी के मिलन द्वारा ही गूँथा जा सकता है। कोई उसे प्रियजन के गले में पहनाता है और कोई उसे देवता को समर्पित कर देता है। जिस अमूल्य निधि को हम देवता को दे सकते हैं उसे ही हम प्रियजन को सौंपते हैं, और जिसे प्रियजन के योग्य समझते हैं उसी को देवता के लिये रख छोड़ते हैं। और कहाँ से लायें ? देवता को ही हम अपना प्रियतम बनाते हैं और प्रियतम को ही देवता।"

रवीन्द्रनाथ का यह विश्वास था कि मनुष्य के बीच में ही देवत्व की प्रतिष्ठा होनी चाहिये न कि देवत्व के बीच में मनुष्यत्व की प्रतिष्ठा। प्रसिद्ध वैष्णव कवि चंडीदास इस सत्य को पहले ही हृदयंगम कर चुके थे। उन्होंने कहा था :

सुनो रे मानुष भाई !
सबार ऊपरे मानुष सत्य
ताहार ऊपरे नाई।

"हे भाई, मनुष्य, सुनो, मानवीय सत्य सबके ऊपर प्रतिष्ठित है,

उसके परे और कुछ नहीं है।"

रवीन्द्रनाथ की समस्त जीवन व्यापी काव्य-साधना, सारी रहस्याराधना इसी ठोस मानवीय सत्य के ऊपर प्रतिष्ठित थी। उनकी किशोरावस्था से लेकर वृद्धावस्था तक की सभी रचनाओं में यह सत्य विविध रूपों में व्यक्त होता चला गया है। 'सोनार तरी' की 'पुरस्कार' शीर्षक काव्यकथा का नायक एक कवि ही है। वह कहता है:

श्यामला विपुला ए धरार पाने
चेये देखि आमि मुग्ध नयाने,
समस्त प्राणे केन जे के जाने
भरे आसे आँखि-जल।
बहु मानवेर प्रेम दिये टाका,
बहु दिवसेर सुखे-दुखे आँका
लक्ष युगेर संगीत माखा
सुन्दर धरातल।

"श्यामला, विपुला इस पृथ्वी की ओर मैं जब मुग्ध दृष्टि से देखता हूँ, तब मेरे समस्त प्राण, न जाने क्यों, आँसुओं से गीले हो उठते हैं। यह सुन्दर धरातल असंख्य मानवों के प्रेम से छाया हुआ है, अनेक दिनों के सुख-दुःख इसमें अंकित हैं और लाख-लाख युगों के संगीत-स्वरों से इसके प्राण मुखर हैं।"

यह दिगंत-विस्तृत श्यामला पृथ्वी कवि को इसीलिये प्यारी है कि अनंत युगों से असंख्य मनुष्यों की सुख-दुःखमयी लीला से उसके प्राणों का कण-कण पुलक-विकल है। यही भाव रवीन्द्रनाथ की बहुत-सी परवर्ती कविताओं में भी विभिन्न रूपों में व्यक्त हुआ है, जिनमें 'सोनार तरी' के बाद के कविता संग्रह 'चित्रा' की 'स्वर्ग से बिदा' शीर्षक कविता विशेष रूप से उल्लेखनीय है। इस कविता में कवि अपने अवचेतनात्मक स्वप्नों के सूत्र से स्वर्ग में सौ लाख वर्षों तक देवताओं और अप्सराओं के बीच में बिताने के बाद जब पुण्य-

बल क्षीण होने पर स्वर्ग से विदा होने लगता है तब वह देखता है कि उसकी विदाई से स्वर्ग के किसी भी प्राणी के हृदय में लेशमात्र भी वेदना नहीं जगती। सुख-स्वर्गभूमि उसे एकदम उदासीन और हृदयहीन दिखायी देती है। जिस अप्सरा के साथ उसने लाखों वर्षों तक सुखमय प्रेम-जीवन बिताया था, उसकी आँखों में भी कवि की बिदाई के अवसर पर अश्रुरेखा का तनिक भी चिह्न नहीं दिखाई देता। कवि समझ जाता है कि यह देवलोक कुछ विचित्र ही सृष्टि है। उसके विलास-वैभव के प्रति युग-युग से मनुष्य का लुब्ध मन अत्यंत तीव्रता से आकर्षित होता है, पर स्वयं उसे मनुष्य की कोई चाह नहीं है। स्वर्ग के देवता और स्वर्ग की अप्सराएँ दोनों न किसी से मिलन के लिये आतुर रहते हैं न किसी की विदाई से शोक-मग्न होते हैं। उनके सहज-प्राप्त सुख में किसी भी क्षण किसी भी कारण से कोई कमी नहीं आती। वहाँ का चिरसुख कभी दुःख की छाया से म्लान नहीं होता, वहाँ का प्रेम विरह की मर्म-वेदना की अनुभूति से कविता की सृष्टि नहीं करता। पर मर्त्यभूमि—यह श्यामता-विपुला पृथ्वी—स्वर्ग नहीं है; क्योंकि:

"वह मातृभूमि है। इसलिये जब कोई प्राणी दो घड़ी के लिये भी उसे छोड़ कर जाता है तब उसकी आँखों से आँसुओं की झड़ी बहने लगती है। जितने क्षुद्र और क्षीण जन हैं, जितने भी दीन-हीन, अभाजन और पापी-तापी हैं, उन सबको वह व्यग्र आलिंगन से अपनी छाती से लगाने के लिये आतुर रहती है। हे देवगण, तुम्हारे स्वर्ग में अमृत बहता रहे, पर हमारी इस मर्त्यभूमि में अनन्त सुख-दुख से मिश्रित प्रेमधारा बनी रहे, और भूतल के छोटे-छोटे स्वर्गखंड अश्रुजल से सदा हरे-भरे रहें।"

कहानी युग

जिन लोगों को रवीन्द्रनाथ की साहित्यिक प्रतिभा का परिचय केवल 'गीतांजलि' के माध्यम से मिला है वे कल्पना नहीं कर सकते कि रवीन्द्रनाथ रहस्यवादी की अपेक्षा मानववादी अधिक थे। मानव-जीवन-धारा के प्रति-दिन और प्रतिपल के अविरत प्रवाह के साथ उनकी प्राण-धारा का अविच्छिन्न संबंध था। साहित्य-सर्जना की मूल प्रेरणा उसी धारा के बीच में उन्हें प्राप्त होती थी। 'साधना' के युग में जो अपूर्व सुन्दर छोटी कहानियाँ उन्होंने लिखीं वे आज विश्व-कथा-साहित्य की अमूल्य निधि इसीलिये बनी हुई हैं कि उनमें मानवीय वेदना की अनुभूति कवि-प्राणों के अनिर्वचनीय सम्मोह-स्पर्श से जीवन्त और जाग्रत हो उठी है। प्रतिदिन के जीवन-संघर्ष में पिसते रहनेवाले मध्य, निम्नमध्य तथा निम्नतम वर्ग के प्राणियों के भीतर उसी जीवन-संघर्ष के फलस्वरूप जो भाव-वेदनाएँ विभिन्न परिस्थितियों में जगती रहती हैं उनका अत्यंत सहज और सुन्दर प्रस्फुटन रवीन्द्रनाथ की छोटी कहानियों में बड़ी बारीक रेखाओं में हुआ है। कहानियां लिखने में कवि को हार्दिक सुख प्राप्त होता था। यह एक ऐसा क्षेत्र उन्हें मिल गया था जिसमें उनके अंतर में निरंतर उमड़ते रहनेवाली मानवीय तथा काव्यात्मक भावों की समन्वयात्मक अभिव्यंजना स्वाभाविक ढंग से हो सकती थी। इसके अतिरिक्त उनका यह मत था कि "इस देश में जीवन की गतिविधि जैसी संकीर्ण और वैचित्र्यहीन है, उसे देखते हुए यही लगता है कि छोटी कहानी के साथ ही इसकी स्वाभाविक संगति और सामंजस्य हो सकता है। × × × हमारा जीवन जिन छोटे-छोटे विक्षोभों द्वारा आन्दोलित होता रहता है वह छोटी कहानी के तंग दायरे के भीतर सहज ही सीमाबद्ध हो सकती है। हमारे

प्रतिदिन के साधारण कार्यों के भीतर जितना माधुर्य और भावात्मकता का अस्तित्व पाया जाता है उसे छोटी कहानी के प्याले के भीतर अनायास ही भरा जा सकता है। उसके लिए औपन्यासिक विस्तार की आवश्यकता नहीं है।"

आज कवि के इस मत से सबका मत नहीं मिल सकता। आज इस देश में भी जीवन का क्षेत्र इतना गहरा और व्यापक हो उठा है कि उसके भीतर के सभी घटना-वैचित्र्यों और भाव-विस्फोटों की अभिव्यक्ति के लिये केवल एक साधारण उपन्यास ही नहीं बल्कि पूरा महाभारत रचने की आवश्यकता आ पड़ी है। पर जिस युग में रवीन्द्रनाथ ने छोटी कहानियां लिखना आरंभ किया था उस युग में निम्न मध्यवर्गीय अथवा निम्नतमवर्गीय भारतीय जीवन एक ओर विदेशी शासन से संतप्त और दूसरी ओर अशिक्षांधकार-ग्रस्त समाज के परंपरा-प्रचलित कुसंस्कारों से अभिशप्त था। ऐसी स्थिति में उनके जीवन-संबंधी चित्रों को किसी व्यापक और विस्तृत साहित्यिक ढांचे के भीतर भरने की कोई आवश्यकता नहीं थी। पर संकीर्ण समाज के भीतर भी मानवीय भाव-वेदनाएँ पूरे विस्फोटों के साथ उमड़ती ही रहती हैं। उनकी अभिव्यक्ति के लिये छोटी कहानियों का सीमित ढांचा निश्चय ही पर्याप्त था।

रवीन्द्रनाथ की कहानियों का ठीक-ठीक मूल्यांकन अभी तक नहीं हो पाया है। इसके कारण हैं। उनकी जिन थोड़ी सी कहानियों का अनुवाद अँगरेजी में हुआ है वे एक तो पर्याप्त नहीं हैं, दूसरे उनका चुनाव ठीक नहीं हुआ है, तीसरे जो अनुवाद हुआ है वह अधिकांशत: अनधिकारी व्यक्तियों के अनाड़ी हाथों द्वारा हुआ है। यदि अधिकारी व्यक्तियों द्वारा उनकी सभी कहानियों का अनुवाद अँगरेजी या किसी दूसरी पाश्चात्य भाषा में हुआ होता तो विश्व-साहित्य के योग्यतम पारखियों द्वारा एक स्वर से उनकी श्रेष्ठता घोषित हो गयी होती। आज छोटी कहानी के क्षेत्र में दो व्यक्तियों के नाम सबसे पहले लिये जाते हैं—मोपासां और चेखव। रवीन्द्रनाथ की कहानियां इन दो विश्व-विख्यात कहानीकारों की कहानियों से भी बहुत-सी बातों में

आगे बढ़ी हुई हैं, इस निश्चित सत्य की ओर अभी तक किसी कथा-साहित्यालोचक का ध्यान नहीं गया है। मोपासां की कहानियों में हम अधिकतर रूप-गठन का चमत्कार पाते हैं और चेखव की कहानियों में हम पाते हैं तीव्रो भाव-वेदनाओं का मार्मिक प्रस्फुटन। रवीन्द्र की छोटी कहानियों में इन दोनों का सुंदर समन्वय और कलापूर्ण सामंजस्य तो है ही, साथ ही एक ऐसी विशेषता भी हमें उनमें मिलती है जो उन दोनों से ऊपर है। एक क्षण के भाव-सत्य को युग-युग से प्रवाहित मानव-जीवन-धारा के भाव-सत्य के साथ सुंदर और सुनिश्चित रूप से संयोजित कर सकने की जो क्षमता हम रवीन्द्र की कला में पाते हैं वह दूसरे कहानी-कलाकारों में उस हद तक विकसित नहीं हो पायी है।

मानव-जीवन ही रवीन्द्र की साहित्य-साधना का मुख्य आधार रहा है, इस तथ्य पर जितना भी जोर दिया जाय कम है। अपने साहित्यिक निबंधों में भी उन्होंने अपने इसी दृष्टिकोण की व्याख्या की है। 'साधना'-युग के ही एक निबंध में उन्होंने लिखा था: "मैं जितना ही सोचता हूँ और आलोचना करता हूँ, उतना ही यह सत्य मेरे आगे अनुभव-सिद्ध होता जाता है कि समग्र मनुष्य को प्रकाश में लाने की चेष्टा ही साहित्य का प्राण है। × × × मनुष्य का प्रवाह निरंतर तीव्र वेग से आगे को बढ़ा चला जा रहा है। उसके समस्त जीवन की समष्टि अन्यत्र कहीं न रहकर केवल साहित्य में ही स्थिर होकर रह सकती है। संगीत में, चित्र में, विज्ञान में, दर्शन में समस्त मनुष्य को हम नहीं पा सकते। इसीलिये साहित्य सभी देशों की मानवता का अक्षय भंडार है।"

जो रोमांटिक कविगण साहित्य में केवल प्रकृति वर्णन को अधिक महत्त्व देते रहे हैं उनसे प्रकृति-प्राण रवीन्द्रनाथ का बड़ा मतभेद था। वह लिखते हैं: "चाहे निजी सुख-दुःखों की अनुभूति द्वारा हो, चाहे दूसरों के सुख-दुःखों के ज्ञान द्वारा हो, चाहे प्रकृति-वर्णन द्वारा हो और चाहे मानव-चरित्र के चित्रण द्वारा हो, मनुष्य को अभिव्यक्त करना ही साहित्य-धर्म है। शेष सब उपलक्ष्य मात्र है। प्रकृति-वर्णन भी उपलक्ष्य के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। क्योंकि

साहित्य का काम यह दिखाने का नहीं है कि प्रकृति का यथार्थ स्वरूप क्या है। साहित्य यह प्रदर्शित करता है कि प्रकृति मनुष्य के अंतर में, मनुष्य के सुखदुःखों के चारों ओर किस प्रकार अपने को व्यक्त करती रहती है। इसी प्रकार विशुद्ध सौन्दर्य की अभिव्यंजना भी साहित्य का उद्देश्य (साध्य) न होकर साहित्य के भीतर से मानवत्व को प्रकाशित करने का एक साधन मात्र है।"

जो लोग यह मानते रहे हैं कि रवीन्द्रनाथ सौन्दर्य को केवल सौन्दर्य के लिये, कला को केवल कला के लिये महत्त्व देते थे उन्हें उक्त उद्धरण पर विशेष ध्यान देना चाहिये। यह ठीक है कि रवीन्द्रनाथ सौन्दर्य-प्रेमी भी थे और कला-प्राण भी। पर इन दोनों को उन्होंने अंतिम साध्य कभी नहीं माना, बल्कि मानव-जीवन के अभिव्यक्तीकरण के लिये सुंदर और उपयुक्त साधन माना है।

छोटी कहानियाँ रवीन्द्रनाथ ने अधिकतर तब लिखीं जब वह जमींदारी की देख-रेख के सिलसिले में शिलाइदह में रहते थे और उत्तर बंग के गांवों में और नदियों में भ्रमण और निवास करते हुए विभिन्न प्रकार के व्यक्तियों के संपर्क में उन्हें आना पड़ता था। उनकी अधिकांश कहानियों में प्रत्यक्ष देखे हुए पात्रों की अवतारणा हुई है और प्रत्यक्ष-अनुभूत घटनाओं और परिस्थितियों का वर्णन हुआ है। उन स्थूल घटनाओं और परिस्थितियों के भीतर जीवन के जो सूक्ष्म सत्य निहित थे, कवि की अन्तर्भेदी और पारदर्शी दृष्टि में वे ठीक-ठीक उतर आये और उनकी अपूर्व सुंदर कलात्मक अभिव्यंजना उन्होंने कहनियों के माध्यम से की।

कहानियों में जीवन के सूक्ष्म भाव-सत्यों के निरूपण के लिये उन्होंने यथार्थ जीवन के स्थूल सत्यों की तनिक भी अवहेलना कभी नहीं की। यह ठीक है कि उनकी दो चार कहानियों में फेन्टेस्टिक अथवा विचित्र कल्पनात्मक तत्त्वों का समावेश हुआ है। ऐसी कहानियों में 'क्षुधित पाषाण' प्रमुख है, जिसके अँगरेजी अनुवाद ('हंगरी स्टोन्स') से साहित्य-प्रेमी अच्छी तरह परिचित हैं, पर ऐसी कहानियों की संख्या अधिक नहीं है और उनकी अधि-

कांश कहानियां जीवन की ठोस यथार्थता पर आधारित हैं। अँगरेजों के प्रबल प्रताप से संतप्त उस युग में उन्होंने अँगरेज-विरोधी विकट राजनीतिक परिस्थितियों तक की अवतारणा अपनी कहानियों में की है। उदाहरण के लिये, उनकी 'मेघ ओ रौद्र' (बादल और धूप) शीर्षक कहानी लीजिये। इस कहानी में एक भोली बालिका और एक भोले किंतु दृढ़-चरित्र युवक के पारस्परिक निष्पाप स्नेह की कथा को दो अंगरेज पदाधिकारियों के नृशंस अत्याचार की कहानी के साथ ऐसे आश्चर्यजनक कला-कौशल से गूँथ दिया गया है कि उस घोर यथार्थमूलक वातावरण का चित्र सुस्पष्ट रूप से सामने आने लगता है। यह कहानी युग की एक विशेष परिस्थिति से संबद्ध होने पर भी उसकी अन्तर्धारा में एक ऐसी भाव-वेदना प्रवाहित होती रहती है जो युग-युग के सत्य के साथ अपना संबंध सहज ही में जोड़ लेती है। यही बात रवीन्द्रनाथ की बहुत सी दूसरी कहानियों के संबंध में कही जा सकती है।

कल्पना और वास्तविकता

देश-विदेश भ्रमण की इच्छा रवीन्द्रनाथ के मन में बचपन से थी—जब वह जोड़ासांको के ठाकुर-भवन की विशाल चहारदीवारी के भीतर नौकरों की संरक्षकता में कैद रहते थे। तभी से भ्रमण की यह प्रवृत्ति केवल भ्रमण के उद्देश्य से नहीं थी, बल्कि विश्व-जीवन और विश्व-मानव के विविध वैचित्र्यमय रूपों को प्रत्यक्ष देखकर उन सब रूपों के साथ अपने मन का तादात्म्य स्थापित करने की प्रबल आकांक्षा इस प्रवृत्ति के मूल में निहित थी। 'सोनार तरी' युग की सुप्रसिद्ध 'वसुंधरा' शीर्षक कविता में यह प्रवृत्ति परिपूर्ण काव्यात्मकता के साथ व्यक्त हुई है। यौवन की प्रारंभिक अवस्था में एक बार उन्होंने यह योजना बनायी थी कि कुछ मित्रों के साथ एक बैलगाड़ी पर सवार होकर ग्रान्ड ट्रंक रोड से समस्त उत्तर भारत की यात्रा की जाय। कुछ विशेष कारणों से यह योजना सफल न हो पायी।

जब उन पर जमींदारी का कार्य सँभालने का भार आ पड़ा, तब एक सीमित क्षेत्र में बँध जाने पर भी वह छोटी-मोटी यात्राएँ बराबर करते रहे। विशेषकर नदी के रास्ते से यात्रा करने में उन्हें अधिक सुख प्राप्त होता था। उन दिनों ठाकुर परिवार की जमीन्दारी बहुत बड़ी थी। विशेष रूप से वह तीन स्थानों में फैली हुई थी—गंगा के तट पर शिलाइदह के आस-पास, उड़ीसा में, और राजशाही जिले के अंतर्गत कालिग्राम में। रवीन्द्रनाथ शिलाइदह को केन्द्र बना कर तीनों स्थानों की देखभाल करते रहते थे। शिलाइदह में निवास का युग रवीन्द्रनाथ के साहित्यिक उत्पादन का सबसे महत्त्वपूर्ण युग था। शिलाइदह पद्मा नदी के तट पर बसा हुआ है। पद्मा गंगा के उस भाग का नाम है जिसके ठीक बाद गंगा ब्रह्मपुत्र में मिलकर सहस्र

धाराओं में विभक्त हो जाती है। पद्मा के खर-प्रवाह ने और उसके विस्तृत तीरवर्ती चित्र-विचित्रमय जीवन ने कवि के प्राणों को इस कदर मोह लिया था कि वह अक्सर महीनों तक नदी पर ही नाव में डेरा बाँधकर रहते थे। अपने एक पत्र में वह लिखते हैं: "सचमुच पद्मा को मैं प्राणों से भी अधिक प्यार करता हूँ। जिस प्रकार ऐरावत इन्द्र का वाहन है उसी प्रकार मेरा यथार्थ वाहन है पद्मा। यह ठीक है कि इसकी आदतें घरेलू और पालतू ढंग की नहीं हैं, उसमें जंगलीपन काफी है; फिर भी मुझे उसे दुलराने की इच्छा होती है। जब मैं शिलाइदह में बजरे में रहता हूँ तब मुझे पद्मा एक वास्तविक और स्वतंत्र मनुष्य की तरह लगती है।"

पद्मा से प्रेरणा पाकर रवीन्द्रनाथ ने कई अमर कविताएँ, कहानियां और निबंध लिखे हैं। पद्मा-निवास-काल का जलमय जीवन केवल जल के कारण ही उन्हें प्रिय नहीं था; अपने दोनों ओर के मानवीय सुख-दुःखमय द्वन्द्व से पूर्ण स्थलमय जीवन की विभाजन-रेखा के रूप में वह उन्हें अधिक आकर्षित करता था। जमीन्दारी के कार्यों के सारे झंझटों के बीच में, केवल पद्मा ही उनके लिये सुख और सांत्वना का कारण बनी हुई थी।

प्रजावर्ग का दुःख-दैन्यपूर्ण जीवन प्रतिपल उनकी अंतरात्मा को कचोटता रहता था। बार-बार उनके अनुभूतिप्रवण मन में यह प्रश्न उठता था कि एक वर्ग इस प्रकार दीन-हीन, विपन्न और अज्ञ बना रहे और दूसरा वर्ग उनसे कर वसूल करके जीवन-यापन की सारी सुविधाएं अनायास ही प्राप्त करता हुआ संस्कृति के उच्चतम शिखर पर आरूढ़ रहे, यह कहां तक न्याय-संगत है। पर समाज में धन-विभाजन की सम-व्यवस्था होनी चाहिये या नहीं, इस संबंध में कवि का मन तब संशयाच्छन्न और द्विविधाग्रस्त रहता था। एक पत्र में वह लिखते हैं: "विधाता ने हमें एक ऐसा छोटा, जीर्ण और दीन वस्त्रखंड दिया है कि उससे पृथ्वी का एक छोर ढकने से दूसरा छोर नंगा पड़ जाता है—दरिद्रता दूर करने के प्रयत्नों में धन चला जाता है और धन के चले जाने से समाज के श्री-सौन्दर्य की वृद्धि का कितना बड़ा साधन चला जाता है इसकी सीमा नहीं है।" यह वही तर्क है जो इतने युगों से धनीगण बराबर

उपस्थित करते चले आ रहे हैं। फिर भी नंगों और भूखों के प्रति कवि के अंतर की समवेदना में ढोंग का लेश नहीं था और उनका उद्धार न कर सकने की ग्लानि दिखावटी नहीं थी। यह वेदना उनके प्राणों से घुली-मिली थी। साथ ही यह बात भी ध्यान में रखने योग्य है कि उन्नीसवीं शती के भारत में एक कवि-जमीन्दार (बल्कि जमीन्दार-पुत्र) के मन में यह प्रश्न पूरे जोरों से उठा था कि नंगों-भूखों की समस्या कैसे हल हो। उस घोर रूढ़िवादी युग में यह कोई साधारण बात नहीं थी। उन्हीं दिनों उन्होंने 'एबार फिराओ मोरे' (मुझे इस बार लौटालो) शीर्षक एक कविता लिखी थी जिसमें दीन-हीन और अभावग्रस्त जनों के दुर्बल प्राणों के भीतर नयी शक्ति का मंत्र फूँकने के लिए कवि की तीव्र उत्सुकता ध्वनित होती है। कवि स्वयं अपने को संबोधित करते हुए कहता है:

"अरे अभागे, तू वंशी बजाना और कविता गाना छोड़कर उठ। बाहर आकर देख, कहाँ आग लगी है। संसार के सोये हुए लोगों को जगाने के लिये किसका शंख बज उठा है। किस अंधकारपूर्ण कारा में जर्जर बंधन-ग्रस्त अनाथिनी सहायता माँग रही है। स्फीतकाय अपमान किस प्रकार लाखों मुखों से अक्षमों की छाती से रक्त सोखकर पान कर रहा है। स्वार्थोद्धत अन्याय दुखियों की पीड़ा का कैसा उपहास कर रहा है। संकुचित और भीत क्रीतदास किस तरह छद्मवेश में अपने को छिपा रहे हैं।

"यह देखो, ये सब दीन-हीन लोग मौन भाव से सिर झुकाये खड़े हैं। उनके म्लान मुखों पर सौ-सौ शताब्दियों की पीड़ा की करुण कथा लिखी हुई है। × × × इन सब मूढ़, म्लान, मूक मुखों को भाषा देनी होगी; इन सब श्रान्त, शुष्क, भग्न हृदयों में आशा की वाणी ध्वनित करनी होगी। उनसे पुकार-पुकारकर कहना होगा; 'तुम सब लोग तनिक सिर ऊँचा करके एक साथ मिलकर एक बार खड़े तो हो जाओ। जिसके भय से तुम लोग भीत हो वह अन्यायी तुमसे भी अधिक कायर है। जिस क्षण तुम लोग जग जाओगे वह फौरन भाग खड़ा होगा। जब भी तुम उसके सामने निर्भय खड़े

हो जाओगे उसी क्षण वह संकुचित होकर भय से रास्ते के कुत्ते की तरह दुबक जायगा।

"हे कवि उठो, यदि तुम्हारे पास प्राण हैं तो उसे आज दान करो। सामने कष्टपूर्ण संसार बहुत ही दरिद्र है और अंधकार से घिरा हुआ है। अन्न चाहिये, प्राण चाहिये, प्रकाश चाहिये, मुक्त वायु चाहिये। बल, स्वास्थ्य और आनंद से उज्ज्वल परमाणु चाहिये। और चाहिये साहस से भरी हुई चौड़ी छाती। इस विश्वव्यापी दैन्य के बीच में, हे कवि, एक बार स्वर्ग से विश्वास की छवि ले आओ।"

यह विद्रोहात्मक कविता कवि ने १८८५ में लिखी थी। बाद में यह 'चित्रा' नामक संग्रह में प्रकाशित हुई।

यह कविता लिखने के प्रायः तीस वर्ष बाद जब कवि रूस गये तब वहाँ से जो पत्र उन्होंने लिखे थे उनमें समतावादी स्वर सुस्पष्ट हो उठा था। श्रीनिकेतन के वार्षिक उत्सवों के अवसर पर जो भाषण उन्होंने दिये उनमें भी सम-श्रम और सम-वितरण पर उन्होंने जोर दिया था।

प्रजा के हित का ध्यान रवीन्द्रनाथ को प्रारंभ ही से रहता था। जब उनका कोई कर्मचारी प्रजा पर अत्याचार करता था तब वह उसे तनिक भी क्षमा नहीं करते थे। इसलिए प्रजावर्ग उनका अंतर से आदर करता था।

जमींदारी की देखभाल का बहुत बड़ा उत्तरदायित्व सिर पर लेने पर भी उनकी निजी आर्थिक स्थिति में कोई सुधार नहीं हो पाया। वह केवल एक वेतन-भोगी कर्मचारी के रूप में काम कर रहे थे। इस काम के लिये उन्हें प्रतिमास ढाई सौ रुपया मिलता था, बस। उनका अपना अलग एक परिवार था। तब वह तीन बच्चों के बाप बन चुके थे। अपनी पुस्तकों को छपाने में बहुत-सा कर्जा सिर पर लाद चुके थे। पग-पग पर उन्हें बड़ी किफायत से चलना होता था।

इन सब झंझटों के बीच में भी लिखने का क्रम नियमित रूप से चलता ही जाता था। कविताएँ, कहानियां, विविध-विषयक निबंध आदि के अलावा 'चित्रांगदा' नाम से एक काव्यात्मक नाटक भी उन्होंने लिखा। 'महाभारत'

में वर्णित मणिपुर की राजकुमारी चित्रांगदा और अर्जुन की कहानी को लेकर यह नाटक रचा गया है। चित्रांगदा से बनवासी अर्जुन की पहली भेंट तब हुई जब वह वीरांगना पुरुष-वेष में धनुष-बाण हाथ में लिये वन में घूम रही थी। अर्जुन के व्यक्तित्व पर मुग्ध होकर वह अपने उस 'पौरुष' को धिक्कारती है जो उस वीर को अपनी ओर आकर्षित नहीं कर पाता। वह मदन और वसंत से प्रार्थना करती है और उनके वरदान से एक असाधारण सुंदरी नारी का अस्थायी रूप धारण करती है। अर्जुन वह रूप देखकर मुग्ध हो जाता है और उससे विवाह कर लेता है। पर चित्रांगदा इस जानकारी से पीड़ित रहती है कि अर्जुन उसके वास्तविक व्यक्तित्व से नहीं बल्कि उसके रूप से प्रेम करता है। इसलिये अर्जुन की विदाई के अवसर पर वह अपने सच्चे रूप को प्रकट करती हुई कहती है: "मैं वह सुन्दरी नारी नहीं हूँ जिसे तुमने प्यार किया है। वह मेरा हीन छद्मवेश था। मैं चित्रांगदा हूँ। न मैं देवी हूँ, न सामान्य रमणी। पूजा करके अपने सिर पर चढ़ाकर रखना चाहोगे, ऐसी नारी भी मैं नहीं हूँ; उपेक्षा करके जिसे घर के भीतर पालतू जीव की तरह बाँध रखना चाहोगे वह भी मैं नहीं हूँ। मेरा यथार्थ परिचय तुम केवल तभी पा सकोगे जब जीवन के विकट संकटों के पथ पर मुझे अपनी सहचरी बनाकर रखोगे, अपनी दुरूह चिन्ताओं की भागी बनाओगे, अपने कठिन कर्मव्रत की सहायिका के रूप में मुझे ग्रहण करोगे और अपने सुख-दुःख की संगिनी मानोगे।"

पुरुष के समस्त धर्म और कर्मों की सतत सहचरी नारी के इस महान् आदर्श की कल्पना कवि ने उन्नीसवीं शती में की थी, जब इस देश के लोग नारी को अबला और अत्यंत दयनीय प्राणी मानने के आदी थे। आज प्रायः साठ वर्ष बाद इस आदर्श की वास्तविकता में परिणत हो सकने की संभावना दिखायी दे रही है। इस उन्नत आदर्श की परिपूर्ण उपेक्षा करके उस युग के साहित्यालोचकों ने इस नाटक में 'दुर्नीति' और 'अश्लीलता' के अतिरिक्त और कुछ नहीं पाया!

'चित्रांगदा' के लिये कवर-डिजाइन अवनीन्द्रनाथ ठाकुर ने तैयार किया।

तब अवनीन्द्रनाथ बीस-इक्कीस वर्ष के थे और उसी उम्र में गवर्नमेन्ट आर्ट स्कूल के वाइस प्रिंसिपल नियुक्त हो गये थे। साथ ही गिलहार्डी से पाश्चात्य शैली में चित्रांकन की शिक्षा पा रहे थे। रवीन्द्रनाथ ने उन्हीं को 'चित्रांगदा' अर्पित की।

रंगमंच और संगीत को बाजारू स्थिति से ऊपर उठाकर उसे सुसंस्कृत रूप देने में ठाकुर परिवार का हाथ किस हद तक रहा है, इसकी चर्चा पहले की जा चुकी है। रवीन्द्रनाथ का विशेष सहयोग न मिलने से इस कार्य में अधिक सहायता मिलने की संभावना न रह पाती। वह निरंतर संगीत की शैली और अभिनय की प्रचलित पद्धति में नये-नये सुधार करते चले जाते थे। उनके नाटकों का अभिनय अधिकतर जोड़ासाँको के ठाकुर-भवन ही में होता था और परिवार के प्रायः सभी लोग—स्वयं कवि और उनकी पत्नी मृणालिनी देवी भी—भाग लेते थे। इस उद्देश्य से रवीन्द्रनाथ केवल गंभीर नाटक ही नहीं, हास-परिहासपूर्ण तथा व्यंगात्मक प्रहसन भी लिखते रहते थे। 'गोड़ाय गलद' ('सिर मुँड़ाते ही ओले') नामक प्रहसन की रचना इसी समय हुई थी। छोटे-छोटे प्रहसन तो प्रायः प्रतिमास 'साधना' में निकलते रहते थे।

साधारणतः लोग रवीन्द्रनाथ को अत्यंत गुरु-गंभीर विचारों वाले कवि और लेखक के रूप में जानते हैं। उनका हास्यप्रिय रूप उनके गंभीर रूप से किसी भी परिमाण में कम नहीं था, इस तथ्य से कम लोग परिचित हैं। गंभीर से गंभीर रचनाओं के बीच में भी उनका सहज—किंतु चुटीला—हास्य फुलझड़ियों की तरह विस्फुटित होता रहता था। उनकी अधिकांश गद्य रचनाएँ और कई पद्य रचनाएँ इसी चुटीले हास्य से ओतप्रोत हैं। हास्य उनके साहित्यिक और सामाजिक व्यक्तित्व का जैसे एक अविच्छेद्य अंग बन गया था। अपने विविध-विषयक विचारों को व्यक्त करने के जो विभिन्न कलात्मक अस्त्र उनके पास थे उनमें हास्य भी एक था।

राजनीतिक विषयों की चर्चा भी उनकी जीवन-चर्या का एक महत्व-पूर्ण अंग बन गयी थी। 'साधना' में प्रायः प्रतिमास वह राजनीतिक समा-

लोचना संबंधी एक लेख छपाते रहते थे। उनकी साहित्यिक अन्तर्दृष्टि युग की महत्वपूर्ण राजनीतिक समस्याओं का विश्लेषण पेशेवर राजनीतिज्ञों की अपेक्षा अधिक योग्यता से करने में समर्थ थी। चूंकि उनकी साहित्य-साधना जीवन की वास्तविकता के बीच से होकर चल रही थी, इसलिये वह पराधीन राष्ट्र की राजनीतिक समस्या की उपेक्षा किसी भी हालत में नहीं कर सकते थे। देश में जो राजनीतिक चेतना धीरे-धीरे जग रही थी उसे अपने चुभते हुए निबंधों द्वारा अधिकाधिक जाग्रत करके स्वस्थ पथों की ओर मोड़ने के प्रयत्नों में उन्होंने कोई बात उठा न रखी। केवल निबंधों या साहित्यिक रचनाओं के माध्यम से ही वह राष्ट्र की राजनीतिक चेतना के विकास में सहयोग नहीं दे रहे थे, बल्कि राजनीतिक सभा-समितियों में भाग भी लेते थे। बाद में वंग-भंग तथा स्वदेशी आन्दोलन में उन्होंने सक्रिय भाग लिया था।

चित्रा

रवीन्द्रनाथ की साहित्यिक प्रगति 'सोनार तरी' और 'साधना' के युग में और उसके बाद से दिन-दूनी और रात-चौगुनी होती चली जा रही थी। रूढ़िवादियों तथा साहित्यिक ईर्ष्यालुओं की निन्दात्मक समालोचनाओं के बावजूद उनकी प्रतिष्ठा और ख्याति भी निरंतर उसी तीव्र गति से बढ़ती जा रही थी। ८ अप्रैल १८९४ को बंकिमचंद्र की मृत्यु (५६ वर्ष की अवस्था में) हुई। उनकी मृत्यु से रवीन्द्रनाथ को लगा जैसे उनकी रीढ़ ही टूट जायगी। बंकिम की प्रचंड साहित्यिक प्रतिभा के वह केवल कायल ही नहीं थे, अपने साहित्यिक जीवन के प्रारंभिक काल से ही बराबर उनसे नयी-नयी रचनाओं की प्रेरणा पाते रहते थे। कई बार धार्मिक विषयों को लेकर बंकिम से वह उलझे भी थे, पर महान साहित्य-स्रष्टा के रूप में वह उन्हें बराबर सम्मान देते रहे। और बंकिम भी प्रारंभ ही से उन्हें प्रोत्साहित करते रहते थे। रवीन्द्रनाथ इस बात को कभी नहीं भूल सकते थे कि बंकिम ने जो अभूतपूर्व साहित्यिक जागृति बंगाल में पैदा कर दी थी उनकी अपनी साहित्यिक प्रगति की नींव उसीसे बनी थी। अब बंकिम की मृत्यु के पश्चात बंगाल के साहित्यिक नेतृत्व का भार अकेले उन्हीं पर आ पड़ा। बंकिम की मृत्यु के प्राय: डेढ़ वर्ष बाद उनके काव्य-गुरु बिहारीलाल चक्रवर्ती की भी मृत्यु हो गयी।

'साधना' युग चार वर्ष तक चला। पहले ही कहा जा चुका है कि रवीन्द्रनाथ की साहित्य-साधना का यह संभवत: सबसे अधिक महत्वपूर्ण युग था। इस युग में उनकी बहुमुखी प्रतिभा अविरल स्रोतों में, विभिन्न धाराओं में अविराम गति से प्रवाहित होती चली जा रही थी। उसके बंद हो जाने

पर कवि को स्वभावतः बहुत दुःख हुआ। पहले धक्के से ऐसा लगा जैसे उनकी साहित्यिक गति ही रुद्ध हो गयी। पर साथ ही यह भी सत्य है कि उन्होंने विश्राम का भी अनुभव किया और चैन की साँस ली। कुछ समय से अकेले रवीन्द्रनाथ को ही 'साधना' के प्रकाशन का व्यय-भार वहन करना पड़ रहा था। अपनी विभिन्न पुस्तकों की छपाई और 'साधना' के प्रकाशन के सिलसिले में उन पर कई हजार रुपये का कर्ज लद चुका था। अपने पिता को वह यह बताना नहीं चाहते थे कि साहित्यिक पेशा इतने घाटे का है! इस लिये उनसे रुपया माँगने का साहस उन्हें नहीं होता था। और जो ढाई सौ रुपया मासिक वेतन पाते थे उससे साहित्यिक व्यवसाय के घाटे की पूर्ति संभव नहीं थी।

फिर भी साहित्यिक प्रगति अधिक दिनों तक नहीं रुकी। फिर उसी गति से नयी-नयी धाराओं के रूप में अग्रसर होती चली गयी। 'चित्रा' युग आरंभ हुआ। इस युग में रवीन्द्रनाथ की सौन्दर्य साधना हर पहलू से विकसित होती हुई पूर्ण परिपक्वावस्था को पहुँच चुकी थी। मानवीय व्यक्तित्व की अतुल गहराई से उठने वाली रहस्यमयी अनुभूतियाँ भी कवि की परिष्कृत चेतना में ठोस और समूर्त सत्यों के रूप में समा चुकी थी। इस युग की बहुत-सी कविताएँ समस्त रवीन्द्र काव्य-धारा की सर्वोत्तम कविताओं में गण्य हो सकती हैं। 'चित्रा', 'प्रेम का अभिषेक', 'एबार फिराओ मोरे', 'मृत्युर परे' ('मृत्यु के बाद'), 'ऊर्वशी', 'स्वर्ग से बिदाई', 'विजयिनी', 'जीवन-देवता' आदि सुप्रसिद्ध कविताएँ इसी युग की हैं। 'ऊर्वशी' में कवि ने जिस उद्दाम निमक्त, बंधनहीन, कुंठारहित, सजीव सौन्दर्य के सप्राण आदर्श की कल्पना की है वह विश्व-काव्य साहित्य में बेजोड़ है। कवि की कल्पना की ऊर्वशी केवल सर्वश्रेष्ठ सुन्दरी अप्सरा नहीं है, वह केवल कठिन पुरुष-हृदय को अनादि-काल से रूप और रस के मोहक रसायन से गलाती रहनेवाली मोहिनी ही नहीं है, वह प्रकृति के विश्वव्यापी सौन्दर्य-नृत्य के बीच में निर्द्वन्द्व गति से लहरानेवाली मूल जीवनी शक्ति है :

सुरसभा-तले जबे नृत्य करो पुलके उल्लसि
हे विलोल-हिल्लोल ऊर्वशी !
छन्दे-छन्दे नाचि उठे सिन्धुमाझे तरंगेर दल,
शस्यशीर्षे शिहरिया काँपि उठे धरार अंचल,
तव स्तनहार होते नभस्तले खसि पड़े तारा,
अकस्मात् पुरुषेर वक्षोमाझे चित्त आत्महारा,
नाचे रक्त-धारा।
दिगन्ते मेखला तव टूटे आचम्बिते
अयि असंवृते।

"जब तुम देवसभा के बीच पुलक से उल्लसित होकर नृत्य करती हो तब, हे लोल लहरियों की तरह बल खाती रहनेवाली ऊर्वशी, सागर में छंद-छंद में तरंग दल नाच उठता है, पृथ्वी का अंचल अनाज की बालियों के सिरों पर सिहरकर कंपित हो उठता है, नभ में तुम्हारे स्तनहार से तारे टूटकर बिखर पड़ते हैं और सहसा पुरुष के वक्ष के भीतर चित्त विभ्रांत हो उठता है और उसकी रक्त-धारा नाचने लगती है। हे असंवृते, दिगंत की क्षितिज-रेखा में तुम्हारी मेखला टूट पड़ती है।"

जगतेर अश्रुधारे धौत तव तनुर तनिमा,
त्रिलोकेर हृदिरक्ते आँका तव चरण-शोणिमा,
मुक्तवेणी विवसने, विकशित विश्व-वासनार
अरविंद माझखाने पादपद्म रेखेछे तोमार
अति लघु-भार।
अखिल मानस-स्वर्गे अनंत रंगिणी,
हे स्वप्न-संगिनी !

"तुम्हारे तनु की सुकोमल तनिमा जगत के आँसुओं से धुली हुई है, तुम्हारे चरणतल की लालिमा त्रिलोक के हृदय-रक्त से आँकी हुई है। हे विवसने (निरावरणा), तुम अपनी वेणी खोले हुए विश्व की पूर्ण विकसित

वासना-रूपी कमल के ऊपर अपने चरण-कमलों को अत्यंत लघु-भार बनकर स्थापित किये हुए हो। हे स्वप्न-संगिनी, तुम अखिल मानस स्वर्ग में अनंत काल से विहार करती रहती हो।"

आधुनिक मनोवैज्ञानिकों ने जीवन के मूल में निहित जिस चिर-विकास-शील वासनात्मक शक्ति को 'लिबिडो' नाम दिया है उसी को रवीन्द्रनाथ ने अपनी ऐन्द्रजालिक कल्पना से, मर्म-प्रवेशी काव्यानुभूति की जादू-भरी प्रेरणा से अत्यंत उदात्त, दिव्यतम, समूर्त और जीवंत सौन्दर्यादर्श के रूप में अभिव्यक्त किया है। रागात्मक सौन्दर्य का यह निरावरण तथापि निष्कलंक स्वरूप जीवन की उस केन्द्रीय शक्ति का प्रतीक है जो अपने माध्याकर्षण से जीवन की समस्त बिखरी हुई परस्पर-विरोधी और अविकसित प्रवृत्तियों को प्रबल चुंबकीय आकर्षण से अपनी ओर खींचती रहती है, और सामूहिक मानवीय अवचेतना के भीतर निहित सभी कच्ची और रूढ़ धातुओं को अपनी आदिम और आणविक अग्नि से गलाकर शुद्धतम और उज्ज्वलतम श्वेत प्रकाश में परिवर्तित कर सकने की क्षमता रखती है। यौन-संबंधी सारी 'गंदगियों' के जो बीज अवचेतना के अतल अंधकारमय नरकावास में कीचड़ से सने रहते हैं वे उसी कीचड़ के तत्त्वों से पुष्ट और विकसित होकर ऊर्वशी के सौन्दर्यादर्श के निर्मल कमल के रूप में प्रस्फुटित हो उठते हैं।

'चित्रा' युग में ही कवि को उस 'जीवन-दाता' की कल्पना की उपलब्धि हुई जो युग-युगों से मानवीय व्यक्तित्व के पीछे निहित रहकर उसकी विकास-क्रिया का परिचालन करता रहता है, जिसकी लीलामयी इच्छा की तुष्टि के लिये कवि अपनी वासना के सोने को अपने अंतर की आग में गला-गलाकर नित्य नयी नयी काव्यात्मक मूर्तियाँ गढ़ता रहता है।"

'चित्रा' की मूलगत अन्तर्धारा की व्याख्या कवि ने स्वयं इन शब्दों में की थी: "जो 'अहम्' नामक इस क्षुद्र नौका को सूर्य-चंद्र और ग्रह नक्षत्रों के विकास-क्रम से आगे बढ़ाते हुए लोक से लोकोत्तर और युग से युगांतर की ओर कालस्रोत में एकाकी खेते चले जा रहे हैं, जो बाहर

नाना रूपों में अपने को व्यक्त करते हुए भी भीतर एक हैं, जो अपने व्यस्त और चंचल रूप में आँसू और हँसी हैं और अपने गंभीर रूप में परिपूर्ण आनंद हैं, उन्हीं को मैंने 'चित्रा' नामक काव्य-ग्रंथ में विचित्र रूप से वन्दित और अभिनंदित किया है। धर्मशास्त्रों में जिन्हें ईश्वर कहते हैं वे सारे विश्व के हैं—अकेले मेरे नहीं। मैंने उनकी बात नहीं कही है। जो विशेष रूप से मेरे अंतर के विकास के परिचालक हैं, जिन्हें छोड़कर और कोई भी, कुछ भी मुझे आनंद प्रदान नहीं कर सकता, उन्हीं को मैंने 'चित्रा' काव्य में स्मरण किया है।"

वास्तविकता यह है कि कवि की अवचेतना की अतल गहराई में जो असंख्य रूढ़ भाव-तत्त्व बिखरे पड़े थे वे जीवन के केन्द्र में स्थित माध्याकर्षिणी शक्ति द्वारा केवल केन्द्रित ही नहीं हो रहे थे, बल्कि जीवन की ज्वाला में जलकर स्थूल से सूक्ष्म और सूक्ष्म से सूक्ष्मतर रूपों में निखरते हुए अपूर्व रहस्यात्मक और सौन्दर्यमय प्रतीकों में पल्लवित और पुष्पित होते चले जा रहे थे। जीवन के विकास के मूल में स्थित जो रहस्यमयी शक्ति उस निखार की प्रेरिका है उसीको कवि ने 'जीवन-देवता' माना है। इस निगूढ़ मनोवैज्ञानिक सत्य से अपरिचित रहने के कारण उस युग के साहित्यालोचकों ने रवीन्द्रनाथ के काव्य-चमत्कार को अस्पष्टता दोष से दुष्ट— और फलतः महत्वहीन—बताया।

यह ठीक है कि रवीन्द्रनाथ जैसे विराट प्रतिभाशाली कवि के व्यक्तित्व-विकास की व्याख्या आज के युग सीमित मनोविज्ञान द्वारा भी पूर्णतया नहीं हो सकती। पर एक सीमा तक उसे अवचेतनात्मक मनोविज्ञान के दायरे के भीतर आना ही होगा—दूसरी गति नहीं है। पर उस सीमा के परे जाने की बहुत बड़ी आवश्यकता है। अवचेतनात्मक विकास की सीमा ऊर्ध्व चेतना के आरंभ तक है। और इस ऊर्ध्व चेतना के ककहरे से भी आज का पाश्चात्य मनोवैज्ञानिक परिचित नहीं है। यहां पर केवल भारतीय अध्यात्म ज्ञान ही सहायक सिद्ध हो सकता है, जिसके बिना रवीन्द्र-काव्य का एक महत्वपूर्ण अंग बिना व्याख्या के ही रह जाता है।

'चित्रा'-युग की कविताएँ केवल रहस्यात्मक सौन्दर्य-साधना तक ही सीमित नहीं हैं; प्रतिदिन के जीवन में निहित सहज मानवीय तत्त्व भी इस युग की बहुत सी कविताओं में वर्तमान पाये जाते हैं। 'पुरातन भृत्य', 'दुइ बिघा जमि' ('दो बीघा जमीन') आदि कथात्मक कविताएँ तथा 'नगर-संगीत' जैसी प्रचंड कार्य-कोलाहल से संबंधित कविताएँ इसके दृष्टांत स्वरूप हैं। इसी संग्रह में कवि ने एक कविता '१४०० शाल' शीर्षक लिखी। यह कविता बंगला सन् १३०२ (ईस्वी सन् १८९६) में लिखी गयी थी। यह विचित्र कविता कवि ने अपने १०० साल बाद के पाठक को संबोधित करते हुए लिखी है। इससे स्पष्ट है कि तब कवि के मन में इस संबंध में पूर्ण विश्वास जम चुका था कि उनकी रचनाओं का महत्व दीर्घकाल तक स्थायी रहेगा। अपने युग के आलोचकों से निराश होने पर भी कवि को आनेवाले युगों के विकसित-बुद्धि आलोचकों की समझदारी पर पूरी आस्था बनी हुई थी। इस कविता का आरंभ इस प्रकार होता है :

"आज से सौ वर्ष बाद कौन तुम मेरी कविता को कुतूहल के साथ पढ़ रहे हो? आज के नव-वसंत के प्रभात के आनंद का लेश मात्र अंश, आज के किसी फूल का सुबास, विहंग का कोई गीत, आज के रक्तराग का तनिक भी भाग क्या मैं अनुराग से सिक्त करके तुम लोगों के पास तक प्रेषित कर सकने में समर्थ हो सकूँगा?"

और कविता का अंत इस प्रकार होता है :

"आज से सौ वर्ष बाद कौन नूतन कवि तुम लोगों के घरों में गान गा रहा है? आज के वसंत का आनंद-अभिवादन मैं उसके पास भेज रहा हूँ। मेरा यह वसंत-गान तुम लोगों के वसंत के दिन में तुम लोगों के हृदय-स्पन्दन में, भ्रमरों के नव-गुंजन में नवीन पल्लवों के मर्मर के साथ क्षणकाल के लिये ध्वनित हो उठे।"

यह 'चित्रा' युग की अंतिम कविता थी।

कर्म का आह्वान

'चित्रा' के बाद 'चैतालि' संबंधी कविताओं की रचना आरंभ हुई। तब रवीन्द्रनाथ अपनी जमींदारी के अंतर्गत पतिसर में नागर नदी पर एक नाव में डेरा जमाये हुए थे। नाव के दोनों पार प्रतिदिन के ग्राम्य जीवन की अलस सुखदुःखमयी भाव-छायाओं का आभास उनके मानसिक चित्रपट पर अलस ही भाव से अंकित होता चला जा रहा था। उन्हीं सहज चित्रों को सरल रूप में चतुर्दशपदी कविताओं के ढाँचे के भीतर वह भरते चले जा रहे थे। कवि के ही शब्दों में :

"पतिसर की नागर नदी एकदम ग्राम्य है। उसका विस्तार अल्प है और स्रोत बहुत मंथर है। उसके एक पार दिखायी देता है दरिद्र लोकालय, गोशाला, धान की मड़ाई और भूसी का ढेर; दूसरे पार धान का फसल-कटा विस्तीर्ण खेत सूना पड़ा हुआ है। बड़ी गरमी पड़ रही है। मन लगाकर पुस्तक पढ़ने की भी अवस्था नहीं है। 'बोट' की खिड़की की 'खड़खड़ी' खोलकर उसी छिद्र से बाहर की ओर देखता रहता हूँ। मन जैसे केमरा की आँख लिये हुए है। छोटे-छोटे चित्रों की छाया अंतर में अंकित होती रहती है। संकीर्ण परिधि के भीतर से देख रहा हूँ, इसीलिए सब कुछ स्पष्ट दिखायी दे रहा है। उन्हीं स्पष्ट दृश्यों की स्मृतियों को अलंकार-रहित भाषा में भरता चला गया हूँ। 'चैतालि' की भाषा इसीलिये इतनी सरल और सहज हो उठी है।"

'चैतालि' की कविताओं का मूल सुर निम्न अनुवादित कविता में सुस्पष्ट परिस्फुट हो उठता है :

"यात्रियों को ले जानेवाली नाव नदी के स्रोत के बीच सुबह से लेकर

शाम तक इस पार से उस पार यात्रा करती रहती है। कोई यात्री घर जाता है। कोई घर से लौटता है। दोनों तीरों पर दो गाँव एक-दूसरे से परिचित हैं। पृथ्वी में निरंतर कितने द्वन्द्व चल रहे हैं और सर्वनाश की कितनी ही घटनाएँ घटती चली जा रही हैं। नित्य नया इतिहास बनता-बिगड़ता चला जा रहा है। रक्त-प्रवाह के बीच में कितने ही सोने के मुकुट टूटते फूटते रहते हैं। सभ्यता-जनित क्षुधा और तृष्णा का क्रम बराबर चल रहा है। इस मंथन के फलस्वरूप न जाने कितना हलाहल उठ रहा है और कितना अमृत! केवल यहाँ दोनों पार के दो गाँव, जिनका नाम भी कोई संसार में नहीं जानता, एक-दूसरे की ओर टुकुर-टुकुर देख रहे हैं। यह नाव चिरदिन नदी-स्रोत में चलती ही रहती है। कोई घर जाता है और कोई घर से वापस आता है।"

इन्हीं दिनों जमींदारी के बटवारे का झंझट उठ खड़ा हुआ। उस समय महर्षि देवेन्द्रनाथ की आयु अस्सी के ऊपर पहुँच चुकी थी। वह चाहते थे कि उनके जीवन-काल में ही उनके भतीजों का हिस्सा अलग हो जाय। गुणेन्द्र-नाथ के पुत्र गगनेन्द्रनाथ, अवनीन्द्रनाथ और समरेन्द्रनाथ के हिस्से में शाहजादपुर और उड़िया की जमीन्दारी आयी। तब तक रवीन्द्रनाथ की देखरेख में जमीन्दारी की संयुक्त आय से संपूर्ण ठाकुर-परिवार का सारा कारोबार चल रहा था। अब बटवारे के फलस्वरूप देवेन्द्रनाथ के पुत्रों की आर्थिक स्थिति पहले की अपेक्षा स्वभावतः कुछ तंग हो गयी। उतनी बड़ी और फैली हुई जमीन्दारी का बटवारा आसानी से हो भी नहीं सकता था। उसके लिये लंबी कानूनी कार्रवाइयाँ करनी पड़ीं। इसके लिये सारा परिश्रम अकेले कवि ही को करना पड़ा। बड़े-बड़े झंझटों और कटु पारिवारिक अनुभवों के बाद यह काम पूरा हो पाया। मानसिक खिन्नता की इस स्थिति में कवि ने सांसारिक लाभ और हानि की खींच-तान, स्वार्थ और संघर्ष पर कई कविताएँ, जैसे अपने मन को सांत्वना देने के लिये, लिखीं। और इसी मनःस्थिति में उन्होंने कवीन्द्र कालिदास को स्मरण करते हुए लिखा :

"हे अमर कवि, क्या तुमने हमी लोगों की तरह सुख-दुःख और आशा-

नैराश्य के द्वंद्व का अनुभव नहीं किया ? क्या समय-समय पर राज-सभा के षड्यंत्र और गोपन आघातों से तुम पीड़ित नहीं रहते थे ? क्या तुम्हें कभी अपमान, अनादर, अविश्वास, अन्याय, कठोर और क्रूर अभाव सहन नहीं करने पड़े ? क्या इन कारणों से कभी तुमने शूल-बिद्ध हृदय लेकर निद्राहीन रातें नहीं बितायीं ?

"इन सब तीखी पीड़ाओं के रहते हुए **भी** उन सबके ऊपर तुम्हारा काव्य निर्लिप्त और निर्मल सौन्दर्य-कमल की तरह आनंद के सूर्य की ओर मुख करके विकसित होता रहा है। उसमें कहीं **पर** भी तुम्हारे प्रतिदिन के जीवन के दुःख और दैन्य का लेशमात्र चिह्न भी नहीं दिखायी देता। जीवन-मंथन से निकला हुआ विष स्वयं पान करके तुम सबको अमृत दान कर गये हो।"

इन दिनों कवि के बाह्य जीवन और अंतर जीवन दोनों क्षेत्रों में बड़ी अशांति चल रही थी। जीवन-धारा एक नया मोड़ लेने के लिये व्याकुल हो उठी थी। यह अशांति 'चैतालि' समाप्त होने के एक वर्ष बाद 'कल्पना'—के आरंभ—तक बनी रही। इस अशांति को कवि ने 'दुःसमय' शीर्षक कविता में व्यक्त किया है :

ए नहे मुखर वन-मर्मर गुंजित,
ए जे अजागर-गरजे सागर फूलिछे।
ए नहे कुंज कुंद-कुसुम-रंजित,
फेन-हिल्लोल, कल-कल्लोले दुलिछे।
कोथा रे से तीर फूल-पल्लव-पुंजित,
कोथा रे से नीड़ कोथा आश्रय-शाखा !
तबू विहंग, ओरे विहंग मोर,
एखनि अंध, बंध कोरोना पाखा॥

"यह वन-मर्मर का मुखर गुंजन नहीं है। यह सहस्रों अजगरों की सम्मिलित फुफकार से सागर फूल रहा है। यह कुंद-कुसुम से रंजित कुंज नहीं

है, यह सागर का हिल्लोलित फेन है जो कल-कल्लोल से दोलित हो रहा है। हाय रे, फूलों और पल्लवों से पुंजित वह तीर कहाँ है? कहाँ है वह नीड़? कहाँ है आश्रय-शाखा? फिर भी, हे मेरे अंधे पंछी, अभी से अपने पंख बंद मत करो।"

धीरे-धीरे निराशा कटी, जड़ता दूर हुई और कवि नये सिरे से यौवन के रस में डूबने की ओर प्रेरित हुए और बहुत दूर, स्वप्नलोक में उज्जयिनी की यात्रा करते हुए अपने पूर्व जन्म की प्रिया की खोज करने लगे। 'मदन-भस्म के पूर्व', 'मदन-भस्म के बाद', 'मार्जना', 'भ्रष्ट लग्न', 'प्रणय-प्रश्न' आदि यौवन रस में परिपूर्ण रूप से भीगी हुई कविताएँ यौवन की परिपक्व और परिणत अवस्था में कवि के अंतर से निकलने लगीं। यह जैसे तीव्रगति से पिछड़ते चले जाने वाले यौवन को बिदाई का प्रणाम था।

पर चाहे शृंगार-रस में कितना ही डूबें, उसमें पूर्णतया भाव-मग्न होने की अवस्था अब नहीं रह गयी थी। विशाल कर्मक्षेत्र का आह्वान कवि के प्राणों को चंचल और उतावला कर रहा था। कवि के व्यक्तित्व का भाव-प्रवण अंश अलस गीत-रस में डूबे रहने और विश्राम करने की शत-शत आकांक्षाएँ रखने पर भी उसका दूसरा अंश कवि को कर्म-चक्र से किसी प्रकार भी मुक्त नहीं होने देना चाहता था। इसीलिये 'अशेष' कविता में कवि अपने अंतर की प्रेरणा-दात्री (जीवन देवता?) से कहता है:

"हे मोहिनी, हे निष्ठुरा, हे रक्तलोभातुरा कठोर स्वामिनी! मैं अपना सारा दिन तो तुम्हारे ही काम के लिये अर्पित कर चुका, पर तुम उससे संतुष्ट न होकर रात्रि के विश्राम का सुख भी मुझसे छीन लेना चाहती हो? संसार-सीमा के निकट कहीं-न-कहीं सभी के कर्मों की समाप्ति हो जाती है, पर तुम्हारा आदेश समस्त समाप्ति का भेदन करता हुआ फिर-फिर क्यों आता रहता है? × × × हे चिर-जाग्रत रानी! दक्षिण समुद्र के पार तुम्हारा जो प्रासाद द्वार है वहाँ क्या संध्याकाल में भी श्रांत सुर में और क्लांत ताल में वैराग्य की वीणा

नहीं बजती ? वहाँ क्या मूकवन में पंछी अँधेरी शाखाओं में बसेरा नहीं खोजते ? वहाँ के हर्म्यों के शिखर पर क्या तारे निःशब्द पंखों से धीरे-धीरे ऊपर को नहीं उठते ?

"जब तुम्हारी यही इच्छा है तब यही सही। मेरा अपना सब-कुछ पड़ा रहने दो। मेरी प्रतीक्षा में सांध्य-प्रदीप के टिमटिमाते प्रकाश में जो दो स्नेह-भरी आँखें उत्सुक होंगी, बड़े जतन से मुझ श्रांत पथिक के लिये घर पर जो माला गुंथी होगी, वह सब भी ऐसे ही पड़ा रहे। मेरी शांति-भरी रात, मेरा स्वप्न-सुख सब कुछ विफल हो जाय। मैं फिर से अपने क्लांत सिर को झुकाकर तुम्हारे आह्वान का अनुसरण करता हुआ लौटता हूँ। मुझे बताओ, मुझे कौन-सा नया काम करना होगा ? तुम्हारे द्वार पर कौन-सा वाद्य बजाऊँ ? फूलों से क्या सजाऊँ ? रक्त से क्या लिखूँ और प्राण देकर क्या सीखूँ ?"

कर्म का यह आह्वान पहले ही से विविध पारिवारिक, सामाजिक, साहित्यिक तथा व्यक्तिगत कर्मों में व्यस्त कवि के पास कई नये रूपों में आया। सुदूर पूना में लोकमान्य तिलककी 'केसरी' की सिंह-गर्जना ने दासत्व-शृंखला से जकड़े हुए भीरु भारत के एक कोने से दूसरे कोने तक गूँजकर राष्ट्रीय जागरण की लहर दौड़ा दी थी। तब तक कांग्रेस को नरम-दल के जिन खुशामदी टट्टुओं ने घेर रखा था उनकी कायरता के विरुद्ध रवीन्द्रनाथ कई लेख लिख चुके थे। 'केसरी' के आविर्भाव से कवि को लगा कि तिलक के रूप में पहली बार एक ऐसा व्यक्ति सामने आया है जो देश के यथार्थ गौरव और देश-भाइयों की आत्म-मर्यादा का सच्चा प्रतीक है। सरकार भयभीत हो उठी थी और पहली बार दमन-चक्र को पूरी ताकत से चलाने की योजनाएँ बना रही थी। महाराष्ट्रीय युवक-संघ के नेता, तिलक के सहकर्मी, नातू-बंधु को बिना विचार के निर्वासन-दंड दिया जा चुका था। सरकारी नीति से क्षुब्ध दो युवकों ने पूना के राजपथ में दो अँगरेजों की हत्या कर डाली। सरकार ने लोकमान्य तिलक को और उनके 'केसरी' को इसके लिये उत्तर-दायी ठहराया। लंबे मुकदमे के बाद लोकमान्य को डेढ़ साल की कैद की सजा

हुई। राजनीतिक अपराध के लिये यह पहली बार जेल की सजा दी गयी। देश-भर में सनसनी और उत्तेजना फैल गयी। सर्वत्र तिलक के प्रति सहानुभूति प्रदर्शित की जाने लगी। रवीन्द्रनाथ ने कुछ सहकर्मियों के सहयोग से तिलक के मुक़दमे के लिये रुपया इकट्ठा करके पूना भेजा था। तिलक और रवीन्द्रनाथ के बीच व्यक्तिगत घनिष्ठता का संपर्क स्थापित होने का सुयोग यद्यपि कभी नहीं मिला, तथापि भावनात्मक रूप से दोनों प्रारंभ ही से एक दूसरे के अधिकाधिक निकट आते चले गये थे। बाद में तिलक जब राष्ट्र के एकच्छत्र नेता बन गये थे तब उन्होंने रवीन्द्रनाथ की प्रतिभा के वास्तविक मूल्य से परिचित होकर अपने किसी दूत के माध्यम से पचास हजार रुपया कवि के पास इस संदेश के साथ भेजा था कि वह यूरोप जाकर प्रचार-कार्य करें। इस पर जब कवि ने कहा कि वह राजनीतिक प्रचार-कार्य में भाग नहीं लेना चाहते, तब तिलक ने यह कहला भेजा कि वह उनके द्वारा राजनीतिक प्रचार नहीं चाहते, बल्कि भारतीय संस्कृति का प्रचार ही उनका उद्देश्य है। पर कवि ने फिर भी वह रुपया स्वीकार नहीं किया, क्योंकि उनकी धारणा थी कि जन-साधारण ने राजनीतिक कार्य के लिये ही तिलक को रुपया सौंपा है। फिर भी तिलक बराबर कवि का सम्मान करते रहे और कवि भी उन्हें सच्चा कर्मयोगी और गीता के भाष्य का सच्चा अधिकारी मानते रहे।

जिस समय की बात चल रही थी, उन दिनों सरकार राष्ट्रीय आन्दोलन से क्षुब्ध होकर 'सेडिशन बिल' पास कराके भारतीय जनता की आवाज बंद करने का उद्योग कर रही थी। 'सेडिशन बिल' पास होने के ठीक एक दिन पूर्व रवीन्द्रनाथ ने कलकत्ते के टाउन हाल में 'कण्ठरोध' नामक निबंध पाठ किया, जिसका आरंभ उन्होंने इन शब्दों द्वारा किया : "आज मैं जिस भाषा में निबंध पढ़ने जा रहा हूँ वह यद्यपि दुर्बल और विजित जाति की भाषा है, तथापि उसी भाषा से हमारे शासकगण भयभीत रहा करते हैं। इसका कारण यह है कि यह भाषा वे लोग नहीं समझते और जहाँ अज्ञान का अंधकार होता है वहीं अंध आशंका की प्रेतभूमि होती है।"

उसके बाद उन्होंने पढ़ा : "गवर्नमेन्ट अत्यंत विचलित होकर अपनी

पुरानी दंडशाला से कुछ अव्यक्त अस्त्रों और कठिन नियमों की कड़ी जंजीरों को बाहर निकाल कर उनका जंग साफ करने लगी है। क्रोध से पागल होकर उसने पूना शहर की छाती पर राजदंड का भीषण जगद्दल पत्थर रख दिया है। राज-प्रासाद के किसी गुप्त शिखर से एक अज्ञात, अपरिचित गुप्त कानून (१८२७ का 'रेगुलेशन' कानून) ने बिजली के वेग से झपट्टा मारकर नातू भाइयों को न जाने कहाँ गायब कर दिया है। × × × मुद्रण-यंत्र की स्वाधीनता छीन लेने से हमारी पराधीनता का कठिन कंकाल पल में बाहर निकल पड़ेगा। × × × दो सौ वर्षों के परिचय के बाद हमारे पारस्परिक मानवीय संबंध का क्या यही अवशिष्ट चिह्न रह गया है?"

आगे चलकर कवि ने कहा कि पतित के ऊपर पद-प्रहार और व्यथित के ऊपर जबर्दस्ती भय-जनित निष्ठुरता के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। इससे राजा की राजशक्ति नहीं, बल्कि विदेशी की दुर्बलता ही अधिक प्रकट होती है। अंत में उन्होंने यह भविष्यवाणी की कि कड़े कानून की जबर्दस्ती का पूर्णतः उलटा फल फलेगा। इसी सिलसिले में उन्होंने 'राजद्रोह' के जोड़ में एक नया शब्द आविष्कृत किया : 'प्रजाद्रोह'। उन्होंने कहा कि यदि सरकार जनता पर राजद्रोह का अपराध लगा सकती है तो जनता को भी पूरा अधिकार है कि सरकार पर प्रजाद्रोह का अपराध लगावे।

पूरा निबंध तीव्र व्यंगों और सरकार को दिये गये कड़े उत्तरों से भरा पड़ा है। ब्रिटिश शासन के उस भीषण आतंक के युग में जमीन्दार वर्ग के किसी व्यक्ति की लेखनी से खुल्लमखुल्ला इस तरह के विद्रोहात्मक विचारों की आशा न सरकार करती थी न जनता। वास्तव में उस युग की परिस्थितियों को देखते हुए रवीन्द्रनाथ का वह साहस आश्चर्यजनक और केवल उन्हीं के समान दृढ़व्रती कवि के अनुकूल था। उस युग के जमींदारों की कायरता और गोरे प्रभुओं के चरण-स्पर्श की प्रवृत्ति से वह भलीभाँति परिचित थे, इसलिये कभी उनके साथ अपने को संश्लिष्ट नहीं करते थे। जमीन्दारों की इस हीन प्रवृत्ति पर कई कहानियों और निबंधों में उन्होंने कड़े व्यंग्य किये थे। उन्हीं दिनों देशी राजों-महाराजों और जमींदारों ने

सर अलफ्रेड क्राप्ट की प्रस्तर मूर्ति स्थापित करने की योजना बनायी। तब कवि ने एक कविता में लिखा : "आज पगड़ीधारी राजा-महाराजा किसकी पूजा के लिये समारोह कर रहे हैं? जो साहब अपनी दोनों जेबें भरकर उदर-पूर्ति करके देश चला गया उसीकी मूर्ति स्थापित करके ये बड़े लोग शोक मनायेंगे ?"

उस जमाने में काले आदमियों पर गोरों द्वारा शारीरिक अत्याचार और अपमान की घटनाएँ सरे आम बिना किसी कारण के, घटती रहती थीं। गोरों को सात खून माफ थे। और यदि कोई काला आदमी किसी गोरे को पिन भी चुभो देता तो कड़ी से कड़ी सजा होना कोई आश्चर्य की बात नहीं थी। रवीन्द्रनाथ व्यक्तिगत रूप से इस तरह की घटनाओं से परिचित थे। 'मेघ ओ रौद्र' (बादल और धूप) शीर्षक कहानी में इस तरह की घटनाओं का चित्रण वह कर भी चुके थे और कई निबंधों में यह इंगित कर चुके थे कि ऐसे अकारण अत्याचारों को सहन करते चले जाना मनुष्यता नहीं बल्कि जड़-पशुत्व है। पूर्वोक्त निबंध में भी उन्होंने परोक्ष रूप से इसी ओर संकेत किया। उन्होंने कहा : "पूर्वदेशीयों की नीरव सहिष्णुता, जो पाश्चात्य देशीयों को औद्धत्य की ओर प्रेरित करती है, यह प्राच्य प्रजा और पाश्चात्य राजा दोनों के लिये विपद की जड़ है। इसीसे गोरों का पाशविक 'विनोद' और काले आदमियों की आकस्मिक उन्मत्तता की सृष्टि होती है।"

नृशंस अत्याचार और अपमान को चुपचाप सहन कर लेने के बराबर घृणित कायरता रवीन्द्रनाथ की दृष्टि में दूसरी नहीं थी। बाद में नैवेद्य की एक प्रसिद्ध कविता में कवि ने लिखा था :

"जहाँ क्षमा क्षीण दुर्बलता का प्रतीक है, हे रुद्र, वहाँ मैं तुम्हारे आदेश से निष्ठुर बन सकूँ। मेरी रसना में सत्य वाक्य प्रखर खड्ग की तरह झलझला उठे। × × × जो व्यक्ति अन्याय करता है और जो उस अन्याय को चुपचाप सह लेता है, उन दोनों को तुम्हारी घृणा तृण के समान दग्ध कर डाले।"

इन दिनों कवि विभिन्न राजनीतिक सभाओं में परिपूर्ण उत्साह के साथ भाग लेते थे और ऐसे भाषण देते थे जिनमें वास्तव में सत्य वाणी तेज,

और तीखी तलवार की तरह चमचमा उठती थी। उस घोर आतंक-पूर्ण युग में विद्रोह का स्वर ऊँचा करने में वह गरम दलीय राजनीतिक नेताओं से भी आगे रहते थे। राष्ट्रीय सम्मेलनों के अवसर पर उन्हें राष्ट्रीय कविता पढ़ने या राष्ट्रीय गीत गाने के लिये भी निमंत्रित किया जाता था। बंकिमचन्द्र रचित सुप्रसिद्ध 'वंदेमातरम्' गीत को अपने निजी स्वर में भरकर कांग्रेस के पंडाल में उन्होंने गाया था। 'वंदेमातरम्' गाने की जो तर्ज आज सर्वत्र प्रचलित है उसके उद्भावक रवीन्द्रनाथ ही हैं। एक बार स्वयं बंकिम के आगे भी उन्होंने यह गीत गाया था, जिसे सुनकर बंकिम बहुत प्रसन्न हुए थे। इन्हीं दिनों कवि ने कई महत्वपूर्ण राष्ट्रीय कविताएँ लिखीं।

एक ओर साहित्य-सर्जना पूरी तेजी से चल रही थी, दूसरी ओर राष्ट्रीय संग्राम में वह व्यस्त थे। और तीसरी ओर बटवारे के बाद से पारिवारिक उलझनों में वह बुरी तरह उलझे हुए थे। उनकी पत्नी मृणालिनी देवी ने कलकत्ते से एक पत्र द्वारा यह सूचित किया कि पारिवारिक अशांति बढ़ती चली जा रही है और इस 'गोलमाल' में बच्चों की शिक्षा ठीक से नहीं हो पा रही है। तब रवीन्द्रनाथ चार बच्चों के पिता बन चुके थे। प्रथम संतान माधुरीलता उर्फ बेला तब बारह साल की थी, द्वितीय संतान रथीन्द्र-नाथ तब दस साल के थे। तीसरी संतान रेणुका की उम्र आठ साल की थी और कनिष्ठ पुत्र शमीन्द्रनाथ की चार साल की। पत्नी का पत्र पाकर कवि अत्यंत चिंतित हो उठे। वह स्नेही पिता और कर्त्तव्य-परायण पति थे। उन्होंने उत्तर में लिखा : "मैं कलकत्ते के स्वार्थ-देवता के पाषाण मन्दिर से तुम लोगों को दूर देहात में ले आने के लिये बहुत उत्सुक हूँ।" इसके कुछ ही समय बाद वह पत्नी और बच्चों को शिलाइदह ले गये और वहीं उन्होंने एक गृह-विद्यालय की स्थापना की। शांतिनिकेतन में विद्यालय स्थापित करने के पूर्व इसी घरेलू विद्यालय में कवि ने शिक्षा-संबंधी अनुभव प्राप्त किया था।

पारिवारिक जीवन

इन्हीं दिनों ज्येष्ठ पुत्र रथीन्द्रनाथ का यज्ञोपवीत संस्कार हुआ। तब कवि सभी सामाजिक और धार्मिक अनुष्ठानों में पैत्रिक परंपरा के कट्टर अनुयायी थे। उनके परिवार में सभी को सामाजिक तथा धार्मिक विषयों में आदि ब्राह्म समाज के नियमों का पालन अनिवार्य रूप से करना पड़ता था। पिता की यही इच्छा थी और पिता की इच्छा के प्रतिकूल कभी कोई काम रवीन्द्रनाथ ने नहीं किया। साधारण ब्राम्ह-समाज प्रगति की ओर कफी बढ़ चुका था, पर महर्षि का आदि-ब्राम्ह-समाज अभी तक हिन्दू-समाज की वर्णभेद प्रथा को मानकर चलता था, ठाकुर-परिवार के लड़कों और लड़कियों के विवाह उच्च ब्राम्हण-कुलों में ही होते थे, बच्चों का यज्ञोपवीत संस्कार नियमित रूप से होता था, विवाह, उपनयन आदि में मूर्ति-पूजा छोड़कर शेष सारी पद्धति हिन्दू-समाज के अनुसार ही बरती जाती थी। उनका पुरोहित केवल ब्राह्मण ही हो सकता था, दूसरे वर्ण का कोई पंडित नहीं। सुधारवादिता और प्रगतिशीलता के लिये प्रसिद्ध ठाकुर-परिवार ब्राह्मणत्व के प्रति पक्षपात त्यागने में असमर्थ रहा, यह आश्चर्य ही है। महर्षि की इस दुर्बलता का कारण शायद यह रहा होगा कि इस देश में सदियों से ज्ञान के क्षेत्र में आभिजात्य की रक्षा केवल ब्राह्मण ही करते रहे और उस युग में सुप्रजनन-शास्त्र (यूजेनिक्ल) के प्रचलित नियमों को ध्यान में रखते हुए देवेन्द्रनाथ परंपरा से विकसित 'ब्राह्मण्य प्रतिभा' के बीजों की रक्षा अपने वंश में करना चाहते थे। यह मुस्लिम राजत्व-काल में उनके पूर्वजों का ब्राह्मणत्व खंडित किये जाने के षड्यंत्र की प्रतिक्रिया भी हो सकती है। कारण जो भी रहा हो, इस संकीर्ण मनोभाव की कोई सफाई आज नहीं दी जा सकती। जहाँ तक रवीन्द्रनाथ का प्रश्न है, वह वर्णभेद को कायम

रखने के पक्ष में कभी नहीं रहे, पर साथ ही पिता द्वारा चलायी गयी परंपरा को उनके जीवन-काल ही में तोड़ने की प्रवृत्ति भी उन्हें नहीं होती थी।

शिलाइदह के देहाती वातावरण में बच्चों को पढ़ाने के लिये रवीन्द्रनाथ ने लारेन्स नाम के एक अँगरेज शिक्षक को नियुक्त कर लिया। अँगरेजी शासन और भारत-प्रवासी अँगरेजों के व्यवहार के विरुद्ध घोर विद्रोही होने पर भी अँगरेजी शिक्षा-पद्धति की अच्छाइयों के प्रति उनके मन में आदर था। कुछ समय बाद जगदानंद राय को भी, जो गणित, ज्योतिष और विज्ञान में विशिष्टता प्राप्त किये हुए थे, नियुक्त कर लिया गया। दोनों शिक्षकों की देखरेख में बच्चे शिक्षा पाने लगे।

इधर कवि का ध्यान 'फार्मिंग' की ओर झुका हुआ था। अमरीका और मद्रास का विशेष धान मँगाकर बंगाल की मिट्टी में उसके उत्पादन में हाथ बंटा कर वह बड़ी दिलचस्पी लेने लगे, राजशाही से रेशम के कोड़े मँगाकर उनके पालन और रेशम-उत्पादन के संबंध में भी परीक्षा करने लगे। स्वदेश में ही तैयार किये गये वस्त्रों के व्यवहार के प्रति कवि का आग्रह भी इसका एक कारण था। पर यह रेशमी कारोबार बड़े झझट का काम सिद्ध हुआ। विख्यात विज्ञान वेत्ता जगदीशचंद्र वसु को जुलाई १९०० में लिखे गये एक पत्र में कवि कहते हैं : "न जाने किस कुक्षण में अक्षयकुमार (विख्यात इतिहासज्ञ) मेरे यहाँ रेशम के २० कोड़े रख गये थे। आज दो लाख भूखे कोड़ों को दिनरात आहार और आश्रय देने के काम में मैं अत्यंत व्यस्त हो उठा हूँ। दस-बारह आदमी दिन-रात उनकी डालें साफ करने और ग्रामान्तर से पत्ते लाने के काम में नियुक्त रहते हैं। लारेन्स नहाना-खाना भूलकर कोड़ों की सेवा में लगा रहता है।"

इसी बीच एक बहुत बड़े व्यावसायिक संकट में कवि फँस गये थे। १८९६ में उनके दो भतीजों ने कुष्ठिया में 'ठाकुर कंपनी' नाम से एक कंपनी खोली। यह कंपनी मुफस्सिल में पाट आदि कच्चा माल खरीद कर बिक्री करती थी। कुछ समय बाद ईख पेरने की मशीन से संबंधित कारोबार भी

उन लोगों ने खोल लिया। उस समय इस कल की एकमात्र वितरक थी रेनविक नामक एक अँगरेज कंपनी। उन्हीं के दलाल गाँव-गाँव में जाकर मशीन बिक्री करते थे। ठाकुर कंपनी ने इस अँगरेज कंपनी की प्रतियोगिता में काफी सफलता प्राप्त कर ली। रवीन्द्रनाथ ने भी इस कारोबार में दिलचस्पी लेना आरंभ किया। काम अच्छा चल रहा था। पर जो भतीजा (बलेन्द्रनाथ) उस कारोबार की देखरेख कर रहा था वह व्यवसायी उतना नहीं था जितना आदर्शवादी साहित्यकार। उसके मैनेजर ने ऐसी चालाकी से गबन करना आरंभ कर दिया कि प्रारंभ में किसी को कुछ पता ही नहीं चला। जब बलेन्द्रनाथ बीमार पड़ गये और कुछ ही समय बाद उनकी मृत्यु भी हो गयी तब व्यापार का सारा भार रवीन्द्रनाथ के सिर पर आ पड़ा। तब तक रवीन्द्रनाथ को भी भीतरी स्थिति का कुछ पता नहीं था। एक दिन जब अकस्मात् मैनेजर फरार हो गया तब पता चला कि कंपनी को ८०,००० रु० कर्ज हो गया है। रवीन्द्रनाथ पैत्रिक संपत्ति के आंशिक मालिक थे, पर भतीजों का कानून के हिसाब से कोई अधिकार नहीं था। फलस्वरूप कर्ज के देनदार अकेले रवीन्द्रनाथ ठहराये गये। कवि की निजी आर्थिक स्थिति नाना कारणों से यों ही संकटपूर्ण होती चली जा रही थी, ऊपर से यह और भी विकट संकट आ पड़ा। घबराकर वह सारा कारोबार तत्काल बंद कर देने के लिए व्यस्त हो उठे। यदि कोई कर्मठ व्यवसायी होता तो उस घाटे से न घबराकर व्यापार चालू रखता, क्योंकि व्यापार में अपने-आप में कोई खराबी नहीं थी, वह बहुत लाभप्रद था। पर इस नीरस क्षेत्र में कवि से लगन व धैर्य की आशा कैसे की जा सकती थी। बड़ी कोशिशों के बाद अंत में एक मारवाड़ी और एक अँगरेज व्यवसायी ने आधे हिस्से के साझीदार बनकर कारोबार को चलाना स्वीकार किया। पर इसमें भी कवि को झंझट दिखायी दिया। इसलिए उन्होंने सारा कारोबार ठाकुर कंपनी के ही एक कर्मचारी को दान कर दिया। वह कर्मचारी कुछ ही वर्षों में मालामाल बन गया।

पर कर्जा तो रवीन्द्रनाथ को ही चुकाना था। अपने मित्र लोकेन

पालित और एक मारवाड़ी से ब्याज की गहरी दर पर कर्ज लेकर रुपया जुटाया। किसी तरह कंपनी के दायित्व से बरी हुए। रवीन्द्रनाथ की व्यक्तिगत आर्थिक स्थिति कभी अच्छी नहीं रही। लेकिन पालित से जो ऋण लिया था उसे १९१७ से पहले वह नहीं चुका सके। तब उनकी संपत्ति का मालिक शांतिनिकेतन का विश्वविद्यालय था।

किंतु अपनी इन सब भयंकर परेशानियों का कोई असर उन्होंने अपने परिवार वालों पर नहीं होने दिया। अपने बच्चों से वह बहुत स्नेह करते थे। अवकाश के क्षणों में उनके साथ स्वयं भी बच्चा बन जाते थे, खेलते थे या कहानियाँ सुनाते थे। पत्नी मृणालिनी देवी यद्यपि बचपन में देहाती वातावरण में पली थीं तथापि बाद में वर्षों तक कलकत्ते में जीवन बिताने के कारण वह उसी शहराती जीवन की आदी हो चुकी थीं। इसलिए शिलाइदह के ग्रामीण वातावरण में उन्हें सब-कुछ सूना लगता था और जी नहीं लग पाता था। इसलिए जमींदार, व्यवसाय और साहित्य के कामों की व्यस्तता के बीच में भी कवि अपनी पत्नी का साथ देते और उन्हें अकेलेपन का अनुभव न होने देने का प्रयत्न भरसक करते रहते थे।

मृणालिनी देवी विशेष प्रतिभाशालिनी महिला नहीं थीं, इसलिए न तो कवि के साहित्यिक जीवन की सहचरी बन सकने में समर्थ थीं न कर्म-जीवन में 'सचिव' पद की अधिकारिणी हो सकती थीं। वह न तो कालिदास की इन्दुमती थीं न रवीन्द्रनाथ की चित्रांगदा। पर वह कुशल गृहिणी अवश्य थीं और किसी ह : तक ललित कला संबंधी शिष्या थीं। कवि के नाटकों के अभिनय में भी कभी-कभी वह भाग ले लेती थीं।

कवि की 'जीवन-स्मृति' से मृणालिनी देवी के जीवन के संबंध में बहुत कम प्रकाश पड़ता है। फिर भी उनको लिखे गये जो कुछ छिटपुट पत्र प्राप्त हुए हैं उनसे कुछ आभास मिल सकता है। एक पत्र में कवि लिखते हैं : "मुझे सुखी बनाने के लिए विशेष प्रयत्न न किया करो—तुम्हारे अंतर का प्रेम ही मेरे लिए यथेष्ट है। यह ठीक है कि यदि तुम्हारे और मेरे बीच सभी कामों और सभी भावों में सहयोग रहता तो बहुत अच्छा होता—पर

यह बात किसी की इच्छा के अधीन नहीं है। यदि तुम मेरे साथ सभी प्रकार के कामों में, सभी प्रकार की शिक्षा में योग दे सकतीं तो मुझे अवश्य प्रसन्नता होती। जीवन में दो जनों का आपस में मिलकर सभी विषयों में साथ-साथ अग्रसर होने का प्रयत्न करने से आगे बढ़ने की क्रिया आसान हो जाती है। मैं तुम्हें किसी भी विषय में लाँघकर आगे बढ़ने की इच्छा नहीं रखता हूँ, पर तुम पर जोर डालने से तुम्हें पीड़ा पहुँचेगी यह आशंका सब समय मन में बनी रहती है। सभी की रुचि, अनुराग और अधिकार के विषय स्वतंत्र होते हैं। मेरी इच्छा और अनुराग के साथ अपनी समस्त प्रकृति को मिला देने की क्षमता तुम्हारे अपने बस की नहीं है। इसलिए इस संबंध में अधिक माथापच्ची न करके अपने प्यार द्वारा, जतन द्वारा मेरे जीवन को यदि तुम मधुर बना सको, मुझे अनावश्यक दुःखों और कष्टों से बचाने की चेष्टा कर सको तो वह चेष्टा मेरे लिए बहुमूल्य सिद्ध होगी।"

एक दूसरे पत्र में कवि शिलाइदह से कलकत्ते में अपनी पत्नी को लिखते हैं : "रात बहुत बीत जाने पर जब छत में मेरी नींद टूटी तब चाँदनी में बैठे-बैठे मैं सोचने लगा कि इस छत पर तुम्हारी बहुत-सी साँझें और रातें अनेक मार्मिक दुःखों के बीच में बीती हैं। मेरे अंतर की भी बहुत-सी पीड़ाओं की स्मृतियाँ इस छत के साथ जुड़ी हुई हैं। यदि तुम आधी रात गये इस छत की चाँदनी में बैठतीं तो संभवतः फिर तुम्हारा मन धीरे-धीरे वाष्पाच्छन्न हो उठता। मैं तो अब सारे संसार को मरीचिका की तरह देखने का आदी इस कदर हो उठा हूँ कि किसी दुःख की बात मन में जगते ही वह पद्म-पत्र में जल-बिंदु की तरह शीघ्र ही ढुलक पड़ता है।"

बाहर विपुल कर्म-कोलाहलमय जीवन की व्यस्तता और भीतर गहन भाव-तरंग-राशियों का तूफान—इन दोनों के बीच में पारिवारिक स्नेह और सुख-दुःख की कोमल वेदना के लिए भी कवि ने काफी स्थान रख छोड़ा था। उनके छिटफुट पत्रों से यह बात स्पष्ट हो उठती है। कम से कम इन पत्रों से इतना तो स्पष्ट ही हो जाता है कि अपनी पत्नी के प्रति कवि के मन में यथेष्ट स्नेह-भावना वर्तमान थी। पर साथ ही यह भी सच है कि मृणालिनी

देवी का व्यक्तित्व कवि के अंतर में कादंबरी देवी की तरह कोई गहन और सघन भाव-वेदना जगाने में समर्थ न हो सका।

१९०२ में ३० वर्ष की अवस्था में मृणालिनी देवी की मृत्यु हो गयी। स्वभावतः यह धक्का कवि के लिए बहुत ही पीड़ादायक सिद्ध हुआ। यह स्वाभाविक पीड़ा इस दृष्टि से और अधिक मार्मिक सिद्ध हुई कि अब अपने बाहर और भीतर के जीवन की घोर व्यस्तता के बीच में चार बच्चों को पितृ-स्नेह के साथ ही मातृस्नेह भी देने का अन्तर-भार कवि के ऊपर आ पड़ा। वह अब केवल घर के 'कर्ता' ही नहीं रहे, 'गिन्नी' (गृहिणी) का भी कर्त्तव्य उन्हें सँभालना पड़ा।

मृणालिनी देवी की मृत्यु की अत्यंत दुःखद स्मृति में कवि ने कई कविताएँ लिखीं जिन्हें बाद में 'स्मरण' नाम से संगृहीत कर दिया गया। 'स्मरण' की सभी कविताएँ रवीन्द्रनाथ की प्रायः सभी कविताओं की तरह सुंदर हैं। यदि उनमें 'कमी' है तो केवल यह कि उनका संबंध मृणालिनी देवी नाम की उस विशेष नारी से नहीं है जो सयोग से ग्यारह वर्ष की अवस्था में कवि के साथ विवाह के मंगल-सूत्र में बँधी थी; जिसने कवि के प्रति अपने अंतर का प्रेम मुक्त भाव से उँडेल दिया था, और जो पलटे में कवि के दीर्घ-विस्तृत हृदय के एक अंश का प्रेम पाकर अपने को कृतार्थ समझती थी और उसके लिए कृतज्ञ थी; जिसके लिए संसार में पति ही सर्वस्व थे। (यद्यपि जिसके पति के लिये एकमात्र पत्नी ही सर्वस्व नहीं थी—उनके विशाल और अगम व्यक्तित्व को विराट साधना के केवल एक अपेक्षाकृत नगण्य अंश को ही वह अधिकृत किये थी); जिसने चार बच्चों का प्रेमोपहार कवि को दिया था और जो 'तुमुल कोलाहल कलह' के बीच में—विशेष-विशेष क्षणों में—कवि के श्रांत मस्तिष्क के लिए 'हृदय की बात' बन कर रहती थी। 'स्मरण' की कविताएँ कवि के प्रतिदिन के जीवन के सुख-दुःखों से संबंधित एक विशेष नारी के प्रति उतनी नहीं हैं जितनी विश्वनारी के प्रति। एक नमूने से मेरी बात किसी हद तक स्पष्ट हो जायगी। इस माला की 'रमणी' नामक कविता में कवि कहता है :

"जिस प्रकार विश्व-देवता रमणी-रूप धारण करके अपनी माधुरी को स्वयं चुराने के लोभी हैं, जिस प्रकार उन्होंने प्रिय चराचर में सुन्दरता बिखेर दी है, जिस रहस्य की प्रेरणा से आनंद उनके प्रेम के साथ खेलता रहता है, जिस भाव की लीला से लता में फूल हैं, नदी में लहरियाँ हैं, लक्ष्मी विश्व को ईश्वरी के रूप में विराजमान है, आषाढ़ का नया मेघ वृष्टि दान करता है, तटिनी पृथ्वी को स्तन्य पान कराती है, जिस नियम से परम पुरुष आनंद के प्रति उत्सुक हो कर अपने को दो में विभक्त करके सुख पा रहे हैं, उन दोनों के पारस्परिक मिलनाघात से एक रहस्यमयी, विचित्र वेदना नित्य वर्ण, गंध और गीत के सामंजस्य से नयी-नयी रचनाएँ करती रहती है, हे रमणी, तुमने क्षणकाल के लिए मेरे निकट आकर मेरे चित्त को उसी रहस्याभास से भर दिया है।"

इसी प्रकार प्रायः सभी कविताओं में कवि ने अनंतकालीन बिछोह की वैयक्तिक वेदना को अत्यंत सुन्दर रूप से विश्व-वेदना में परिणत कर दिया है। रवीन्द्रनाथ की यह बहुत बड़ी विशेषता रही है कि उन्होंने अपनी प्रायः समस्त वैयक्तिक अनुभूतियों को विश्व-अनुभूति में परिणत करने में आश्चर्यजनक सफलता पाई है।

'कणिका' से 'क्षणिका' तक

'स्मरण' की चर्चा मैंने प्रसंगवश पहले ही चला दी है, जब कि उसके पहले (और 'कल्पना' के बाद) 'कणिका', 'कथा', 'काहिनी' और 'क्षणिका' ये मुख्य काव्य-ग्रंथ तथा कुछ गद्य-ग्रंथ प्रकाशित हुए थे। 'कणिका' में नाम के अनुरूप ही बहुत छोटे-छोटे काव्य-कण (जिन्हें सूक्तियाँ कहना अधिक उपयुक्त होगा) लिखकर कवि ने संकलित किये। उन दिनों उनका चित्त नाना कारणों से बहुत उद्भ्रांत था। इतने दिनों से संयुक्त परिवार के विभाजन द्वारा पारिवारिक अशांति और व्यवसाय में घाटे पर घाटे के कारण सिर पर असाध्य रूप से ऋण का बोझ ये दो कारण मन को थकाने के लिए काफी थे। साथ ही तीसरा एक और उपसर्ग साहित्य-क्षेत्र में धीरे-धीरे जुटता चला जा रहा था। कवि की प्रचंड तूफानी प्रतिभा परंपरागत साहित्यिक मान्यताओं की दीवारों को गिराकर, अंध रूढ़ियों को ध्वंस-भ्रंश करके जिस तीव्र गति से विविध और विचित्र रूपों में आगे की ओर बढ़ती चली जा रही थी उसे परंपरावादी साहित्य-समाज न तो समझ पा रहा था न समझने का प्रयत्न कर रहा था। फलस्वरूप चारों ओर से साहित्यालोचकगण उनकी रचनाओं का विरोध कर रहे थे। यह विरोध विशेष रूप में 'साहित्य' नाम की पत्रिका के माध्यम से व्यक्त हो रहा था। उन दिनों 'भारती' और 'बंगदर्शन' के बाद 'साहित्य' ही प्रमुख साहित्यिक मासिक पत्र था। उसके संपादक ने रवीन्द्रनाथ की सभी प्रकार की रचनाओं की निन्दात्मक आलोचना करने का जैसे ठीका ले लिया था। ये आलोचनाएं विद्वेषपूर्ण होती थीं। उनमें अधिकांशतः कोई गंभीर तथ्य नहीं रहता था, पर लिखी जाती थीं वे बड़ी चतुराई से। सांसारिक क्षेत्र में पराजित कवि को जब अन्तर्साधना के क्षेत्र में भी विद्वेषी साहित्यकारों से पुरस्कार रूप से इस प्रकार की अकृतज्ञता प्राप्त होने लगी तब उनका चित्त स्वभावतः

अत्यंत क्षुब्ध हो उठा। वह भी मनुष्य ही थे, स्वर्ग के देवता नहीं, अपने प्रिय बंधु प्रियनाथ सेन को कवि ने लिखा : "इस संबंध में यदि तुम कोई बंधु कृत्य कर सको तो करो।" इसके कुछ समय बाद एक दूसरे पत्र में उन्होंने लिखा कि 'साहित्य' के लेखक की कापुरुषता के प्रति घृणा जता कर और उनके (कवि के) प्रति समवेदना प्रकट करके प्रियनाथ सेन और जगदीश चंद्र (विख्यात विज्ञानवेत्ता) ने जो पत्र लिखे हैं उनसे उनके मन को बड़ा बल प्राप्त हुआ है। साथ ही यह भी लिखा कि "मन शांत न रहने से मैं कोई भी काम ठीक से नहीं कर पाता। इसलिए जीवन की निष्फलता से अपनी रक्षा करने के उद्देश्य से सभी प्रकार के क्षोभों के कारणों से दूर रहने की चेष्टा करता हूँ।"

'कणिका' की रचना संभवतः इसी साहित्यिक प्रतिक्रिया का फल है। अकृतज्ञ साहित्य-समाज के प्रति कवि का अभिमान-भरा हृदय जैसे यह कहना चाहता हो : "यदि तुम मेरी गंभीर रचनाओं को नहीं समझ पाते हो, उन्हें कोई महत्त्व नहीं देना चाहते हो, तो लो, तुम्हारे लिये ये छोटे-छोटे साहित्य-कण लिखता हूँ, जिन्हें संभवतः तुम्हारी स्थूल बुद्धि समझ सके।"

इस प्रकार 'कणिका' की उत्पत्ति कवि के नाना कारणों से थकित मन के विश्राम के क्षणों में हुई। इसमें कुछ कविताएँ दो पंक्तियों की हैं और कुछ चार पंक्तियों की। ये कविताएँ साहित्य-रस-प्रदायिनी उतनी नहीं हैं जितनी जीवन-नीति-तत्त्व-बोधिनी। कुछ नमूने यहाँ दिये जाते हैं :

'उपकार-दंभ' शीर्षक कविता में कवि कहते हैं : "तालाब की सिवार सिर ऊँचा करके तालाब से कहती है : मैंने तुम्हें एक बिंदु ओस दिया है, इसे मेरे लिए उपकार के हिसाब के खाते में लिख लो।" 'अकृतज्ञ' शीर्षक कविता का भाव इस प्रकार है : "ध्वनि को प्रतिध्वनि सदा व्यंग करती रहती है, यद्यपि वह ध्वनि के प्रति इस बात के लिए ऋणी है कि वह पीछे पकड़ में आती है।" 'मध्य स्थिति वाले की सतर्कता' शीर्षक कविता की सूक्ति इस प्रकार है : "उत्तम व्यक्ति निश्चिन्त होकर अधम के साथ चलता

है। जो व्यक्ति उससे बचकर चलना चाहता है वही मध्यम है।" ये सब दो पंक्तियों की कविताएँ हैं। 'कर्त्तव्य-ग्रहण' चार पंक्तियों की कविता है : "संध्या के सूर्य ने पूछा—मेरे अस्त होने के बाद मेरे कार्य का भार कौन ग्रहण करेगा? सुनकर सारा संसार निरुत्तर छवि की तरह स्तब्ध रह गया। मिट्टी का एक दीया था। उसने कहा—स्वामी, मुझसे जितना कुछ भी बन पड़ेगा मैं सहर्ष करूँगा।" गृहभेद शीर्षक कविता में : "आपने कहा—हे माकाल* भाई, किसी जमाने में हम सब वन में समान भाव से रहते थे। बाद में मनुष्य अपनी रुचि ले आया। फल यह हुआ कि मूल्यभेद शुरू हुआ और साम्य चला गया।" 'प्रश्नेर अतीत' में कवि पूछता है : "हे समुद्र, चिरकाल तुम क्या गुरु-गंभीर भाषा बोलते रहते हो? समुद्र ने उत्तर दिया : मेरे भीतर अनंत जिज्ञासा भरी हुई है। हे हिमाद्रि, तुम क्यों इस तरह स्तब्ध रहते हो? गिरिवर बोला : मेरे भीतर चिर-निरुत्तर का भाव निहित है।" अंतिम तीन कविताएं चार-चार पंक्तियों की हैं।

इन छोटी-छोटी सूक्तियों में भले ही गंभीर काव्य-रस न हो, किंतु जीवन की गहनतम अनुभूतियों का निचोड़ भरा पड़ा है।

'कणिका' के बाद 'कथा' आरंभ होती है। इस काव्य-ग्रंथ में प्राचीन और मध्य भारत की गौरव-गाथाओं को अपनी रुचि के अनुसार चुन कर कवि ने अपनी जादू-भरी प्रतिभा का पुट उनमें भर कर नये-नये मौलिक रसों की उद्भावना की है। इन कथाओं में कहानी के अपूर्व रस के साथ ही काव्य-रस का भी पूरा आनंद प्राप्त होता है। और, इन दोनों के अतिरिक्त, विचित्र चित्र-रस तो उनमें भरा है ही। स्वयं कवि ने बाद में उनकी तुलना चित्र-शाला से की थी। इसकी भूमिका के लिए, जो बाद में जोड़ी गया थी, कवि ने एक सुन्दर कविता लिखी थी, जिसकी कुछ पंक्तियां इस प्रकार हैं:

कथा कओ कथा कओ!
तुमि जीवनेर पाताय पाताय अदृश्य लिपि दिया

*एक प्रकार का कटु-रस-पूर्ण फल।

पितामहदेर काहिनी लिखिछो मज्जाय मिशइया।
जाहादेर कथा भूलेछे सबाई तुमि तम्हादेर किछु भोलो नाई,
विस्मृत जत नीरव काहिनी स्तंभित होये बओ।
भाषा दाओ तारे, हे मुनि अतीत, कथा कओ, कओ!

"कथा कहो, हे मुनि (मौनी) अतीत! कुछ बोलो! तुम जीवन के प्रत्येक पृष्ठ पर अदृश्य लिपि में पितामहों की कहानी मज्जा मे मिलित करके लिख रहे हो। जिन लोगों की कथा सब लोग भूल चुके हैं, तुम उन लोगों के विषय में कुछ भी नहीं भूले हो। जितनी भी नीरव कहानियाँ हैं उन्हें तुम स्तब्ध और मौन-भाव से वहन करते चले जाते हो। उन्हें अब भाषा दो। हे अतीत! कथा कहो, कथा कहो!"

यहाँ पर 'कथा' शब्द में श्लेष है। बँगला में साधारण बात (-चीत) को भी 'कथा' कहते हैं। "कथा कओ" का अर्थ "कहानी सुनाओ" भी होता है और "बोलो" भी। इस संग्रह मे बौद्धयुग से लेकर सिख और मरहठा युग तक की विविध कथाएँ वर्णित हैं। इससे स्पष्ट है कि सामग्री जुटाने के लिए कवि को काफी अध्ययन करना पड़ा था। इनमे से चार को छोड़ कर शेष कथाएँ कवि ने एक महीने से भी कम समय में लिख डाली थीं। संन्यासी उपगुप्त से संबंधित सुप्रसिद्ध कहानी ('अभिसार') इसी संग्रह में है। इसी संग्रह की 'पुजारिणी' शीर्षक कथा को बाद में 'नटीर पूजा' के नाम से नाटकाकार में परिणत कर दिया गया था।

यह संग्रह भी समालोचकों की निन्दा से नहीं बच पाया। कोई कहानी 'अश्लीलता' दोष से दुष्ट बतायी गयी, किसी में 'सांप्रदायिकता' पायी गयी और किसी में 'ऐतिहासिक भूल'!

'काहिनी' में अधिकतर छोटे-छोटे नाट्यकाव्य या 'संवाद-काव्य' संगृहीत हैं, जिनकी कथा-वस्तु प्राचीन महाकाव्यों या पुराणों से ली गयी है। शीर्षकों से ही कथा-वस्तु का आभास बहुत-कुछ मिल जाता है, जैसे 'गांधारीर आवेदन', 'कर्ण-कुन्ती संवाद', 'नरक-वास' आदि।

इसके बाद 'क्षणिका' की बारी आती है। इस माला की कविताओं की शैली भी अपने ढंग की निराली ही है। कवि की जो स्वाभाविक परिहास-प्रियता जीवन के निकट संकटपूर्ण अनुभवों के कारण बीच में कुछ समय के लिये दब गयी थी वह प्रतिक्रिया-स्वरूप फिर से दुगने वेग से उभड़ उठी और गंभीर भावात्मकता के साथ मिल कर कवि के प्राणों के आश्चर्यजनक रासायनिक कौशल द्वारा एक नये ही काव्यात्मक रूप और नयी ही कलात्मक शैली में व्यक्त हो उठी। निन्दावादी आलोचकों ने कवि को गहन भावपूर्ण कविताओं का जो मजाक उड़ाना आरंभ किया था कुछ उसकी भी प्रतिक्रिया कवि के मन में निश्चय ही जगी होगी। इसलिए मौज के क्षणों में उन्होंने स्वयं अपनी निगूढ़ अन्तर्वेदना को परिहासात्मक रूप में व्यक्त करना आरंभ कर दिया। एक कविता में वह कहते हैं:

ठाट्टा तुमि कोरो पाछे ताई
ठाट्टा कोरे ओड़इ सखि, निर्जर कथाटाई।

"मेरे अन्तर की पीड़ा की गाथा सुनकर तुम कहीं बाद में उसकी हँसी न करो, इस आशंका से मैं स्वयं ही अपनी बात को मजाक में उड़ा दिया करता हूँ।"

उदाहरण के लिए इस माला की 'सेकाल' (प्राचीन युग) शीर्षक कविता लीजिये। यह रवीन्द्रनाथ के उस प्रियतम कवि कालिदास के युग से संबंधित है जिस पर उन्होंने दसियों कविताएं लिखी हैं। इस कविता में आरंभ ही से कवि की परिहासात्मक मनःस्थिति का परिचय मिलने लगता है:

"मैं यदि कालिदास के युग में जन्म लेता तो संभवतः नवरत्नों की माला में दसवें रत्न के रूप में जुड़ गया होता। एक श्लोक द्वारा राजा की स्तुति गाकर पुरस्कार के रूप में राजा से उज्जयिनी के किसी विजन प्रांत में बाग से घिरा हुआ एक भवन प्राप्त कर लेता।"

इसके बाद लघु-परिहासपूर्ण शैली में कवि ने वर्णित किया है कि उस युग में वह किस वातावरण में रहता और किस मालविका के प्रेम-जाल में

किस तरह फंसता। पर—हायरे कत्रे केटं गेछे कालिद सिर काल, पंडितेरा विवाद कोटे लये तारिख-शाल !

"हाय, कालिदास का युग न जाने कब बीत चुका। पंडित लोग उसके सन्-संवत् और तारीख के संबंध में विवाद करते हैं !" उस युग की जिन सुन्दरियों के साथ मेरा मिलन नहीं हो पाया वे विच्छेद के दुःख से कवि को अनमन कर रही हैं। फिर भी कवि अपने मन को यह सान्त्वना देता है कि "इस समय मर्त्यलोक में जो सुन्दरियाँ वर्तमान हैं उनकी छवि कालिदास की आँखों म भी कुछ कम न जँचती। यह ठीक है कि आज की ये सुन्दरियाँ जूता-मोजा पहनती हैं और विदेशी भाषा मे बातें करती हैं। फिर भी वही कटाक्ष उनकी आँखों के कोनों में खेलता हुआ पाया जाता है, ठीक जैसा कालिदास के युग में देखा जाता था। नहीं भाई, मैं निपुणिका और चतुरिका के शोक में नहीं मरूँगा। वे सब दूसरे नामों से इस मर्त्यलोक में विराज रही हैं।

"बल्कि मैं तो इस गर्व से नाचता रहूँगा कि कालिदास का तो केवल नाम ही शेष रह गया है और मैं अभी जीवित हूँ। मैं तो उनके काल का कुछ-कुछ स्वाद और गंध अभी तक पाता रहता हूँ, पर मेरे काल का तनिक भी आभास महाकवि (कालिदास) न पा सके। आधुनिक युग की यह जो विदुषी विनोदिनी वेणी हिला-हिला कर पथ पर चलती हैं उनकी छवि महाकवि की कला में तनिक भी नहीं थी। इसलिए हे प्रिये, तुम्हारी तरुण आँखों का प्रसाद पा-पाकर मैं कालिदास को हरा कर गर्व से नाचता फिरता हूँ।"

इस प्रकट परिहास के भीतर कालिदास के युग से कवि की एकान्त आत्मीयता और युग के प्रति कवि के प्राणों की सच्ची विछोह-भावना की पीड़ा निहित है—उस उज्जयिनी से विछोह की पीड़ा जहां स्वप्नलोक के माध्यम से वह अपने पूर्व जन्म की प्रथमा प्रिया को खोजने निकले थे।

क्षणिका के युग में कवि का हृदय सभ्यता के सभी कृत्रिम बंधनों से तंग आकर उन सब बंधनों को छिन्न करके एक मतवाले की तरह उच्छृंखल

जीवन बिताने के लिये जैसे आकुल हो उठा है। यह भावना 'माताल' (मतवाला) शीर्षक कविता में सुस्पष्ट हो उठी है। यही भाव दूसरे रूप में 'जन्मान्तर' शीर्षक कविता में पाया जाता है, जिसमें कवि कहता है :

"मैं सुसभ्यता के आलोक को छोड़ने के लिए बिलकुल राजी हूँ। मैं नव-बंग के नवीन युग का नेता बनना नहीं चाहता। मैं विलायत न गया तो न सही, सरकार से खिलअत न पा सका तो न सही। यदि अगले जन्म में मैं ब्रज का एक ग्वाला बन सकूँ तो अपने घर में सुसभ्यता का प्रकाश बुझा देने के लिए तैयार हूँ।"

पर 'क्षणिका' की सभी कविताओं में केवल 'क्षणिक का गान' नहीं है। कुछ कविताएं उसमें ऐसी भी हैं जो काफी गंभीर और अपेक्षाकृत स्थायी महत्त्व की हैं। उदाहरण के लिए, 'कल्याणी' शीर्षक कविता में कवि ने नारी के उस महनीय गृहिणी रूप का स्तुति भावपूर्ण शब्दों में की है जो संसार के संघर्षमय और बिखरे हुए जीवन में मंगलमय शांति और स्निग्धता बिखेरती रहती है; जिसके लिए न शीत है न वसंत, न जरा है न यौवन, सब ऋतुओं में और सभी काल मे जिसका अचल सिंहासन शोभित होता रहता है, रूपसियाँ जिसकी महिमा से मुग्ध हो कर चरणों में पूजा का थाल रख देती हैं और विदुषियां जिसके गले में वरमाला पहनाकर तृप्ति का अनुभव करती हैं। गृहलक्ष्मी के अत्यंत उदात्त स्वरूप की कल्पना इस सुंदर कविता में रवीन्द्रनाथ ने की है।

'क्षणिका' काव्य कवि ने अपने प्रिय सुहृद लोकेन्द्रनाथ पालित को अर्पित किया था। समर्पण-पत्र में यह कविता लिखी थी :

क्षणिकारे देखेछिले क्षणिकवेशे काँचा खाताय,
साजिये तारे एने दिलेम छापा बइयेर बाँधा पाताय।
आशा करि निदेन पक्षे टुटा मास कि बछर (ई)
हबे तोमार विजनवासे सिगारेटेर सहचरी।

कतकटा तार धोंयार संगे स्वप्नलोके उड़े जाबे,
कतकटा कि अग्नि कणाय क्षणे-क्षणे दीप्ति पाबे?
कतकटा वा छाइयेर संगे आपनि खसे पड़बे धूलोय;
तार पर से झेंटिये निये विदाय करो भाङा कूलोय!

"क्षणिका को तुमने क्षणिक वेश में काट छाँटवाली प्रारंभिक ('कच्ची') कापी में देखा था। अब उसे पुस्तक के बँधे हुए पृष्ठों के रूप में सजा कर लाया हूँ। आशा करता हूँ कि दो महीने या एक बरस तक तुम्हारे विजन-वास में यह तुम्हारी सिगरेट की सहचरी बन कर रहेगी। उसका कुछ अंश तो सिगरेट के धुएँ के साथ स्वप्नलोक में उड़ कर चला जायगा, पर कुछ क्या उसके अग्नि-कण में क्षण-क्षण में दीप्त नहीं होता रहेगा? शेष अंश उसको राख के साथ अपने-आप झर जायगा। उसे झाड़ू से साफ कर-के टूटे में फेंक देना!"

'चिरकुमार-सभा' नामक प्रसिद्ध प्रहसन भी कवि ने इन्हीं दिनों इसी मनमौजी मानसिक परिस्थिति में लिखा था। इन दिनों कवि अवकाश के साथ अध्ययन भी कर रहे थे। टाल्स्टाय की विश्व-विख्यात आलोचनात्मक पुस्तक 'कला क्या है?' बड़े मनोयोग से पढ़ रहे थे। आनातोल फ्रांस का 'ले क्राइम दु सिलवेस्टर बोनार' नामक प्रसिद्ध उपन्यास अँगरेजी में पढ़ चुकने के बाद मूल फ्रांसीसी प्रति की खोज में थे। और भी कई फ्रांसीसी कथाकारों की रचनाएँ बड़े मनोयोग से पढ़ रहे थे। साहित्य में 'रियलिज्म' (यथार्थवाद) का क्या स्थान है और उसकी अवतारणा भारतीय साहित्य में किस हद तक की जा सकती है इस संबंध में भी वह अध्ययन और खोज कर रहे थे। जर्मन और फ्रांसीसी कवियों तथा कलाकारों की रचनाएं मूल में पढ़ने की आकांक्षा कवि में प्रारम्भ से वर्तमान थी। अठारह वर्ष की अवस्था में गेटे के 'फाउस्ट' को उन्होंने मूल जर्मन में पढ़ना चाहा था। ह्यूगो और हाइने की कुछ कविताओं का अनुवाद उन्होंने अँगरेजी अनुवाद को मूल से मिला कर किया था। पर इन दोनों भाषाओं में वह कभी पारंगत नहीं हो पाये—केवल छिटफुट शब्दों के ज्ञान द्वारा भावाभास ही ग्रहण कर पाते थे।

कवि और विज्ञानी

संसार-प्रसिद्ध विज्ञानवेत्ता जगदीशचन्द्र वसु के साथ कवि के परिचय और क्रमिक घनिष्ठता का इतिहास रोचक है। रवीन्द्रनाथ बाल्यकाल से ही वैज्ञानिक विषयों में दिलचस्पी रखते थे। अपने प्रियतम कवि कालिदास और कालिदास के प्रेमी कवि गेटे की ही तरह वह प्रत्येक भाव-सत्य को वैज्ञानिक सत्य की कसौटी पर कसे बिना भरसक उपयोग में नहीं लाते थे। इसलिए जब उन्होंने जाना कि जगदीशचन्द्र वसु ने तथाकथित जड़-पदार्थों में भी जीवन का संधान पाया है और 'जड़-प्राणों' में अनुभूत होने वाली पीड़ा को वह यंत्र द्वारा प्रत्यक्ष दिखलाना चाहते हैं तब से वैज्ञानिक के प्रति कवि अत्यंत आकर्षित हो उठे। रवीन्द्रनाथ ने स्वतः प्रवृत्त होकर १८९८ में जगदीशचंद्र के साथ परिचयात्मक सबंध स्थापित किया। दोनों की प्रकृति ऐसी मिली कि वह परिचय शीघ्र हो घनिष्ठ मैत्री में परिणत हो गया।

जगदीशचंद्र १८८४ में कलकत्ते के प्रेसिडेन्सी कालेज में पदार्थ-विज्ञान के अध्यापक नियुक्त हुए। उस समय उनकी आयु केवल २६ वर्ष की थी। वहाँ निरंतर खोज करते रहने के फलस्वरूप उन्होंने कई महत्त्वपूर्ण वैज्ञानिक सत्यों का आविष्कार किया। पर इन आविष्कारों के लिए शिक्षा-विभाग के अँगरेज अफसरों ने 'नेटिव' वैज्ञानिक को तनिक भी प्रोत्साहित नहीं किया। उन्हें जितना-कुछ भी प्रोत्साहन मिला वह विदेशी वैज्ञानिकों से। पर विदेश में भी अपनी बात प्रमाणित करने के सिलसिले में उन्हें उस युग की विरोधी गोरी मनोवृत्ति के कारण किस कदर पग-पग पर अपमानित और परेशान होना पड़ा था, इसका एक लंबा इतिहास है, जो इस पुस्तक के सीमित क्षेत्र के बाहर है।

१८९४-९७ के दर्म्यान जगदीशचंद्र द्वितीय बार अपनी वैज्ञानिक खोज

के सिलसिले में विदेश में कार्य करते रहे। यूरोप के वैज्ञानिकों में उन्होंने एक नयी उत्सुकता जगा दी थी। पर अभी उस खोज की सचाई की परीक्षा शेष थी। रवीन्द्रनाथ संवादपत्रों तथा दूसरे जरियों से उनकी गति-विधि का पूरा ब्योरा जानने के लिए उत्सुक रहते थे। उनकी स्तुति में एक कविता भी कवि ने लिखी। जब वह विदेश से लौटे तब कवि ने वैज्ञानिक बंधु को अपनी 'कथा' नामक पुस्तक अर्पित की। उसके बाद १९०० में जगदीशचंद्र को तीसरी बार उसी कार्य के सिलसिले में विदेश जाने की आवश्यकता आ पड़ी। इस बार उन्होंने अपने सूक्ष्म वैज्ञानिक यंत्र को ऐसी परिपूर्णता प्रदान करने में सफलता पा ली थी जो उनके द्वारा आविष्कृत सत्य को विदेशी वैज्ञानिकों के आगे निश्चित रूप से प्रमाणित कर सकने में असंदिग्ध रूप से समर्थ था। जब शिक्षा-विभाग के अँगरेज अधिकारियों को इस बात का पता चला तब उन्होंने उनकी यात्रा में विघ्न डालने में कोई बात उठा न रखी। उन्हें कालेज से छुट्टी देने से इनकार कर दिया गया। अपने जीवन के ऐसे महत्त्वपूर्ण क्षण में इस प्रकार का विघ्न आते देख कर वह घबरा उठे। ऐसी संकटपूर्ण स्थिति में रवीन्द्रनाथ उनके परम सहायक सिद्ध हुए। उन्होंने जगदीशचंद्र को लिखा : "यदि सरकार तुम्हें छुट्टी नहीं देना चाहती तो क्या तुम बिना वेतन की छुट्टी लेने के भी अधिकारी नहीं हो? यदि इसकी संभावना हो तो हम लोग तुम्हारी आर्थिक क्षति को पूरा करने की विशेष चेष्टा कर सकते हैं। तुम अपने कार्य की हानि कदापि न करना। अर्थ का भार मैं लेने को तैयार हूँ।"

कवि के इस पत्र ने जगदीशचंद्र को बहुत बड़ा बल दिया। फिर भी वह कवि की संकटपूर्ण आर्थिक स्थिति से परिचित थे और चिंतित थे कि किस उपाय से वह आर्थिक प्रबंध कर सकेंगे। रवीन्द्रनाथ ने देश के इतने बड़े गौरव के कार्य के लिए अपना स्वाभाविक संकोच त्याग कर त्रिपुराधिपति महाराजा राधाकिशोर की चिरौरी की। साथ ही यह भी लिखा कि "मैं यदि दुर्भाग्य से दूसरों की अविवेचना के फलस्वरूप चारों ओर से ऋण-जाल से जकड़ा न होता तो जगदीश बाबू के लिए किसी के दरवाजे न जाता,

अकेले उनका सारा आर्थिक भार ग्रहण कर लेता।" इसके बाद कवि भिक्षा के लिए महाराज के दरबार में स्वय पहुँचे। महाराज ने दस हजार रुपया प्रदान किया। पर यह रुपया आसानी से नहीं मिला था। इसके लिये उन्हें दरबारियों से बहुत उलझना पड़ा था। पर मित्र तथा देश के काम के लिए कवि सारा अपमान चुपचाप पी गये।

ब्रिटिश वैज्ञानिकों ने 'नेटिव' वैज्ञानिक की प्रतिभा के चमत्कार से चकित होने पर भी रायल सोसायटी में उनके आविष्कार की मान्यता स्वीकृत होने के कार्य में बड़ा विघ्न डाला। उन्हें यंत्र की परीक्षा के समय बड़ी-बड़ी उलझनों में डालने के प्रयत्नों में कोई बात उठा नहीं रखी गयी। पर जिस व्यक्ति ने लंबी गवेषणा के बाद सत्य को प्राप्त कर लिया उसे बरगलाना आसान नहीं था। अंत में हर तरह जगदीशचंद्र ने यह सिद्ध करके दिखा दिया कि उनके आविष्कार में कोई भ्रम नहीं है। इनकी इस विजय से सारे देश में उत्साह फैल गया। रवीन्द्रनाथ के उल्लास की सीमा नहीं रही। उनके परम-प्रिय मित्र ने देश के परंपरागत ज्ञान की मर्यादा की रक्षा करते हुए देश-भक्त को विश्व-सभा में गौरवान्वित किया था। उन्होंने जगदीशचंद्र को संबोधित करते हुए एक लंबी कविता लिखी।

जब जगदीशचंद्र विलायत थे तब रवीन्द्रनाथ से उनका पत्र-व्यवहार नियमित रूप से होता रहता था। अपने कवि-मित्र की काव्यात्मक प्रतिभा का परिचय वह अपने विदेशी मित्रों को देते रहते थे। उनकी कविताओं और कहानियों का अनुवाद उन्हें सुनाया करते थे। पर इतने ही से वह संतुष्ट नहीं थे। उन्होंने कवि को एक पत्र में लिखा : "तुम देहात में छिपे रहोगे, ऐसा मैं होने नहीं दूंगा। तुम अपनी कविताओं को ऐसी भाषा में क्यों लिखते हो जिसका अनुवाद ही किसी दूसरी (विदेशी) भाषा में न हो सके? फिर भी तुम्हारी कहानियां मैं इस देश में (अनुवादित रूप में) प्रकाशित करना चाहता हूँ।" दूसरे पत्र में उन्होंने लिखा कि "लोकेन* से

*बैरिस्टर लोकेन्द्रनाथ पालित—कवि के मित्र और प्रसिद्ध साहित्यज्ञ।

कह कर क्या तुम्हारी चीजों का अनुवाद नहीं कराया जा सकता? मैंने उससे एक पत्र द्वारा अनुरोध किया है।" एक तीसरे पत्र में उन्होने लिखा : "मैं तुमको यशोमंडित देखना चाहता हूँ। तुम देहात में अब अधिक नहीं रहने पाओगे। तुम्हारी रचनाओं का अनुवाद करके इस देश के मित्रों को सुनाता रहता हूँ। वे सुनकर आँसू नहीं रोक पाते। पर उन्हें प्रकाशित किस उपाय से किया जाय, यह बात अभी तक मेरी समझ में नहीं आ पायी।"

इससे स्पष्ट है कि विदेशी भाषाओं में कवि को रचनाओं के अनुवाद की चर्चा उनकी मित्र-मंडली में १९०० से ही चलने लगी थी—जब जगदीशचंद्र विदेश में थे। तब कवि को भविष्य में होने वाली अपनी विश्व-व्यापी ख्याति के संबंध में कुछ भी अनुमान नहीं था। तीन वर्ष बाद उनको एक कहानी का हिन्दी अनुवाद 'सरस्वती' में छपा था। 'सरस्वती' के तत्कालीन संपादक आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी ने उस अंक की एक प्रति कवि को भेज दी थी। कवि अनुवाद पढ़ कर बहुत प्रसन्न हुए थे और इस बात का उल्लेख जगदीशचंद्र को लिखे गये अपने एक पत्र मे उन्होंने किया था, जिसमें यह भी लिखा था कि अनुवाद में मूल की पूरी रक्षा हुई है और वह उन्हें पसंद आया है।

१९०७ में जब कवि का 'खेया' नामक कविता-संग्रह प्रकाशित हुआ तब 'कथा' की ही तरह उसे भी कवि ने अपने वैज्ञानिक बंधु को अर्पित किया था। अर्पण के सिलसिले में कवि ने जो कविता लिखी उसमें उन्होंने अपनी पुस्तक को तुलना लज्जावती लता (छुई मुई) से की। जानकारों को पता है कि पौधों को पीड़ा को अनुभूति होती है यह बात प्रमाणित करने के लिए जगदीशचंद्र ने लज्जावती लता को प्रयोग के लिए विशेष रूप से चुना था, क्योंकि यह विशेष वनस्पति इस कदर अनुभूति-प्रवण है कि छूते ही मुरझाने लगती है। कवि ने समर्पण संबंधी उक्त कविता में लिखा था कि "मेरी इस लज्जावती लता के प्राणों में अपने तड़ित स्पर्श से हर्ष उत्पन्न करो और उसकी लज्जा-जनित नीरव व्याकुलता को दूर करो।"

यत्र विश्वं भवत्येक नीड़म्

इस बात का उल्लेख पहले ही किया जा चुका है कि कवि के पिता महर्षि देवेन्द्रनाथ ठाकुर ने शांतिनिकेतन का आविष्कार कैसे किया था। यह भी बताया जा चुका है कि कवि ने पहले पहल ग्यारह वर्ष की अवस्था में, यज्ञोपवीत संस्कार के ठीक बाद ही, शांतिनिकेतन के दर्शन किये थे। उन्हें भी अपने पिता की ही तरह प्रथम दृष्टि में ही वहाँ का रुक्ष, किंतु गंभीर और एकांत वातावरण बहुत आकर्षक लगा था।

२२ दिसंबर, १८९१ को महर्षि ने शांतिनिकेतन के मन्दिर या मठ की स्थापना की। उस अवसर पर कलकत्ते से बहुत से गण्यमान्य लोग वहाँ इकट्ठा हुए थे। रवीन्द्रनाथ ने उसके संगीत संबंधी कार्यक्रम में भाग लेकर श्रोताओं को मुग्ध किया था। मन्दिर-प्रतिष्ठा के चार वर्ष पूर्व देवेन्द्रनाथ ने शांतिनिकेतन की जमीन, मकान आदि सब-कुछ 'ट्रस्ट-डीड' द्वारा सर्व-साधारण के लिए उत्सर्ग कर दिया और साथ ही संस्था संबंधी व्यय के लिए अपनी जमींदारी का एक अंश दान कर दिया। उस 'देवत्र' की आय से शांतिनिकेतन की अतिथि-सेवा, ब्रह्मोपासना, उत्सव आदि का खर्चा चलाया जाता था। 'ट्रस्ट-डीड' के अनुसार वहाँ किसी प्रकार की मूर्ति, प्रतिमा या प्रतीक की पूजा नहीं हो सकती। किसी भी धर्म की निन्दा, मद्य-मत्स्य-मांस आदि का सेवन और दुर्नीतिमूलक आमोद-प्रमोद एकदम निषिद्ध ठहराये गये। जब शांतिनिकेतन में मन्दिर की प्रतिष्ठा हुई थी तब रवीन्द्रनाथ की कल्पना में भी यह बात नहीं आ पायी थी कि एक दिन यह संस्था उनके जीवन की धर्म और कर्म-साधना का प्रमुख केन्द्र बन जायगी।

१९०० में कवि ने अपने अंतर की किसी निगूढ़ प्रेरणा से प्रभावित हो कर शांतिनिकेतन में जाकर बसने का निश्चय कर लिया। पिता की आज्ञा लेकर उन्होंने वहाँ एक छोटे से विद्यालय की स्थापना कर डाली। प्रारंभ

में केवल चार विद्यार्थी पढ़ने आते थे। कुछ मित्रों और आत्मीय जनों के सहयोग और अपनी लगन तथा अध्यवसाय के फलस्वरूप वह धीरे-धीरे छात्रों की संख्या बढ़ाते चले जाने में सफल हुए।

तब तक रवीन्द्रनाथ ने बंगाल की जिस प्रकृति से प्रेरणा पायी थी वह नदियों से हरी-भरी, सरस और सुकोमल थी। पर शांतिनिकेतन के वातावरण में प्रकृति का कुछ दूसरा ही रूप सामने आता था। वह जैसे रुद्र का रुक्ष, भीषण और निर्मम रूप था। बंगाल की औसत गर्मी की तुलना में वहाँ की गर्मी अधिक प्रखर थी। दीर्घ-विस्तृत शाल-वनों और कटीली झाड़ियों से हो कर तूफानी हवा, कभी उत्कट गर्मी, कभी प्रचंड वृष्टि और कभी तीखी सर्दी के झकोर मन और प्राणों में एक अपूर्व ताजगी भर देते थे। रवीन्द्रनाथ की प्रकृति का जो एक दूसरा महत्त्वपूर्ण पहलू था वह मुक्त प्रकृति के इस उद्दाम और उच्छृंखल रूप की ओर तीव्रता से आकर्षित हो उठा।

कुछ ही वर्षों बाद प्रायः सौ छात्र उस विद्यालय में पढ़ने लगे। कवि स्वयं बहुत परिश्रम करके और सहयोगियों से सलाह करके, विभिन्न प्रयोगों द्वारा अनुभव प्राप्त करते हुए पढ़ाई का ढंग और पाठ्य-क्रम निर्धारित करते थे और पाठ्य-पुस्तकें भी स्वयं ही तैयार करते और करवाते थे। तत्कालीन विद्यालयों की शिक्षा-पद्धति कवि के मत से एकदम गलत थी। उसका उद्देश्य कवि के मन से, छात्रों को मनुष्य बनाना उतना नहीं था जितना रटन्त विद्या में पारंगत सुग्गा बनाना। वह स्वयं अपने बचपन के अनुभव से यह बात अच्छी तरह समझ चुके थे कि पढ़ाई की वह पद्धति कभी ठीक नहीं हो सकती जो बच्चों को आनंद देने के बजाय उन्हें रुलाती और उन्हें स्कूल से भगने की प्रेरणा देती है। इसलिए उन्होंने संस्कृत और अँगरेजी भाषाओं को सिखाने का नया ढंग निकाल कर स्वयं बच्चों के लिए उन विषयों की पुस्तकें लिखीं।

कवि का झुकाव शिक्षा-संबंधी प्राचीन भारतीय पद्धति की ओर अधिक था। इसलिए उन्होंने शिक्षा के प्राचीन आश्रमों की तरह ही, खुले

मैदान में, पेड़ों के नीचे छात्रों को पढ़ाने का नियम बना दिया—वर्षाकाल को छोड़ कर। प्रारंभ में उन्होंने संस्था का नाम भी ब्रह्मचर्याश्रम रखा था। यदि कोई चंचल छात्र पेड़ के ऊपर बैठ कर पढ़ना पसद करता तो उसे मना न किया जाता। शिक्षा के माध्यम से प्राचीन भारत के सांस्कृतिक और आध्यात्मिक गौरव के पुनरुद्धार द्वारा नये वातावरण के साथ उसके सामजस्य की ओर कवि विशेष प्रयत्नशील थे। उसी आध्यात्मिक पृष्ठभूमि पर नयी शिक्षा फूले और फले, यही उनकी आन्तरिक कामना थी। उनके मन में यह धारणा जमी हुई थी कि सदियों से हर दृष्टि से दलित और पीड़ित भारत का उद्धार केवल राजनीतिक जागरण द्वारा ही नहीं होगा; आध्यात्मिक क्षेत्र ही युगों से भारतीय प्रतिभा के विकास का प्रमुख क्षेत्र रहा है और इसी दिशा में वह विश्व के आगे अपना मस्तक ऊँचा कर सकता है। इसलिए पाश्चात्य भौतिक और वैज्ञानिक प्रगति के महत्त्वपूर्ण पहलुओं की तनिक भी उपेक्षा न करते हुए वह इस देश के प्राचीन सांस्कृतिक तत्त्वों के नये विकास पर विशेष जोर देने लगे। महर्षि द्वारा स्थापित मंदिर में प्रति सप्ताह दो बार प्रार्थना होती थी। प्रार्थना का संचालन वह स्वयं करते थे। उनकी अनुपस्थिति में किसी अध्यापक को यह काम सौंपा जाता था। प्रातः और संध्या को एक निश्चित समय ध्यान के लिए निर्धारित था। कोई छात्र ध्यान करने या न करने के लिए स्वतंत्र था, पर उस अवसर पर उसे हर हालत में शांत बैठे रहना पड़ता था। छात्रों के साथ अध्यापकों का सबध गुरु-शिष्य का उतना नहीं रहता था जितना पारस्परिक मैत्री का। छात्रों को शारीरिक दंड देना एकदम निषिद्ध था।

जीवन को यथार्थता से परिचित होने के कारण कवि भली भाँति जानते थे कि केवल प्राचीन भारतीय पद्धति को अपनाने से ही काम नहीं चलेगा। इसलिए पाश्चात्य शिक्षा-पद्धतियों की अच्छाइयों को अपनाने के लिए भी वह बराबर सचेष्ट रहते थे। वह चाहते थे कि सभी छात्र स्वतंत्रता, आत्म-निर्भरता, चारित्रिक दृढ़ता आदि गुणों को विकसित करते हुए आध्यात्मिक बुद्धि के साथ यथार्थ बुद्धि को भी अपनाते चले जायँ, जिससे जीवन-संग्राम

के किसी भी क्षेत्र में वे किसी से पीछे न रहें। इस उद्देश्य से उन्होंने कई पाश्चात्य पद्धतियों की परीक्षा की। इस संबंध में अमेरिका की जार्ज जूनियर रिपब्लिक की तत्कालीन पद्धति उन्हें पसंद आयी। उसी के अनुसार उन्होंने शांतिनिकेतन को स्वशासित प्रजातंत्र का-सा रूप दे दिया। छात्रों की प्रमुख आवश्यकताओं के सभी साधन स्वयं उन्हीं के प्रयत्नों द्वारा जुटाये गये। डेयरी फार्म, पोस्ट आफिस, अस्पताल, आवश्यक वस्तुओं के कारखाने सब स्वयं छात्रों द्वारा ही चलाये जाने लगे। कुछ समय बाद एक प्रेस भी खोला गया, जिसमें शांतिनिकेतन की पुस्तकें छपने लगीं। धीरे-धीरे औद्योगिक शिक्षा के लिए भी प्रबंध किया जाने लगा। गृह-शिल्प संबंधी विविध उद्योग स्थापित किये जाने लगे। एक पुस्तकालय की स्थापना की गयी, जिसमें प्रतिवर्ष नयी-नयी, महत्वपूर्ण और विविध-विषयक पुस्तकें संगृहीत होती चली गयीं। बाद में जब कवि की यूरोपीय ख्याति की वृद्धि के साथ-साथ शान्तिनिकेतन की ख्याति भी फैलती चली गयी, तब विभिन्न देशों से विभिन्न भाषाओं की महत्त्वपूर्ण पुस्तकें वहाँ के पुस्तकालय को भेजी जाने लगीं। फलस्वरूप वह देश का प्रमुख पुस्तकालय बन गया। अवनीन्द्रनाथ ठाकुर के प्रधान शिष्य नंदलाल वसु की अध्यक्षता में एक अत्यंत महत्त्वपूर्ण कला-केन्द्र की भी स्थापना हुई।

लड़कों का विद्यालय जम जाने पर कवि ने लड़कियों का भी विद्यालय खोल दिया और शीघ्र ही सहशिक्षा का भी प्रचलन कर दिया। लड़कियाँ खेल-कूद, नृत्य, संगीत, अभिनय आदि में मुख्य रूप से भाग लेने लगीं। महर्षि के आदि-ब्राह्मसमाज ने जाति-भेद की पुरानी प्रथा को किसी-न-किसी रूप में कायम रखा था। पर रवीन्द्रनाथ प्रारंभ ही से इस प्रथा के घोर विरोधी थे—यद्यपि अपने इस विरोध को उन्होंने अपने पिता के आगे कभी खुल कर प्रकट नहीं किया। इस संबंध में महर्षि के विचार इतने दृढ़ थे कि इस विषय को लेकर प्रियतम शिष्य केशवचंद्र सेन तक से उनका संबंध-विच्छेद हो गया था। पर रवीन्द्रनाथ जब शांतिनिकेतन में जम गये तब उन्होंने वर्ण-वैषम्य को दूर करने के प्रयत्नों में कोई बात उठा नहीं रखी।

शांतिनिकेतन से लड़के गाँवों में जाते थे और वहाँ किसानों, मजदूरों और निम्नश्रेणी के लोगों के लिए रात्रिकालीन पाठशालाएं खोल कर उन्हें नियमित रूप से शिक्षा देते थे। इससे जीवन के विकास की प्रारंभिक स्थिति में ही छात्रों के मन से वर्ण-वैषम्य और वर्गभेद संबंधी मनोवृत्ति अपने-आप दूर होती चली जाती थी। इन सब बातों से यह प्रमाणित होता है कि भाव-लोक में निवास करने वाले कवि के भीतर यथार्थ बुद्धि भी किस हद तक विकसित थी।

१९१४ में कवि ने श्रीनिकेतन नाम से एक कृषि-विद्यालय की स्थापना की, जो शांतिनिकेतन से ही संबद्ध था। प्रारंभ ही से वह आसपास के किसानों को भी अपनी विशाल योजना के अंतर्गत लाने के लिए अत्यंत उत्सुक थे। इसी उद्देश्य से वह शांतिनिकेतन के छात्रों को गाँवों में जाकर शिक्षा देने के लिए भेजा करते थे। बाद में जब श्रीनिकेतन की स्थापना हो गयी तब दूसरे विषयों की शिक्षा के साथ ही किसानों को वैज्ञानिक विधि से अन्नोत्पादन की शिक्षा विशेष रूप से दी जाने लगी। पहले तो किसानों को संदेह होने लगा कि कहीं यह जमींदार की कोई चालबाजी न हो। पर जब उन्होंने हर तरह से परख लिया कि जमींदार के व्यक्तिगत स्वार्थ के लिए नहीं बल्कि स्वयं उनके और सब के सामूहिक हित के लिए ही वह योजना आगे बढ़ायी गयी है तब उन्होंने खुलकर सहयोग देना आरंभ कर दिया। उसी कृषि-विद्यालय के अन्तर्गत एक प्रयोगात्मक सामूहिक फार्म भी खोला गया। पशु-पालन तथा दूसरे सामूहिक उद्योगों की शिक्षा भी उस विद्यालय में दी जाने लगी।

कवि की अटूट लगन के फलस्वरूप धीरे-धीरे विद्यालय हर क्षेत्र में उन्नति करता चला गया। आरंभ में जहाँ आठ-दस छात्रों को भी जुटा सकना कठिन हो रहा था वहाँ एक दिन यह समस्या खड़ी हो गयी कि इतने अधिक छात्रों को रखने की समुचित व्यवस्था कैसे की जाय। एक अत्यंत साधारण पाठशाला १९२१ में सच्चे अर्थों में विश्वभारती में परिणत हो गयी। संसार के हर क्षेत्र से अपने-अपने विषयों के एक से एक बढ़कर

ख्याति-प्राप्त विद्वान अध्यापक और ज्ञान-पिपासु विद्यार्थी महान् साहित्यकार और अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिक नेता अध्ययन, अध्यापन और दर्शन के लिए शांतिनिकेतन आने लगे।

प्रारंभ में योग्य अध्यापकों को जुटाने की समस्या कवि के लिए बड़ी ही परेशानी की चीज हो उठी थी। प्रारंभिक अध्यापकों में प्रसिद्ध ज्योतिष-विज्ञानी जगदानंद राय, शिवधन विद्यार्णब और ब्रह्मबांधव उपाध्याय का नाम उल्लेखनीय है, जो विद्वान्, योग्य और लगनवाले व्यक्ति थे। ब्रह्मबांधव उपाध्याय ब्रह्मचर्याश्रम के व्यवस्थापक भी थे। पर राजनीतिक क्षेत्र में उनके विचार घोर क्रांतिकारी थे। फल यह हुआ कि शीघ्र ही एक दिन ऐसा आया जब उन्हें अध्यापक की अपेक्षा क्रांति की आग में कूद पड़ना राष्ट्रीय हित की दृष्टि से अधिक आवश्यक महसूस हुआ। विकट व्यावहारिक कठिनाइयों के बावजूद कवि ने हार नहीं मानी। दीर्घकालीन धैर्य के परिणाम-स्वरूप कवि को योग्य—बल्कि योग्यतम—व्यक्तियों को शांतिनिकेतन के चुंबकीय क्षेत्र की ओर खींचने में सफलता मिलती गयी। ऐसे-ऐसे त्यागी विद्वान् कवि का आह्वान सुनकर आते गये जिन्होंने वेतन के प्रश्न को कभी कोई महत्त्व नहीं दिया और राष्ट्रीय गौरव की वृद्धि तथा बाधा-बंधनहीन निःस्वार्थ और शुद्ध ज्ञान-प्रचार ही जिनके जीवन का प्रमुख व्रत रहा। इन अध्यापकों में नंदलाल वसु, विधुशेखर भट्टाचार्य, क्षितीन्द्रमोहन सेन, क्षितीशचन्द्र मजूमदार आदि प्रमुख हैं। धीरे-धीरे कवि ने अपने विशाल व्यक्तित्व के केन्द्र के चारों ओर एक ऐसा तपोनिष्ठ वातावरण उत्पन्न कर दिया जिसने उस घोर अंधकारपूर्ण युग में केवल इसी देश को प्रकाश-पथ नहीं दिखाया, वरन् जो समग्र विश्व का प्रमुख सांस्कृतिक आलोक-स्तंभ बन गया।

संसार की विभिन्न भाषाओं को पढ़ाने के लिए विभिन्न देशों के योग्य अध्यापकों की कोई कमी शांतिनिकेतन में नहीं रही; पर हिंदी वहाँ संतवाणी की चर्चा के बावजूद बहुत दिनों तक उपेक्षित ही पड़ी रही। अंत में १९३९ में कुछ हिंदी प्रेमियों के सहयोग और कवि की आंतरिक इच्छा

से वहाँ हिंदी भवन की स्थापना हुई जिसके माध्यम से हिंदी का अध्ययन और अध्यापन और हिंदी साहित्य-संबंधी गवेषणा-कार्य आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी आदि विद्वान्, योग्य और अधिकारी व्यक्तियों की देख-रेख में नियमित रूप से चलने लगा।

शांतिनिकेतन संसार में अपने ढंग की अकेली संस्था रही है। प्राच्य और पाश्चात्य संस्कृतियों के सभी सुंदरतम और कल्याणकारी तत्त्वों के उन्नयन और एकीकरण द्वारा एक ऐसी विकसित, विराट और व्यापक संस्कृति के उद्भावन का महास्वप्न कवि ने देखा था जो आज के युग की असंख्य भ्रमजालों में उलझी हुई, मरणोन्मुखी मानवता और मानवीय सभ्यता को सामूहिक विनाश-पथ से खींचकर, उसे सुन्दर, सामंजस्यपूर्ण, समन्वयात्मक और सर्जनात्मक दिशाओं की ओर मोड़ने में समर्थ हो सके। उनका वह महास्वप्न किस सीमा तक सफल और चरितार्थ हो पाया इसका ठीक ठीक लेखा-जोखा कर सकना आज संभव नहीं है। पर इस बात को कवि का कट्टर से कट्टर शत्रु भी अस्वीकार नहीं कर सकता कि शांतिनिकेतन को विश्व-संस्कृति की एक महान् शक्ति का केन्द्र बनाने के प्रयत्नों में कवि ने कोई बात उठा नहीं रखी।

यह सर्वविदित और स्वयं-प्रकाशित सत्य है कि कवि की आत्मा को शांतिनिकेतन की प्रशांत कर्मभूमि में बड़ी शांति प्राप्त हुई। कवि ने वहां अपनी कर्मयोगात्मक साधना द्वारा उस महान् आध्यात्मिक सत्य की उपलब्धि की जिसकी ओर उनके प्राण जीवन के प्रारंभ ही से जाने में या अनजाने में उन्मुख थे। वहाँ उनके संघर्षमय जीवन की बिखरी हुई कड़ियाँ "शांतं शिवं अद्वैतम्" के महासूत्र में जुड़कर एक अपूर्व पूर्णता को प्राप्त हो गयीं। यहीं उन्होंने उन अनुपम सुंदर, अध्यात्म-रसपूर्ण, मांगलिक कविताओं की रचना की जिनकी ख्याति कुछ समय बाद सारे संसार में फैल गयी। 'नैवेद्य', 'खेया', 'गीतांजलि' आदि संग्रहों की कविताएँ इसी कोटि की हैं। शांतिनिकेतन का वातावरण कवि की प्रकृति के लिए पूर्णतया अनुकूल सिद्ध हुआ। अटूट शांति के साथ अविरत कर्म-प्रवाह का सामंजस्य—

इससे अधिक आत्मिक आनंद उन्हें अन्य किसी भी स्थिति में प्राप्त नहीं हो सकता था। उनकी सर्जनात्मिका प्रतिभा इस वातावरण में सौ-सौ उच्छ्वासों में, नित नये रूपों में फूटती चली गयी।

पर शांतिनिकेतन से संबंधित कवि के अनुभवों का एक दूसरा पहलू भी है, जिसके बिना वास्तविकता पर पूरा प्रकाश नहीं पड़ सकता। उनकी आर्थिक स्थिति कभी इस हद तक नहीं सँभल पायी कि वह शांतिनिकेतन और श्रीनिकेतन से संबंधित अपनी सारी योजनाओं को इच्छानुसार फैला कर कार्यान्वित कर पाते। अपना सर्वस्व उस प्राणों से भी प्रिय संस्था को दान करने पर भी वह उसे आर्थिक अभाव की दयनीय स्थिति से कभी मुक्त नहीं कर पाये। देश के धनियों और सेठों ने कोई विशेष महत्त्वपूर्ण आर्थिक सहायता शान्तिनिकेतन को प्रदान नहीं की। कवि स्वयं अपने उद्योग से जो-कुछ पाते थे वह सब संस्था को दे देते थे। १९१३ में नोबेल पुरस्कार के रूप में जो रकम उन्हें प्राप्त हुई उसे भी उन्होंने विश्वभारती को दान कर दिया। बाद में अपनी रचनाओं के विदेशी अनुवादों से रायल्टी के रूप में वह जो-कुछ भी पाते थे वह सब शांतिनिकेतन के कभी न भरने वाले उदर में चला जाता था। विश्वव्यापी ख्याति प्राप्त करने के बाद विभिन्न देशों में भ्रमण करके व्याख्यानों द्वारा जो रकमें उन्होंने प्राप्त कीं वे सब भी शांति-निकेतन को ही प्राण-प्रतिष्ठा में लगा दी गयीं। फिर भी अर्थाभाव ज्यों का त्यों बना रहा। इसका एक कारण यह था कि कवि धीरे-धीरे विश्वभारती के क्षेत्र को जिस ढंग से बढ़ाते चले जा रहे थे, उसके लिए अमित कोष की आवश्यकता थी, जिसकी पूर्ति कवि के छिटफुट प्रयत्नों द्वारा संभव नहीं थी। जब बढ़ते हुए वार्द्धक्य के कारण उनका स्वास्थ्य गिरता चला जा रहा था तब भी उन्हें संस्था की आर्थिक कमी की पूर्ति के लिए शांतिनिकेतन के नृत्य-गीत-विशारद कलाकारों और कलाकर्त्रियों को साथ लेकर देश के बड़े-बड़े शहरों में जाकर रंगमंच में नृत्य, अभिनय या संगीत-समारोह के लिए उतरना पड़ता था। शांतिनिकेतन ने जो सांस्कृतिक चेतना देश में जगायी थी और विश्व-संस्कृति के क्षेत्र में राष्ट्रीय गौरव को जिस हद तक

बढ़ाया था उससे सभी परिचित थे। यह बात किसी से छिपी नहीं रह गयी थी कि विदेशी शासन से पद-दलित और अवमानित राष्ट्र की मान-रक्षा में रवीन्द्रनाथ और उनकी संस्था का बहुत बड़ा हाथ रहा है। साथ ही यह भी सब देख रहे थे कि उस संस्था के आर्थिक संकट को दूर करने के हतारा प्रयत्न में वृद्धावस्था में भी कवि को लड़कियों को साथ लेकर देश-भर में घूमने और नाचने-गाने को बाध्य होना पड़ रहा है। फिर भी उस महान् राष्ट्रीय गौरव की महिमा से उज्ज्वल संस्था की सहायता के लिये न कोई कोटयधीश आगे बढ़े न धनिकों की कोई संस्था। कवि की अभिमानी प्रकृति इस संबंध में स्वयं किसी की चिरौरी करने और किसी के आगे हाथ पसारने के लिए सहज में राजी नहीं हो सकती थी। अपनी कई कविताओं और निबंधों में वह अपने इस निश्चित सिद्धांत की घोषणा कर चुके थे कि "भिक्षायां नैव नैवच।" पर जब स्थिति उत्तरोत्तर अधिकाधिक संकटपूर्ण होती चली गयी तब अंत में उन्होंने विवश हो कर महात्मा गांधी के आगे अपना हृदय मुक्त किया और सहायता के लिए प्रार्थना की। इतने दिनों तक गांधीजी को शांतिनिकेतन की आर्थिक स्थिति की वास्तविकता का पूरा ज्ञान नहीं था। जानकर उन्हें आंतरिक दुःख हुआ और उन्होंने यथासाध्य सहायता दिलायी। पर वह सहायता भी कवि की विशाल योजना को उनकी इच्छानुसार आगे बढ़ाने के लिए पर्याप्त सिद्ध न हुई।

जिस संस्था की उन्नति निजी योजनानुसार करने के प्रयत्नों में कवि को जीवन के अंतिम क्षण तक इतने कष्ट झेलने पड़े, इतनी अवमाननाएं सहनी पड़ीं, उनकी मृत्यु के बाद उनकी साधना का वह महान स्मारक युग की उपेक्षा के थपेड़ों से इस कदर सिमट और सिकुड़ गया है कि देखकर उसके सच्चे प्रेमियों को रुलाई आये बिना नहीं रह सकती। उसका रूप ही एकदम बदल गया है, ढाँचा ही दूसरा हो गया है। कवि ने अपनी जीवन व्यापी साधना और अनुभवों के बल पर उसकी उन्नति के पथ की जो एक निश्चित रूप-रेखा बनायी थी उसे आज इस तरह मिटा दिया गया है जैसे स्कूल के काले बोर्ड पर खड़िया से आँके गये नक्शे को एक झाड़न द्वारा साफ कर दिया

गया हो। साधारण विश्वविद्यालयों से कुछ भी अधिक विशेषता आज शांतिनिकेतन की विश्वभारती में नहीं पायी जा सकती। पिछली परंपरा के जो थोड़े से चिन्ह अवशिष्ट रह गये हैं वे भी अब जैसे जल्दी ही मिटना ही चाहते हैं। आज केवल वे पिछली स्मृतियां उत्तरायण* से लेकर दक्षिणायन तक शून्य में से टकराती हुई ठंडी साँसें भरती रहती हैं। यह ठीक है कि सरकार ने संस्था की सुरक्षा का भार अपने हाथों में ले लिया है। पर जो महान् आत्मा उसमें निरंतर प्राण फूंका करती थी वह आज नहीं है।

---

*शांतिनिकेतन में कवि के निवास का यही नाम था।

सांसारिक कष्ट और आध्यात्मिक विकास

शांतिनिकेतन में जमने पर कवि को मन के अनुकूल वातावरण और साधना के अनुकूल कर्म-प्रेरणा मिलने के कारण आत्मिक शांति अवश्य प्राप्त हुई, पर पारिवारिक और सांसारिक कष्टों ने वहां भी उनका पीछा न छोड़ा। दिसंबर १९०२ में उनकी पत्नी मृणालिनी देवी चल बसीं। १९०४ में उनकी द्वितीय पुत्री रेणुका क्षय रोग से पीड़ित हो गयी। उसे लेकर कवि हवा-बदली के लिए रायगढ़ गये, जो अल्मोड़े से २० मील की दूरी पर है। पहाड़ी हवा भी लड़की को बचा न सकी। १९०७ म उनके छोटे लड़के शमीन्द्रनाथ की मृत्यु हो गयी।

पत्नी की मृत्यु की स्मृति में कवि ने कई कविताएँ लिखीं, जो बाद में 'स्मरण' नाम से प्रकाशित हुईं। इस संग्रह का उल्लेख पहले किया जा चुका है। १९०४ में रायगढ़ में कवि का वात्सल्य शिशु-जीवन से संबंधित कई कविताओं के रूप में फूटकर बह निकला। बच्चों के भोले हृदय की रहस्यमयी आशाओं और आकांक्षाओं के चित्रण में कवि की आश्चर्यजनक निपुणता का परिचय इन कविताओं में मिलता है। ऐसे अवसर पर कवि की आत्मा शिशु-आत्मा के साथ मिलकर जैसे एक-रूप हो जाती थी।

१९०१ और १९०७ के बीच में कवि ने कई उपन्यास लिखे जिनमें 'चोखेरवाली' (जिसका अनुवाद हिन्दी में 'आँख की किरकिरी' के नाम से हुआ है) और 'गोरा' विशेष रूप से उल्लेख योग्य हैं। 'चोखेरवाली' में उस युग की सामाजिक पृष्ठभूमि में एक विधवा युवती की अन्तर्भावनाओं और अन्तर्द्वन्द्वों का चित्रण मनोवैज्ञानिक दृष्टि से किया गया है। आधुनिक बँगला साहित्य में मनोवैज्ञानिक उपन्यासों का सूत्रपात इसी उपन्यास से होता है। औपन्यासिक कला की दृष्टि से यह रचना रवीन्द्रनाथ के परवर्ती उपन्यासों की तुलना में अपेक्षाकृत कम महत्त्वपूर्ण है। 'गोरा' धारावाहिक

रूप से 'प्रवासी' में छपा था। इसकी पृष्ठभूमि बड़ी व्यापक है। गोरा १८५७ के गदर में निहत एक आयरिश दंपति के अनाथ शिशु के रूप में एक कट्टर बंगाली परिवार में आश्रय पाता है। उस परिवार की गृहिणी आनंदमयी कट्टर हिन्दू नारी होने पर भी सच्ची माता है और गोरा को अपनी ही संतान की तरह पालती है, पर उसके पति, जो अपनी युवावस्था में उदार विचारों के थे, परवर्ती जीवन में कट्टर धार्मिक हिंदू बन जाते हैं। गोरा की शिक्षा-दीक्षा बचपन से ही हिन्दू विधि से ही होती है और वह अपने पोषक माता-पिता को ही अपने जन्मदाता के रूप में जानता और मानता आता है। उसकी विदेशी आत्मा को हिन्दू धर्म की युग-युगव्यापी सप्राणता प्रबल रूप से आकर्षित करती है। अपने छात्र-जीवन में वह हिन्दू धर्म की कट्टरता का जबर्दस्त समर्थक बन जाता है और हिन्दू-धर्म-विरोधी कट्टर ब्राह्मों से उसकी कतई नहीं पटती। उनके साथ वह समय-समय पर घोर तर्क-युद्ध करता रहता है। एक ब्राह्म परिवार से उसका परिचय हो जाता है और उस परिवार की एक लड़की उसे प्रबल वेग से अपनी ओर खींचती है। वह लड़की भी उसकी ओर आकर्षित होती है। वहां भी वह हिन्दू धर्म की कट्टरता के समर्थन में गरम बहस करता है। पर उस परिवार की गृहिणी कट्टर ब्राह्म हैं और गोरा के विचार उसे कतई पसंद नहीं आते। लड़की के भीतर बड़ा द्वंद्व मचने लगता है।

पर कट्टर हिंदुत्व गोरा के गहन और स्वस्थ व्यक्तित्व का केवल बाहरी चोला है। उसके भीतर मानव-प्रेम कूट-कूटकर भरा है और मानवत्व के प्रति अन्याय को वह किसी भी हालत में सहन नहीं कर पाता--उसके विरोध के लिए वह शारीरिक बल का प्रयोग करने से भी नहीं चूकता। उसकी यह अन्याय-विरोधी मानवीय प्रवृत्ति उसकी चारित्रिक दृढ़ता के साथ मिलकर उसे ऐसे-ऐसे विकट सामाजिक और राष्ट्रीय चक्रों के बीच में घसीट ले जाती है, जिनके कारण उसे जेल जाना पड़ता है। उसके विचारों में परिवर्तन आने लगता है। अंत में जब एक दिन माता आनंदमयी उसे उसके जन्म का इतिहास सुना देती है तब उसकी आँखें अच्छी तरह खुल जाती

हैं और वह सांप्रदायिकता और संकीर्ण राष्ट्रीयता से ऊपर उठकर महा-मानवीय आदर्शों की ओर उन्मुख हो उठता है।

इस उपन्यास में धार्मिक तथा राष्ट्रीय संकीर्णता के संबंध में रवीन्द्रनाथ के विचार स्पष्ट रूप से सामने आते हैं। उन्होंने इसमें न कट्टर हिन्दुओं को छोड़ा है न कट्टर ब्राह्मों को। उनके महान् मानवीय आदर्श भी इसमें स्पष्टतया परिस्फुट हो उठे हैं। औपन्यासिक गठन और चरित्र-चित्रण की दृष्टि से भी 'गोरा' 'घरे-बाइरे' को छोड़कर कवि के अन्य सभी उपन्यासों से (जिनकी संख्या काफी है) बहुत आगे बढा हुआ है। संसार के सर्वश्रेष्ठ उपन्यासों में यह निर्विवाद रूप से प्रमुख स्थान अधिकार करने योग्य है।

'नैवेद्य' की कविताओं की रचना यद्यपि पहले ही आरंभ हो चुकी थी, पर उनका प्रकाशन हुआ शांतिनिकेतन में जमने के बाद ही। नैवेद्य की चतुर्दशपदी कविताएँ सरलता और सहज भावाभिव्यक्ति में 'चैतालि' की कविताओं से तुलनीय हैं। पर 'नैवेद्य' की सरलता के भीतर काव्यात्मक आनंद-रस के साथ जिस ज्ञान-गांभीर्य का अपूर्व सम्मिश्रण हुआ है वह 'चैतालि' युग से बहुत आगे बढ़ा हुआ है और कवि की उदात्ततम मानसिक स्थिति का परिचायक है। इन कविताओं में उदात्त ज्ञान ही जैसे भक्ति के माध्यम से काव्य-रस में परिणत होकर मुक्तधाराओं में उच्छ्वसित हो उठा है।

इसी बीच 'उत्सर्ग' नाम से कवि का एक और काव्य-संग्रह प्रकाशित हुआ। 'उत्सर्ग' की कविताओं की उत्पत्ति एक विशेष कारण से हुई। १९०३ में शांतिनिकेतन के तत्कालीन अध्यापक मोहितचंद्र सेन ने कवि की तब तक प्रकाशित कविताओं का संकलन एक बृहत् काव्य-ग्रंथ के रूप में किया। यह संकलन रचना-क्रम के हिसाब से नहीं, भाव-साम्य की दृष्टि से किया गया। कवि ने इस ग्रंथ के प्रत्येक खंड की भूमिका के रूप में एक-एक नयी कविता लिख कर जोड़ दी। उन सब नयी कविताओं का संकलन 'उत्सर्ग' के रूप में हुआ।

'खेया' की कविताएँ भी इन्हीं दिनों प्रकाशित हुईं। इस संग्रह में कवि

की रहस्यवादिनी भाव-धारा 'नैवेद्य' की अपेक्षा और अधिक सुस्पष्ट रूप से उभर कर और अधिक रसमय बनकर सामने आयी। इसमें ज्ञान-रस की अपेक्षा भक्ति-रस अधिक है। और वह भक्ति-रस सुन्दर सुन्दर रोमान्टिक रूपकों के रूप में व्यक्त हुआ है। उदाहरण के लिये, कबीर का "राम मेरा पीउ मैं राम को बहुरिया" या "दुलहिन गाओ मंगलचार तेरे घर आये राम भतार" वाला रूपक 'खेया' को कई कविताओं में नयी-नयी शैलियों में नये-नये भावों के सामंजस्य के साथ लिया गया है :

आभार गोधूलि लगन एलो बुझि काछे
गोधूलि लगन रे!
विवाहेर रङ्ग राङ्गा होये आसे।
सोनार गगन रे!

"लगता है जैसे मेरे विवाह का गोधूलि-लग्न निकट आ गया है। सारा सोने का आकाश विवाह के रंग से रंगीन हो उठा है।"

एक दूसरी कविता में बालिका वधू कहती है :

"और मेरे वर! और मेरे प्रियतम! यह नवीना, बुद्धिहीना बालिका तुम्हारी वधू है। तुम्हारे उदार प्रासाद में यह अकेली दिन-भर कितने ही खेल खेलती रहती है। तुम जब इसके निकट आती हो तब यह समझती है कि तुम केवल इसके खेल के साथी हो।

"यह सजना सँवरना नहीं जानती। उसका बिखरा हुआ केश-वेश जब एकाकार हो जाता है तब उसे तनिक भी लाज का अनुभव नहीं होता। दिन में सौ बार मिट्टी से घरौंदे बनाती है और तोड़ती है। ऐसा करती हुई वह मन में समझती है कि वह अपनी गिरस्ती का काम कर रही है।

"तुम संभवतः इस सत्य को जान गये हो कि एक दिन इसके सारे खेल तुम्हारे श्री चरणों में समाप्त हो जायेंगे। तब यह बड़े यत्न से तुम्हारे लिए अपने को सँवारेगी। तब यह तुम्हें क्षण-भर भी न देखने पर उस क्षण को सौ युगों की तरह मानती हुई रात में खिड़की के पास बैठी हुई जगती रहेगी।"

इस रूपक में परमात्मा के संबंध में जीवात्मा का अज्ञान और ज्ञान होने पर सहज आकुलता का चित्रण सहज सुंदर शैली में और बोलचाल की भाषा में किया गया है।

'खेया' के बाद, १९०७ में, कवि ने 'डाकघर' नाम से एक सुंदर प्रतीकात्मक नाटक लिखा। इस नाटक की प्रेरणा कवि को एक डाकिये से मिली जो गाँव-गाँव में चिट्ठी बाँटता जाता था और बीच-बीच में एक गीत गाता जाता था जिसका भाव इस प्रकार है : "मैं घर-घर जाकर चिट्ठियाँ बाँटता हूँ, पर अपनी चिट्ठी कब आवेगी ?"

जिस रहस्यमय लोक की चिट्ठी का संकेत इस सरल ग्राम-गीत में है उसके भीतर निहित मार्मिकता कवि के अनुभूतिशील अंतर को छू गयी। उन्होंने डाकघर से संबंधित प्रतिदिन के सहज जीवन का रूपक बड़े ही स्वाभाविक रूप में बिठाकर यह दिखाया है कि किस प्रकार एक बीमार लड़का प्रतिदिन राजा के लिए चिट्ठियाँ लिखकर न जाने कहाँ डालता जाता है और प्रतिदिन उत्तर की प्रतीक्षा में रहता है। अंत में एक दिन आधी रात में राजा के दर्शन उसे हो जाते हैं। रोग-शोक, दुःख-दैन्य से पीड़ित मानवात्मा की अनंत से मिलने की आकुलता इस बीमार लड़के की मनोभावना के भीतर से व्यक्त की गयी है और राजा तो अनंत का प्रतीक है ही। बाद में जब रवीन्द्रनाथ की ख्याति विश्व-साहित्य क्षेत्र में फैल गयी तब इस नाटक को अनुवादित रूप में पढ़ कर पाश्चात्य साहित्यालोचकगण बहुत प्रभावित हुए थे और यह लंदन, बर्लिन, पेरिस आदि स्थानों में प्रतिष्ठित थियेटरों में खेला और बहुत पसंद किया गया था।

'डाकघर' के बाद ही उस आध्यात्मिक भाव-वेदना की मनःस्थिति में कवि ने 'गीतांजलि' की कविताएँ लिखीं। वह प्रतिदिन कविताएँ लिखते जाते थे और उन्हें छिपाकर रखते जाते थे। न उन्हें छपाना चाहते थे न पढ़कर किसी को सुनाने की प्रवृत्ति उन्हें होती थी। यह नयी बात थी। इसके पहले वह अपनी लिखी किसी भी चीज को तत्काल छपाने और सुनाने के लिए उत्सुक रहते थे। इसका कारण कवि ने बाद में स्वयं यह बताया था

कि आलोचकगण उन नयी कविताओं की सरलता को उनकी पिछली कविताओं की गंभीर कलात्मक शैली की तुलना में बच्चों का खेल समझेंगे। पर उस समय वह अपने आकुल अंतर को केवल उस तथाकथित 'खेल' द्वारा ही प्रबोध दे सकते थे। इसलिए यह कहना अनुचित न होगा कि 'गीतांजलि' की कविताएँ किसी हद तक 'स्वांतः सुखाय' ही लिखी गयी थीं। पर साथ ही कवि यह भी जानते थे कि वे कविताएँ प्रकाशित हो कर रहेंगी। उनके छपने पर तत्कालीन बँगला साहित्य-क्षेत्र में उनका बहुत साधारण स्वागत हुआ। पर इस बार कवि को न तनिक आश्चर्य हुआ न निराशा। वह उसी ढंग की आध्यात्मिक और भक्ति-रस-भरी कविताएँ लिखते चले गये। उन दिनों वह अक्सर चाँदनी रात में बहुत देर तक शांतिनिकेतन के आम्र-कुंजों में टहलते हुए अंतर के रहस्यमय भावलोक में डूबे रहते थे।

वह युग कवि की जन्मजात आध्यात्मिक अनुभूति के चरम विकास का युग था। कविताओं, नाटकों, विविध निबंधों और भाषणों द्वारा विभिन्न रूपों से वह उसी अनुभूति को अभिव्यक्त कर रहे थे। 'शारदोत्सव', 'प्रायश्चित्त', 'राजा', 'डाकघर' आदि नाटक इसी युग में लिखे गये। 'जीवनस्मृति' भी कवि ने इन्हीं दिनों लिखी।

विश्व-मानवता के बीच में

१९११ में कवि की मनःस्थिति में एक नया परिवर्तन दिखायी दिया। शांतिनिकेतन के एकांत वास की एकरसता ने उन्हें विश्व-मानवता के कोलाहल के बीच में फिर से कूद पड़ने के लिए प्रेरित किया। वह कुछ समय के लिए कलकत्ता गये और वहां से यूरोप-भ्रमण की तैयारी करने लगे। पर इस बीच एक कारण ऐसा उपस्थित हो गया जिससे उनकी यात्रा कुछ समय के लिए टल गयी। तब कवि अपने जीवन का पचासवाँ वर्ष पूरा कर चुके थे। बंगीय साहित्य-परिषद् ने, जिसके साथ कवि का पुराना संबंध था, उनकी जयंती मनाने का निश्चय किया। जयंती बड़े समारोह से कलकत्ते के टाउन हाल में २८ जनवरी, १९१२ को मनायी गयी। जनता अपने प्रिय कवि के अभिनंदन के लिए बहुत उत्साहित हो उठी थी। पर साहित्य-समाज में तब तक रवीन्द्र-विद्वेषियों की संख्या ही अधिक थी। साहित्य-परिषद् के पूरे प्रयत्नों के बावजूद एक विशिष्ट दल का विद्वेष और विरोध वैसा ही बना रहा।

जयंती समारोह के ठीक बाद ही कवि विदेश-यात्रा के लिए तैयार हो गये। पर दुर्भाग्य से ठीक उसी दिन वह बीमार पड़ गये जिस दिन उन्हें जहाज पर सवार होना था। डाक्टरों ने एक महीने तक उन्हें चलने-फिरने की एकदम मनाही कर दी। वैसे उनका स्वास्थ्य पिछले दो वर्षों से ठीक नहीं रहता था और वह बहुत दिनों से वायु-परिवर्तन की सोच रहे थे। यूरोप यात्रा का एक उद्देश्य यह भी था।

डाक्टरों की सलाह मानकर कवि ने एक मास तक 'पूर्ण विश्राम' करने का निश्चय कर लिया। पर यह आराम उन्हें कलकत्ते में नहीं मिल सकता था। इसलिए वह शिलाइदह चले गये।

पर 'पूर्ण विश्राम' का निश्चय करने पर भी वह लिखना-पढ़ना नहीं

छोड़ सकते थे। उन्होंने अपने शरीर और मन के ऊपर केवल इतनी ही कृपा की कि कोई मौलिक चीज न लिख कर केवल 'मनोविनोद' के लिए 'गीतांजलि' की कविताओं का अँगरेजी अनुवाद करना आरंभ कर दिया। इसके पहले कवि के कई मित्रों, हितैषियों और प्रशंसकों ने कई बार उन्हें यह सुझाया था कि वह अपनी कविताओं का अनुवाद अँगरेजी में करें। 'प्रवासी' और 'माडर्न रिव्यू' के तत्कालीन संपादक स्वर्गीय रामानंद चट्टोपाध्याय ने जब एक बार इस संबंध में विशेष आग्रह किया तब उत्तर के रूप में कवि ने, परिहास की मनःस्थिति में, अपनी एक कविता की दो पंक्तियां सुना दीं, जो इस प्रकार हैं :

विदाय दियेछि जारे नयन-जले
एखन फिराबो तारे किसेर छले !

"जिसे मैं अपने आँसुओं के जल से विदा कर चुका हूँ, अब फिर उसे किस छल से लौटाऊँ ?"

स्पष्ट ही उनका यह परिहासात्मक इंगित अपने छात्र जीवन के कष्टकर अनुभवों की ओर था, जब उन्हें दूसरों की इच्छा के अनुसार अँगरेजी भाषा और साहित्य का अध्ययन करना पड़ता था, न कि अपने मन की स्वतंत्र प्रवृत्ति के अनुसार। वह यह बताना चाहते थे कि अँगरेजी भाषा में लिखने का अभ्यास वह छात्र-जीवन के बाद छोड़ चुके हैं।

शिलाइदह के एकांत में, शारीरिक अस्वस्थता के बीच में, सहसा उनकी अवचेतना में दबा हुआ अँगरेजी भाषा और अँगरेजी काव्यात्मक शैली का गहन ज्ञान परिपूर्ण शिल्प-चातुर्य के साथ उभर उठा। इस बात से कोई यह समझने की भूल न करे कि तब तक कवि अँगरेजी में लिखते, पढ़ते या बोलते नहीं थे। शांतिनिकेतन में जमने के पूर्व उन्होंने अपने बच्चों तक के लिए घर ही पर एक अँगरेजी अध्यापक रखा था, इस बात का उल्लेख पहले किया जा चुका है। पर तब तक अँगरेजी में अपनी किसी रचना का अनुवाद करने की प्रवृत्ति उनमें नहीं जग पाती थी। इसका एक कारण निश्चय ही

यह था कि उनके मन में एक विदेशी भाषा में भावों की मौलिकता की पूरी रक्षा कर सकने के संबंध में अपनी क्षमता के प्रति अकारण संशय का भाव बना हुआ था। साथ ही तब तक वह अपने मन में यह भी निश्चय नहीं कर पाते थे कि पद्य का अनुवाद पद्य ही में करना चाहिए या गद्य में। पद्य में करने में उनके शंकालु मन के आगे कई कल्पित या वास्तविक कठिनाइयां खड़ी हो रही थीं और गद्य में पद्य का अनुवाद सुधी जनों को—विश्व-साहित्य के पारखियों को—जँचेगा या नहीं, इस संबंध में भी उनका मन संदिग्ध था।

पर इस बार शिलाइदह में सहसा—जैसे किसी दैवी माया से—इस संबंध में उनके मन के सारे अवरोध हट गये और उन्होंने पूरी रसमग्नता के साथ एक-एक करके कई कविताओं का अनुवाद अँगरेजी गद्य में कर डाला। वह गद्य उनकी चमत्कारी प्रतिभा के जादू से निकला था। उसके द्वारा उन्होंने अँगरेजी भाषा में जैसे एक पूर्णतः नयी शैली का ही उद्भावन कर दिया। पर तब वह स्वयं ऐसा नहीं समझते थे और अपने अनुवाद को बच्चों का सा खेल समझकर उससे मन-ही-मन बहुत असंतुष्ट थे।

डाक्टर द्वारा निर्धारित समय तक आराम करके वह इंगलैण्ड के लिए रवाना हो गये। जहाज में भी वह अनुवाद करते चले गये। वहाँ पहुँचने पर उन्होंने वह अनुवाद विख्यात चित्रकार रादेनस्टाइन को दिखाया। अनुवाद करने से लेकर इंगलैण्ड में सुधी जनों में उसकी प्रतिक्रिया तक का सारा इतिहास बहुत ही रोचक है। इसलिए पहले स्वयं कवि के शब्दों में ही उसका वर्णन नीचे दिया जाता है :

"शिलाइदह में केवल समय बिताने के उद्देश्य से मैंने अपने बँगला गीतों का अनुवाद अँगरेजी में करना आरंभ कर दिया। वे गीत मुझे प्रिय थे और मैं दुबारा उनका रस स्वयं लेना चाहता था। मेरे मन में यह निश्चित धारणा जमी हुई थी कि वे अनुवाद किसी स्कूली छात्र के अनुवाद से अधिक महत्त्व नहीं रखते। मैंने उन्हें अजित (अजितकुमार चक्रवर्ती) को दिखाया, अजित ने कहा कि वे सुन्दर हैं। जब मैं लंदन के लिए रवाना हुआ तब जहाज में भी मैं अनुवाद करता चला गया। लंदन पहुँचकर मैं एक होटल में ठहरा।

वहाँ मुझे बड़ी निराशा हुई। प्रत्येक व्यक्ति मुझे छायात्मा की तरह लगता था। सुबह के नाश्ते के बाद होटल एकदम खाली-सा हो जाया करता था और मैं अकेला बैठा-बैठा उदास भाव से बाहर भीड़ से भरी सड़कों पर लोगों का आना-जाना देखता रहता। मैं अकेला घबरा उठा था और देश को वापस लौटने की सोचने लगा था। उस मनःस्थिति में मेरे लिये यह संभव नहीं था कि उस अपरिचित विदेशी जनता को ठीक से समझ पाता और उस अपरिचित स्थान के हृदय-केन्द्र में प्रविष्ट हो पाता। उसके बाद सहसा मुझे याद आया कि रोदेनस्टाइन लंदन ही में हैं। मैंने सोचा कि उनके संपर्क में आने का प्रयत्न क्यों न किया जाय। जब एक बार वह कलकत्ते आये थे तब अवनीन्द्रनाथ से मिले थे। वहीं मैंने उन्हें देखा था। पर तब किसी ने उन्हें यह नहीं बताया था कि मैं कवि हूँ। वह केवल इतना ही जानते थे कि मैं ठाकुर-परिवार का एक व्यक्ति हूँ। मैंने टेलीफोन डाइरेक्टरी में उनका नंबर देखा और फोन द्वारा उनके साथ बातें कीं। वह तुरंत मेरे पास आ पहुँचे और उनके प्रयत्न से एक अपेक्षाकृत अच्छी जगह मेरे ठहरने का प्रबंध हो गया। वह जगह उनके पड़ोस में ही थी। वह अक्सर मुझसे मिलने आते रहते थे। उसके बाद एक दिन बात ही बात में उन्होंने कहा : 'मैंने सुना है कि आप कवि हैं। क्या आप अपनी कविता के संबंध में कुछ आभास मुझे दे सकते हैं?' मैंने उन्हें बताया कि मेरे पास अपनी कुछ कविताओं के गद्यानुवाद रखे हैं, पर मेरी धारणा है कि अनुवाद की अँगरेजी अच्छी नहीं बन पड़ी है। उसने अनुवादों को देखना चाहा। वह अपने साथ ले गये। दो-एक दिन बाद वह अत्यंत उत्सुक भाव से मेरे पास आकर बोले कि वे अनुवाद अत्यंत आश्चर्यजनक रूप से सुन्दर हैं और ऐसी चीज इसके पहले उन्होंने कभी पढ़ी नहीं। मैंने सोचा कि वह केवल चित्र-कार हैं और साहित्य की बारीकियों को समझने में असमर्थ हैं, इसीलिए इस तरह की बात कह रहे हैं। उन्होंने मेरे मुख की मुद्रा देखकर भाँप लिया कि मुझे उनकी बात पर विश्वास नहीं होता। उन्होंने उन अनुवादों को टाइप कराया और कवि ईट्स, स्टापफोर्ड ब्रुक और ब्रेडले को उनकी कापियाँ

भेजीं। ब्रेडले ने उत्तर में लिखा कि उन्होंने इस बात की आशा नहीं की थी कि उन्हें एक वास्तविक कवि की चीजें पढ़ने को मिलेंगी। ईट्स और स्टापफोर्ड भी बहुत प्रभावित हुए। रादेनस्टाइन ने अपने यहां एक गोष्ठी का प्रबंध किया। उस गोष्ठी में ईट्स ने कई व्यक्तियों के बीच मेरी अनुवादित कविताएँ पढ़ीं। श्रोताओं में मिस मे सिंक्लेयर और नेविन्सन भी उपस्थित थे। वहीं मैं पहली बार एन्ड्रूज से मिला। ईट्स ने बहुत ही छोटी-छोटी कविताएँ चुन कर पढ़ीं। मुझे लगा कि यह मेरे साथ अन्याय हो रहा है। मैंने सोचा कि इन छोटी कविताओं का क्या प्रभाव श्रोताओं पर पड़ सकता है? वे उनके मन के ऊपरी स्तर को छूकर निकल जायेंगी। अँगरेज लोग अपने मन के भाव का अधिक प्रदर्शन करना पसंद नहीं करते, इसलिए मैं उस समय कुछ भी अनुमान न लगा सका कि उनके मन में मेरी कविताएँ सुनकर क्या प्रतिक्रिया हुई। मैं मन-ही-मन ईट्स से नाराज हो रहा था। पर दूसरे ही दिन मिस सिंक्लेयर तथा दूसरे व्यक्तियों के पत्र मेरे पास पहुँचे। यह जानकर कि उन लोगों पर मेरी कविताओं का कैसा गहरा प्रभाव पड़ा है, मेरे आश्चर्य का ठिकाना न रहा। बाद में धीरे-धीरे मेरे मन में यह विश्वास जम सका कि उन लोगों ने जो प्रशंसा की है वह केवल शिष्टाचारवश नहीं की है, बल्कि अपने हृदय की सच्ची अनुभूति प्रकट की है।"

इस प्रकार एक दिन अकस्मात् अप्रत्याशित रूप से रवीन्द्रनाथ पाश्चात्य सुधी समाज के बीच में ख्यात हो उठे। उक्त गोष्ठी के बाद इंडिया सोसाइटी ने एक और गोष्ठी का आयोजन कवि के सम्मान में किया। उस गोष्ठी में ईट्स, एच० जी० वेल्स, मे सिंक्लेयर, नेमिन्सन, हेवेल, रादेनस्टाइन आदि विख्यात कवि, उपन्यासकार, कलाकार और साहित्यालोचक उपस्थित थे। गोष्ठी ईट्स के सभापतित्व में हुई थी। ईट्स ने अपने भाषण में जो बातें कहीं वे अत्यंत महत्त्वपूर्ण हैं और उनकी आश्चर्यजनक रसज्ञता का परिचय देती हैं। उन्होंने कहा :

"एक शिल्पी के जीवन में वह दिन सब से अधिक महत्व का होता है

जब वह एक ऐसी प्रतिभा का आविष्कार करता है जिसके अस्तित्व का कोई ज्ञान उसे पहले नहीं था। मेरे काव्य-जीवन में भी आज इसी तरह की एक महान घटना घटी है, जब कि श्री रवीन्द्रनाथ ठाकुर को अभिनन्दित करने का भार मुझे सौंपा गया है। पिछले कुछ वर्षों में लिखे गये उनके प्रायः १०० गीतों के अनुवाद की पांडुलिपि मैं आजकल अपने साथ लिये फिर रहा हूँ। मैं किसी भी ऐसे सम-सामयिक अँगरेज कवि से परिचित नहीं हूँ जिनकी रचनाएँ इन अनुवादित कविताओं की तुलना में ठहर सकें। अँगरेजी गद्य में अनुवादित इन कविताओं को पढ़कर मुझे लगता है कि क्या शैली, क्या रूप-गठन और क्या भाव—सभी दृष्टियों से ये अतुलनीय हैं। सैकड़ों वर्ष पूर्व यूरोप इस शैली से किसी हद तक परिचित था। मैंने जब बहुत सोचा कि हमारे पाश्चात्य साहित्य में ऐसा कौन ग्रन्थ हो सकता है जिससे इन अनुवादित कविताओं की तुलना की जा सकती है तब मुझे टामस ए० केम्पिस की 'ईसा का अनुकरण' नामक रचना की याद आयी। इन दोनों में किसी हद तक समानता अवश्य है, फिर भी दोनों के दृष्टिकोणों में आकाश-पाताल का अंतर है। टामस ए० केम्पिस पाप की चिंता से किस हद तक पीड़ित है, यह सोचकर मन आतंकित हो उठता है। पर जिस कवि का परिचय मैं आज आप लोगों को दे रहा हूँ उसका बच्चे की तरह निष्पाप और जीवन के सहज आनंद से उल्लसित हृदय पाप के संबंध में तनिक भी चिंतित नहीं है। टामस ए० केम्पिस की रचना में प्रकृति के प्रति प्रेम के लिए कोई स्थान नहीं है, उनके कठोर धार्मिक हृदय को इस प्रकार का प्रेम कभी छू नहीं सकता था। किन्तु रवीन्द्रनाथ प्रकृति के सच्चे प्रेमी हैं। उनके अंतर की गहराई से उमड़ा हुआ आध्यात्मिक प्रेम प्रकृति-प्रेम के साथ सहज रूप में घुल-मिलकर जैसे एकाकार हो गया है।

इसके बाद ईट्स ने कवि द्वारा गद्य में अनुवादित तीन कविताओं का पाठ किया। उनमें से दो कविताएँ 'नैवेद्य' की थीं और एक 'गीतांजलि' की। ईट्स के बाद और दो-एक व्यक्ति बोले। उनके बाद स्वयं कवि उठे। उन्होंने कहा :

"आज की संध्या में आप लोगों ने जो सम्मान मुझे दिया है उसके लिये उपयुक्त धन्यवाद के शब्द मैं उस भाषा में खोज नहीं पाता हूँ जिसमें मुझे बोलना पड़ रहा है, पर जिससे मैं जन्म से परिचित नहीं हूँ। मेरी अपनी भाषा अत्यंत ईर्ष्यापरायण गृहिणी की तरह प्रारंभ ही से मेरी समस्त सेवाओं का दावा अकेले अपने ही लिये करती चली आ रही है और अपने राज्य में किसी भी प्रतिद्वन्द्वी के अनधिकार-प्रवेश को तनिक भी प्रश्रय उसने कभी नहीं दिया। आप लोगों के बीच में आने पर एक अत्यंत महत्त्वपूर्ण तथ्य से मैं परिचित हुआ हूँ—वह यह कि हम लोगों की भाषाएँ और आचार-व्यवहार यद्यपि भिन्न हैं तथापि हम सब का हृदय एक है। यह ठीक है कि 'पूर्व पूर्व ही और पश्चिम पश्चिम', और ईश्वर न करे कि कभी इसके विपरीत हो, तथापि ये दोनों परस्पर मिल सकते हैं—पारस्परिक सौहार्द के सूत्र में दोनों को एक दिन मिलना ही होगा। दोनों में प्रभेद होने के कारण ही इन दोनों का मिलन और अधिक सफल होगा। विश्व-मानव की समान वेदिका के सम्मुख दोनों एक दिन पवित्र विवाह-बंधन में संयुक्त होकर रहेंगे।"

दूसरे दिन से कवि के पास श्रद्धापूर्ण पत्र आने लगे। एक स्त्री-कवि ने लिखा : "जिस दिन पहली बार मैंने बाइबिल का कुछ अंश पढ़ा था उस दिन जो आनंदानुभूति मन में जगी थी वो उसके बाद फिर कल ही जगी जब आपकी कुछ अनुवादित कविताएँ सुनीं।"

एक दूसरे सज्जन ने लिखा : "ईसाई रहस्यवाद इन्द्रियग्राह्य उपमाओं से पूर्ण है। वह सूक्ष्म अनुभूति द्वारा जगत के मायावरण को भेदकर सत्य को सुस्पष्ट नहीं देख पाया है। उसकी यह अपूर्णता मुझे कभी तृप्ति न दे सकी। जो परिपूर्ण तृप्ति मैं चाहता हूँ वह कल रात आपकी कविताओं से मुझे प्राप्त हुई।"

एक तीसरे साहित्य-रसिक ने अपने मित्र को लिखा : "कवि की कविताओं के गद्यानुवादों में मैं एक ऐसा तत्त्व पाता हूँ जैसा संसार के किसी भी सम-सामयिक कवि की कविता में नहीं पाया जाता। इस कवि को जिसने देखा

है वही इनसे प्रेम करने लगा है। इनकी काव्य-प्रतिभा का आभास पाकर इनके प्रति यहाँ के लोगों के मन में प्रगाढ़ श्रद्धा का भाव उत्पन्न हो गया है।"

इंगलैंड के विभिन्न पत्रों में कवि के व्यक्तित्व और कविता की असाधारण प्रशंसा छपने लगी। 'मैनचेस्टर गार्जियन' ने लिखा: "भारत के श्रेष्ठ कवि और नाटककार रवीन्द्रनाथ के आगमन से इस देश में जो रुझान, संभ्रम, कुतूहल और प्रशंसा के भाव उमड़ उठे हैं वैसा इस युग में किसी भी प्राच्य अतिथि के संबंध में कभी नहीं देखा गया।"

'डेली न्यूज' ने लिखा: "कवि के गीतों को सस्वर पढ़ने पर ऐसा अनुभव होने लगता है जैसे हम आध्यात्मिक पुलक-कोर की ओर बहे चले जा रहे हों।"

इंडिया सोसाइटी ने ईट्स के संपादन में कवि के अनुवादित गीतों का एक संग्रह 'गीतांजलि' नाम से छपाया। उसमें बँगला 'गीतांजलि', 'खेया', 'नैवेद्य', 'उत्सर्ग' आदि से चुनी हुई कविताओं का अनुवाद संग्रहीत था। वह संस्करण केवल सोसायटी के सदस्यों के लिये था और केवल ७५० कापियाँ छापी गयी थीं। ईट्स ने उसकी सुन्दर भूमिका लिख दी थी। उस संस्करण के छपते ही साहित्य-समाज में तहलका मच गया। पाश्चात्य साहित्य-मर्मज्ञों को प्राच्य साहित्य की प्रगति के संबंध में एकदम नया ज्ञान हुआ और उन लोगों की आँखें जैसे खुल गयीं। चारों ओर उनका स्वागत होने लगा। शीघ्र ही अमेरिका तथा दूसरे देशों में कवि की ख्याति जैसे बिजली के वेग से फैल गयी।

कुछ दिन कवि इंगलैंड के देहात में स्वास्थ्य-सुधार के उद्देश्य से जाकर रहे। उसके बाद वह अमेरिका चले गये। वहाँ शिकागो तथा हारवार्ड के विश्वविद्यालयों में उन्होंने भारतीय सभ्यता तथा संस्कृति पर कई भाषण दिये। नयी विश्व-संस्कृति के निर्माण में प्राचीन भारतीय आध्यात्मिक आदर्श किस प्रकार सहायक सिद्ध हो सकते हैं, इस बात पर प्रकाश डाला। साथ ही उन्होंने काले-गोरे के भेद और जातीय संघर्ष के संबंध में भी बड़ी तीखी बातें अमरीकी जनता को सुनायीं। युद्धोन्मुख राष्ट्रों की निन्द्य प्रतिद्वन्द्विता,

पारस्परिक ईर्ष्या और भय की प्रवृत्ति का तीव्र विरोध उन्होंने किया और परस्पर सहयोग तथा मैत्री की वाणी सुनायी।

हारवर्ड में दिये गये उनके कई भाषण बाद में 'साधना' नाम से पुस्तकाकार प्रकाशित हुए। अमेरिका में उनका सम्मान इंगलैंड से कुछ कम न हुआ। १९१३ के शरत्काल में कवि भारत लौट आये। इस बीच भारतीय पत्रों में उनकी वैदेशिक ख्याति की चर्चा काफी हो चुकी थी। जब वह बम्बई में जहाज से उतरे तब उन्होंने देखा कि कई लोग हाथों में मालाएँ लिये खड़े हैं। कवि ने समझा कि किसी अँगरेज पदाधिकारी के स्वागत के लिये वे लोग आये होंगे। पर बाद में पता चला कि वे मालाएँ उन्हीं के लिये थीं।

कवि के भारत लौटने के कुछ ही दिनों बाद, १३ नवंबर के दिन रायटर का यह समाचार भारत पहुँचा कि भारतीय कवि रवीन्द्रनाथ ठाकुर को उनकी गीतांजलि पर साहित्य-संबंधी नोबेल पुरस्कार प्रदान किया गया है। पराधीन देश के कवि को संसार का 'सर्वोच्च' साहित्यिक सम्मान प्राप्त हुआ है, इस सूचना से सारे देश में प्रसन्नता की लहर दौड़ गयी। कवि के पास दूर-दूर से बधाई के तार आने लगे। शांतिनिकेतन में बड़ा उत्सव मनाया गया और होलियां जलायी गयीं। कवि को यह सब प्रदर्शन अच्छा नहीं लग रहा था, पर छात्रों और अध्यापकों का उत्सव भंग करने में वह असमर्थ रहे। उनके मुंह से केवल ये शब्द निकले : "अब मैं जीवन में कभी शांति से नहीं रह पाऊँगा।"

कलकत्ते से प्रायः ५०० साहित्यकार, कला-मर्मज्ञ और पत्रकार कवि को अभिनंदित करने के उद्देश्य से शांतिनिकेतन पहुँचे। कवि का अभिमानी हृदय इस प्रदर्शन से आहत हो उठा। उन्होंने देखा कि स्पष्ट बातें कहने का यह सबसे अच्छा अवसर है। झूठे शिष्टाचार की ओट में सत्य को दबाना उन्होंने नहीं चाहा। उन्होंने आगत सज्जनों को लक्ष्य करके कहा : "आप लोगों में अधिकांश सज्जन ऐसे हैं जो मुझे सम्मान देने नहीं बल्कि एक विदेशी संस्था द्वारा दिये गये पुरस्कार के प्रति सम्मान प्रदर्शित करने

आये हैं। इतने दिनों तक आप लोग या तो मेरी रचनाओं की निन्दा करते रहे या उन्हें पढ़ने योग्य नहीं समझते रहे। आज कौन सी नयी बात हो गयी ? यही न कि मुझे नोबेल पुरस्कार प्राप्त हुआ है ? मैं आप लोगों से सत्य कहता हूँ कि यदि मेरे देशवासियों ने मेरी रचनाएँ पढ़कर उनसे आनंद पाकर मेरे प्रति स्नेह-भावना प्रकट की होती तो वह मेरे लिए कई गुना अधिक मूल्यवान होती। पर आप लोग विदेशी सम्मान से प्रभावित होकर मुझे अभिनंदित करने आये हैं, इसलिये इस अभिनंदन का कोई मूल्य मेरे लिये नहीं है।"

इस बात से बहुत लोग नाराज हो गये और फिर एक बार कवि के विरुद्ध विशेष बवंडर उठ खड़ा हुआ।

भारत के विभिन्न प्रांतों से प्रतिदिन कई पत्रकार कवि के पास आते थे, जिनसे यह पूछा जाता था कि "आपने नोबेल पुरस्कार कैसे प्राप्त किया ?" कइयों को यहाँ तक संदेह हुआ कि चूँकि रवीन्द्रनाथ धनी है, इसलिये रिश्वत में रुपया लुटाकर उन्होंने यह पुरस्कार पाया है। दक्षिण से कई सज्जन उनके पास अपनी कविताएँ (अँगरेजी में) भेजते थे और पूछते थे कि वे नोबेल पुरस्कार के उपयुक्त हैं या नहीं।

कलकत्ता विश्वविद्यालय भी इतने दिनों की उपेक्षा के बाद कवि को सम्मानित करने के लिए अधीर हो उठा। कुछ वर्ष पूर्व कवि के एक प्रशंसक ने जब कलकत्ता विश्वविद्यालय के आगे यह सुझाव रखा था कि उन्हें साहित्य के 'डाक्टर' की उपाधि प्रदान की जाय तब इस संक्षिप्त उत्तर के साथ उस प्रस्ताव को अस्वीकृत कर दिया गया था कि "रवीन्द्रनाथ बँगला भाषा के पंडित नहीं हैं।" एक दूसरे सज्जन ने जब एक बार यह सुझाया था कि रवीन्द्रनाथ को मेट्रिकुलेशन के लिये बँगला भाषा का परीक्षक नियुक्त किया जाय, तब कुछ पत्रों ने इस आधार पर इस प्रस्ताव का विरोध किया था कि कवि शुद्ध भाषा लिखना नहीं जानते। मेट्रिकुलेशन की बँगला भाषा संबंधी परीक्षा के कुछ प्रश्न-पत्रों में रवीन्द्रनाथ के गद्य से कुछ अंश उद्धृत करके परीक्षार्थी छात्रों से उसे 'शुद्ध बँगला भाषा' मे फिर से लिखने

के लिये कहा जाता था। जो कवि अपनी मातृभाषा को ही शुद्ध रूप में लिखना न जानता हो उसे कलकत्ता विश्वविद्यालय ने नोबेल पुरस्कार मिलने के एक ही मास बाद 'डाक्टर आफ लिटरेचर' (साहित्याचार्य) की उपाधि प्रदान करने के उपयुक्त मान लिया। देशवासियों का यह अंध मनोभाव देखकर कवि की अन्तर्ग्लानि और पीड़ा की सीमा नहीं थी।

१९१५ में उन्हें 'सर' की उपाधि प्रदान की गयी। इस 'सम्मान' से कवि ने अपने को कभी सम्मानित अनुभव नहीं किया, पर उस समय उसे अस्वीकार भी नहीं किया और उदासीन बने रहे। सी० एफ० एंड्रूज नोबेल पुरस्कार मिलने के पूर्व कवि की इंगलैंड यात्रा के समय में कवि के भक्त बन चुके थे। १९१५ से उनका संबंध शांतिनिकेतन से किसी न किसी रूप में बराबर—उनकी मृत्यु पर्यन्त—बना रहा। महात्मा गांधी से भी कवि की पहली भेंट १९१५ ही में हुई। ट्रांसवाल में फानिक्स स्कूल नाम से एक शिक्षा-संस्था गांधीजी ने खोली थी। जब वह भारत चले आये तब उस संस्था के छात्र और अध्यापक भी उन्हींके साथ चले आये। सी० एफ० एन्ड्रूज के सुझाव से कवि ने उन छात्रों और अध्यापकों को शांतिनिकेतन आने के लिये निमंत्रित किया। उन छात्रों से मिलने के लिये २२ फरवरी १९१५ को महात्मा गांधी भी शांतिनिकेतन पहुँचे। पर उस समय कवि कलकत्ता गये हुए थे। इधर गांधी जी भी गोखले की मृत्यु का संवाद पाकर पूना चले गये। कवि ने गांधीजी को फिर एक बार शांतिनिकेतन आने के लिए निमंत्रित किया। ६ मार्च को गांधीजी शांतिनिकेतन पहुँचे और १० मार्च तक रहे। गांधीजी के सुझाव से शांतिनिकेतन के छात्रों को स्वावलंबन की शिक्षा दी जाने लगी, जिसके अनुसार छात्रगण अपना सभी काम—रसोई के काम से लेकर पाखाने की सफाई तक—स्वयं ही कर सकें। यह नियम कुछ ही दिनों तक चल पाया। फिर भी वर्षों तक शांतिनिकेतन में १० मार्च को गांधी दिवस मनाया जाता रहा। उस दिन सभी रसोइयों, कहारों और भंगियों को छुट्टी दे दी जाती थी और छात्रगण उनका कुल काम स्वयं अपने हाथों से करते थे।

कोलाहल के बाद

१९१४ में 'गीतिमाल्य' और 'गीतालि' नाम से कवि के दो नये गीत-संग्रह प्रकाशित हुए। नोबेल पुरस्कार मिलने पर चारों ओर से शांति-प्रेमी कवि प्रशंसकों और अभिनन्दनकारियों के जिस कोलाहल से घिर गये थे, उसका प्रवाह जब कुछ थमा तब कवि ने लिखा :—

कोलाहल तो वारण होलो,
एबार कथा काने-काने,
एखन होबे प्राणेर आवाय
केवलमात्र गाने-गाने।

"कोलाहल तो अब दूर हो गया, अब कानोंकान बातें होंगी। अब प्राणों का आलाप बातों द्वारा नहीं बल्कि गीतों द्वारा होगा।"

इस प्रकार 'तुमुल कोलाहल-कलह' के बीच कवि हृदय की बातों के लिये फिर से लालायित हो उठे। 'गीतिमाल्य' और 'गीतालि' का मूल स्वर 'गीतांजलि' के गीतों से विशेष भिन्न नहीं. केवल उनमें प्राणों के तारों की झंकार और अधिक सुस्पष्ट और तीव्र हो उठी है।

फाल्गुनी' नामक गीतिनाटक की रचना उक्त दो गीत-संग्रहों के ठीक बाद हुई। इस नाटक में पतझर के बाद आने वाले चिर-नवीन वसंत के रूपक को मृत्यु को बार-बार जीतनेवाले चिर-नवीन जीवन के साथ बिठाया गया है। पुरातन बार-बार नवीन की आत्मा को जीर्ण करके उसका दलन करने के प्रयत्नों में कोई बात उठा नहीं रखता। पर नूतन हर बार उसके सब-ग्रासी पंजों से मुक्त होकर जड़ जीवन में नया उल्लास बिखेरता रहता है। इसी सत्य की अभिव्यक्ति इस नाटक में हुई है। रवीन्द्रनाथ के अधिकांश नाटकों की तरह यह भी प्रतीकात्मक है। फुलझड़ियों के से गीतों की सुन्दर बहार इसमें पायी जाती है, पर नाटकीय रस का यथेष्ट अभाव है।

'फाल्गुनी' के बाद कवि के दो उपन्यास प्रकाशित हुए—'चतुरंग' और 'घरे-बाइरे'। 'चतुरंग' औपन्यासिक कला की दृष्टि से विशेष सफल सिद्ध न हो सका—भले ही विभिन्न पात्र-पात्रियों के मनोवैज्ञानिक चरित्र-चित्रण की दृष्टि से वह महत्वपूर्ण हो। उसके गठन में हम कोई केन्द्रीय योजना नहीं पाते। उसके प्रधान पात्र शचीश को हम प्रारंभ में घोर प्रगतिशील दृष्टिकोण रखनेवाले युवक के रूप में पाते हैं, जो अपने नास्तिक चाचा के शिष्यत्व में सामाजिक और धार्मिक अंधरूढ़ियों के विरुद्ध जहाद बोलता है। पर बाद में बिना किसी प्रकट कारण के वह लीलानंद स्वामी नाम के एक साधू की कीर्तन-मंडली में सम्मिलित होकर परिपूर्ण धार्मिक विश्वास के साथ नाचने गाने लगता है। यह कीर्तन-मंडली शिवतोष नामक एक धार्मिक व्यक्ति की संपत्ति की उत्तराधिकारिणी है। शिवतोष की विधवा पत्नी दामिनी—जो युवती है और सुन्दरी है—इसी कीर्तन-मंडली के आश्रित रहकर अपनी गुजर करने को बाध्य है। पर उसका हृदय उस कीर्तन मंडली के साथ तनिक भी नहीं है। वह शचीश के व्यक्तित्व पर मुग्ध है और मन ही मन उससे प्रेम करती है। जब एक दिन उसका प्रेम एकांत में ध्यानमग्न शचीश पर प्रकट हो जाता है तब शचीश उसे स्पष्ट शब्दों में बता देता है कि वह उसका साथ नहीं दे सकता। वह शचीश के विरुद्ध प्रतिहिंसा से प्रेरित होकर शचीश के साथी श्रीविलास को न चाहने पर भी उससे 'प्रेम' करने लगती है और उसीसे विवाह भी कर लेती है। पर शचीश फिर भी उसके मन का स्वामी बना रहता है। कुछ समय बाद उसकी मृत्यु हो जाती है। इस प्रकार शचीश के रहस्यमय चरित्र की रहस्यमयता और निरुद्देश्यता अंत तक ज्यों की त्यों बनी रह जाती है।

'घरे-बाइरे' वास्तव में कवि की प्रतिभा के अनुरूप बन पड़ा है। 'गोरा' के बाद यही एकमात्र ऐसा उपन्यास है जो संसार के सर्वश्रेष्ठ उपन्यास-कारों की श्रेणी में रवीन्द्रनाथ का स्थान निर्विवाद रूप से सुरक्षित बना देता है। इसका कथानक स्वदेशी आंदोलन के युग से संबंध रखने पर मानव-समाज की युग-युग की समस्याओं के सूत्र से जुड़ा हुआ है। उपन्यास की नायिका

विमला, जो विशेष रूपवती नहीं है, एक निर्धन परिवार में पली हुई लड़की है। उसका विवाह प्रतिष्ठित और धनी जमीन्दार परिवार के लड़के निखिलेश से होता है। कहानी आरंभ होने के समय निखिलेश जमीन्दारी का मालिक बन चुकता है। वह संयत-स्वभाव और साथ ही विचारशील युवक है। वह न्यायप्रिय है और सभी विषयों में उसकी संतुलित बुद्धि का परिचय मिलता है। विमला परंपरागत हिन्दू आदर्श के अनुसार अपने पति के प्रति विशेष भक्तिभाव रखती है। पर निखिलेश जानता है कि उसकी यह भक्ति आत्मबुद्धि-प्रेरित उतनी नहीं है जितनी समाज-इच्छित और संस्कार परिचालित। इसलिये वह चाहता है कि विमला शिक्षिता हो और घर के बाहर की दुनिया के संसर्ग में आये—तभी उसके पति-प्रेम की सच्ची परीक्षा हो सकेगी। विवाहित प्रेम समाज के दबाव का प्रेम है, जो केवल पारिवारिक संकीर्णता के भीतर ही अक्षुण्ण बना रह सकता है। जब बाहर के मुक्त संसार के पूर्ण परिचय के बाद भी यह सुदृढ़ बना रहे तभी उसकी सचाई प्रमाणित हो सकती है। इस दृष्टिकोण से प्रेरित होकर निखिलेश उसे घर के बाहर घसीट लाना चाहता है। पर विमला बराबर इस प्रस्ताव का विरोध करती जाती है।

स्वदेशी आन्दोलन की लहर जब पूरे जोरों पर होती है तब उस आन्दोलन का प्रमुख क्रांतिकारी युवक-नेता संदीप नवयुवकों द्वारा पूजा जाने लगता है। संदीप का आकर्षक व्यक्तित्व चुंबक की तरह अपरिपक्व-बुद्धि किंतु जोशीले नवयुवकों को अपनी ओर खींच लेता है। उसमें प्रतिभा है, तीव्र भावुकता है और है संशय-रहित बुद्धि। जिस कार्य को वह अपनी दृष्टि में उचित समझता है उसे पूरा करने में किसी प्रकार की नैतिक द्विविधा या वैयक्तिक कुंठा का शिकार वह कभी नहीं बनता। निखिलेश उसका मित्र है, जो धन द्वारा आंदोलन की और आंदोलनकारियों की सहायता करता रहता है। पर निखिलेश के स्वभाव में कुछ कमजोरियाँ हैं। संदीप और उसके गरम-पंथी युवक अनुयायियों की बहुत-सी बातों में मतभेद होने पर भी वह साफ-साफ शब्दों में उनका विरोध नहीं कर पाता।

एक बार निखिलेश के मकान के बाहरवाले अहाते में संदीप एक सभा का आयोजन करता है जिसमें स्वदेशी आन्दोलन से प्रभावित बहुत छात्रगण स्कूल-कालेजों का बहिष्कार करके सम्मिलित होते हैं। पर्दानशीन विमला उस दिन चिक की ओट से संदीप का प्रभावशाली भाषण सुनती है। देश-माता की पीड़ा को संदीप जिन जादू-भरे मार्मिक शब्दों में श्रोताओं के आगे उपस्थित करता है उन्हें सुनकर विमला का नारी-हृदय विचलित हो उठता है और साथ ही संदीप का आकर्षक व्यक्तित्व उसके मन पर गहरा प्रभाव छोड़ जाता है। एक बार कुतूहलवश चिक हटाकर बाहर झाँकती है और संदीप से उसकी आँखें लड़ जाती हैं।

इसके बाद वह निखिलेश से अनुरोध करती है कि वह संदीप को निमंत्रित करके भीतर ले आये। इतने दिनों तक निखिल विमला को पर्दे के बाहर करने में असमर्थ रहा। आज वह संदीप के आकर्षण से स्वतः पर्दा तोड़ने के लिये प्रेरित हो उठी। वह संदीप के संबंध में निखिल के द्वन्द्व को नहीं समझ सकती थी और निखिल भी अपने न्यायप्रिय स्वभाव के अनुसार उसकी इच्छा-स्वातंत्र्य में बाधा नहीं डाल सकता था। वह संदीप को बुला लाता है। तब से संदीप विमला के निकट संपर्क में आ जाता है और उसे नारी-हृदय के भीतर निहित अदम्य शक्ति का पाठ पढ़ाकर आंदोलन में घसीट लाना चाहता है। उसे इस प्रयत्न में काफी सफलता मिलती है।

निखिलेश देश के उद्धार के लिये संदीप से कुछ कम उत्सुक नहीं है, पर वह देशमाता की कथित मूर्ति को नहीं, बल्कि देश के वास्तविक प्राण को प्यार करता है। भावुकतापूर्ण नारों द्वारा सामूहिक सम्मोहन की स्थिति उत्पन्न करके, नवयुवकों में उत्तेजना फैलाकर जो लोग, संदीप की तरह, देश की अवास्तविक और कृत्रिम प्रतिमा के प्रति जनता का प्रेम उभाड़ना चाहते हैं उनसे उसका स्पष्ट मतभेद है। पर विमला संदीप द्वारा जगायी गयी भावुकता में बह जाती है और यथार्थवादी निखिलेश के संयत और संतुलित विचारों को उसकी कायरता मानती है। संदीप अपनी जादूभरी काव्यात्मक शब्दावली द्वारा विमला को आंदोलन की मूल प्रेरिका-शक्ति बन जाने के लिये उक-

साता है और उससे आंदोलन के लिये पचास हजार रुपये का प्रबंध करने के लिये कहता है —चाहे किसी भी उपाय से हो। विमला इतना रुपया जुटाने का वचन देती है, पर समझ नहीं पाती कि कैसे इतने रुपयों का प्रबंध किया जाय। एक दिन साहस करके वह निखिलेश की तिजोरी से छः हजार रुपया चुरा कर संदीप को दे देती है और अमूल्य नामक एक उत्साही नवयुवक को अपने कुल गहने सौंपती हुई उन्हें बेचकर रुपया ले आने को कहती है ताकि निखिलेश की तिजोरी से लिया गया रुपया भरा जा सके। अमूल्य संदीप द्वारा बरगलाया गया अपरिपक्व-बुद्धि किंतु लगन का पक्का नवयुवक है। वह उन गहनों को बेचकर रुपया नहीं लाता बल्कि उलटे निखिलेश की एक कोठी से छः हजार रुपया और लूट लाता है। विमला को वह बता देता है। उस सुकुमार और सहृदय नवयुवक को ऐसे दुस्साहस के कामों में फँसते देखकर विमला घबरा उठती है। वह माता की तरह उससे स्नेह करती है और उसके दिये हुए रुपयों को नहीं लेती। जब वह देखती है कि अमूल्य की एक जेब में पिस्तौल और दूसरी जेब में गीता है और वह 'देशमाता' के लिये अपने प्राणों की बलि देने के लिये, उसके 'उद्धार' के लिये किसी भी दुस्साहसिक काम से पीछे नहीं हटना चाहता तब वह आतंकित हो उठती है। वास्तविकता विमला की आँखों के आगे नाचने लगती है और वह अमूल्य को बचाने के लिये आतुर हो उठती है। उसे आदेश देती है कि वह उन रुपयों को जहाँ से निकाल लाया है वहीं रख आये। अमूल्य उसकी आज्ञा का पालन करने जाता है, पर गिरफ्तार होकर निखिलेश के पास आता है और उसे सब भेद बता देता है। सब कुछ जानने पर भी विमला फिर भावुकता में बहाव में बहकर अमूल्य द्वारा लौटाया गया गहनों का बक्स संदीप को सौंप देती है।

इधर सरकारी पक्ष द्वारा बहकाये गये मुसलमान स्वदेशी आंदोलन के विरोध में उत्तेजित हो उठते हैं और संदीप की हत्या करना चाहते हैं। संदीप भाग खड़ा होता है। विमला को उसकी कायरता का पता लग जाता है। वह अपनी भूल महसूस करती हुई निखिलेश से क्षमा मांगती है। निखि-

लेश को पता चलता है कि उत्तेजित मुसलमानों का एक दल स्वदेशी आंदोलन में आर्थिक सहायता पहुँचाने वाले पास के एक जमींदार की हत्या पर उतारू है। वह दंगाइयों को शांत करने के लिये चला जाता है। रात में विमला को यह समाचार मिलता है कि अमूल्य गोली लगने से मर गया है और निखिलेश को गहरी चोट आयी है।

उपन्यास को सामाजिक और राष्ट्रीय पृष्ठभूमि में सभी पात्रों के बाहरी और भीतरी द्वन्द्वों का चित्रण बड़ी ही बारीकी से किया गया है। वाह्य जीवन और अंतर्जीवन की गहन समस्याओं को एक साथ उठाकर अंत तक उनका निर्वाह कलात्मक कौशल के आश्चर्यजनक चमत्कार के साथ हुआ है। निखिलेश का चरित्र स्वयं कवि का चरित्र लगता है। कवि ने स्वयं स्वदेशी आन्दोलन का साथ आंतरिक लगन के साथ दिया था, पर तरुण नेताओं की जिस भावोत्तेजना की बाढ़ में वास्तविकता बहने लगी थी उससे कवि का विरोध था।

इस उपन्यास ने पाठकों के एक वर्ग को विशेष कर उत्साही तरुण प्राणों को कवि के विरुद्ध कर दिया, उसे दुर्नीतिमूलक और राष्ट्र-विरोधी करार दिया जाने लगा। इससे कवि को बड़ी पीड़ा पहुँची। पर अपने विचारों को छिपाकर उन्हें झूठे रंग में रंगने का स्वभाव उनका नहीं था, इसलिये सत्य की अग्नि-परीक्षा की प्रतीक्षा वह धैर्य से करते रहे।

वैसे यौवन के उद्दाम भावावेग को कवि ने कभी उपहास, व्यंग या उपेक्षा की दृष्टि से नहीं देखा, पर वह उस प्रचंड आदिम शक्ति को सच्चे अर्थों में कल्याणकारी, उपयुक्त प्रवाह-पथों की ओर नियोजित करने के पक्ष में थे। 'घरे-बाइरे' के बाद उनका 'बलाक' नामक काव्य-संग्रह निकला। उसकी पहली ही कविता में कवि ने पुरातन-ध्वंसी, सर्वजयी तरुण प्राणों को आहूत किया है:

ओरे नवीन, ओरे आभार काँचा,
ओरे सबुज, ओर अबूझ,
आध-मरादरे घा मेरे तुइ बाँचा।

रक्त आलोर मदे माताल भोरे
आजके जे जा बले बलूक तोरे,
सकल तर्क हेलाय तुच्छ कोरे
पुच्छटि तोर उच्चे तुले नाचा।
आय दुरन्त, आयरे आमार काँचा।

"ओ नवीन! ओ मेरे कच्चे! ओ अबूझ! तू अधमरे लोगों पर आघात करके उन्हें मरने से बचा। आज रक्त-आलोक के मद में मत्त इस भोर में तुझसे कोई कुछ भी कहे कहने दे, सब तर्कों की अवज्ञा करके उन्हें तुच्छ कर दे और अपने पुच्छ को ऊँचा करके नचा। आ जा मेरे हठीले! आ जा मेरे बच्चे!"

आगे चलकर कवि कहता है:

"शृंखला-देवी की यह जो पूजा-वेदी है, वह क्या चिरकाल इसी तरह खड़ी रहेगी? पागलपन! तू दरवाजा तोड़कर चला आ। तूफानी मस्ती, तू विजय-पताका फहराती हुई, अपने अट्टहास से आकाश को चीरती हुई, भोलानाथ की झोली झाड़कर चुनी हुई भूलों को बाहर निकाल ला! आ मेरे प्रमत्त! आ मेरे बच्चे!"

'बलाका' की अधिकांश कविताएँ इसी यौवनोद्दीप्त उद्दाम भावावेग से पूर्ण हैं। पर कवि इस तूफानी शक्ति को स्वस्थ दिशाओं की ओर मोड़ने के पक्ष में है, इस प्रमत्त भाव-प्रवाह में बह जाने के पक्ष में नहीं।

'बलाका' में कवि की काव्य-प्रतिभा विकास की चरम स्थिति को पहुँच गयी है। जीवन की बंधनहीन चिरन्तन गति का जो गीतस्वर उसमें ध्वनित हुआ है वह जैसे कवि की जीवनव्यापी साधना का जयगान है। ताजमहल से संबंधित कवि की सुप्रसिद्ध कविता 'शा-जाहान' इसी संग्रह में है, जिसमें उन्होंने ताजमहल की उपमा "काल के कपोलतल में शुभ्र-समुज्ज्वल एक बिंदु नयन-जल" और कालिदास के मेघदूत से की है। यह कविता भी जीवन की उसी बाधाहीन दुर्निवार गति का स्तवगान है, जो किसी महान से महान

सम्राट् द्वारा निर्मित स्मारक-स्तंभ या समाधि-मंदिर द्वारा भी नहीं बाँधी जा सकती :

समाधि मन्दिर

एक ठाँइ रहे चिर-स्थिर,
धरार धूलाय थाकि
स्मरणेर आवरणे मरणेरे यत्ने राखे ढाकि।
जीवनेरे के राखिते पारे?
आकाशेर प्रति तारा डाकिछे ताहारे।
तार निमंत्रण लोके-लोके
नव-नव पूर्वाचले आलोके-आलोके।
स्मरणेर ग्रन्थि टूटे
से जे जाय छूटे
विश्वपथे बंधन-विहीन।

"समाधि-मंदिर तो एक ही स्थान पर चिर-स्थिर होकर पृथ्वी की धूल में पड़ा रह जाता है और मृत्यु को स्मरण के आवरण में बड़े यत्न से ढके रहता है। मृत्यु को वह भले ही बाँध ले, पर जीवन को वह कैसे बाँध कर रख सकता है? उसे (जीवन को) आकाश का प्रत्येक तारा पुकारता रहता है; लोक-लोक से——नये-नये पूर्वाचल के आलोक-आलोक से——उसके लिए निमंत्रण आता रहता है। वह स्मृति की गाँठ को तोड़कर विश्व-पथ में बंधन-विहीन दौड़ा चला जाता है।"

इस प्रकार हम देखते हैं कि जीवन की जिस अनंत धारा का गीत कवि आजीवन अपनी विभिन्न कविताओं तथा अन्य रचनाओं में गाते चले आ रहे थे वह 'बलाका' में चरम परिणति को प्राप्त हो गया है।

विजय-यात्रा

उन दिनों एशियाई देशों में जापान ही एकमात्र ऐसा राष्ट्र था जो प्राच्य देशों की स्वाभाविक जड़ता, उदासीनता और वैराग्य-भावना से मुक्त होकर भौतिक उन्नति में पाश्चात्य देशों के कदम से कदम मिलाता चला जा रहा था। पर अपनी इस भौतिक उन्नति के दौरान में वह उस आध्यात्मिक अनुभूति से दूर होता चला जा रहा था जो सभी प्राच्य देशों की विशेषता रही है। एक पराधीन प्राच्य देश के निवासी होने के नाते रवीन्द्रनाथ प्रारंभ ही से जापान की भौतिक और राजनीतिक प्रगति में दिलचस्पी लेते चले आ रहे थे। पर भौतिक उन्नति से कोई विरोध न होने पर भी कवि देख रहे थे कि जापान दिन पर दिन आध्यात्मिक संतुलन खोता हुआ पश्चिम के शक्तिमत्त राष्ट्रों की तरह ही साम्राज्य-लोलुप होता चला जा रहा है। इसलिए वह अपनी आँखों से देखना चाहते थे कि जापान की इस एकांगीय प्रगति का कारण क्या है और उस प्रगति का ठीक-ठीक स्वरूप कैसा है। ३ मई, १९१६ को वह सी० एफ० एन्ड्रूज, पियर्सन तथा दूसरे व्यक्तियों को साथ लेकर जापान के लिए रवाना हो गये। प्रारंभ में वहाँ उनका बड़ा स्वागत हुआ। प्रसिद्ध कवि नागूची ने उनके स्वागत में एक कविता लिखी। सब लोग उत्साहित थे। पर बाद में जब उन्होंने टोकियो विश्वविद्यालय में भाषण देते हुए जापान की संकीर्ण राष्ट्रीयता का विरोध किया तब प्रायः सभी जापानी पत्र, लेखक, विचारक और राजनीतिज्ञ उनके विरुद्ध हो उठे और उन्हें 'गुलाम देश का कवि' कहकर उनका मजाक उड़ाने लगे। जापान-प्रवास-काल में कवि ने अपने विभिन्न भाषणों में पाश्चात्य देशों के संकुचित राष्ट्रवाद और साम्राज्यवाद का भी विशद विश्लेषण करके उसकी कड़ी आलोचना की थी। वे सब भाषण बाद में 'नेशनलिज्म' के नाम से प्रकाशित हुए थे। विश्व-विख्यात फ्रांसीसी

मनीषी उन भाषणों के उदार और निर्भीक दृष्टिकोण से बहुत प्रभावित हुए थे और उन्होंने उनकी बड़ी प्रशंसा की थी।

जापान से कवि अमेरिका गये और वहाँ उन्होंने अमरीकियों को उनके 'डालर-वाद' के लिए सुस्पष्ट शब्दों में तिरस्कृत किया। जापान और अमेरिका दोनों देशों को उन्होंने भारतीय मानवतावाद के महान आदर्श से परिचित कराया और 'वसुधैव कुटुम्बकम्' का महा-संदेश सुनाया। अमेरिका में उन्होंने जो भाषण दिये वे बाद में 'पर्सानेलिटी' नाम से पुस्तक-रूप में प्रकाशित हुए।

अमेरिका में कवि ने भारत में अँगरेजी शासन की ज्यादतियों के विरोध में भी जोरदार भाषण दिये, जिनसे भारत की तत्कालीन अँगरेज सरकार बहुत भड़क उठी। कवि पर यह आरोप लगाया गया कि उन्हें अमेरिका भ्रमण के लिए जर्मनी से आर्थिक सहायता प्राप्त हुई है और यह भी कि अमेरिका-स्थित भारतीय क्रांतिकारी दल से कवि का घनिष्ठ संपर्क है! 'घरे-बाइरे' में क्रांतिकारी दल के संबंध में कवि के सुस्पष्ट विचारों के बाद यह बदमाशी से भरा और मूर्खतापूर्ण आरोप उन्हें जानबूझकर परेशान करने के उद्देश्य से लगाया गया। चूँकि उन दिनों जर्मनी से मित्रराष्ट्रों की लड़ाई चल रही थी, इसलिए जर्मनी से आर्थिक सहायता लेने की बात भी गढ़कर समयानुकूल बनाकर कही गयी। पर कवि के पास इनके विरोध में निश्चित प्रमाण थे, इसलिए उन्हें अधिक परेशान न किया जा सका।

मई, १९१८ में कवि की बड़ी लड़की बेला का देहांत हो गया। छोटे और बड़े सभी दुःखों को भूलने के लिए कवि ने बोलचाल की भाषा में और सतुकांत गद्यात्मक पद्य में कुछ कहानियाँ लिखीं, जो 'पलातका' नाम से प्रकाशित हुईं। 'पलातका' की कहानियाँ बड़ी ही मार्मिक और चुटीली हैं। प्रतिदिन के कर्मचक्रमय जीवन के तुमुल संघर्ष के बीच में उपेक्षित मानव-हृदय किस प्रकार भीतर ही भीतर, निःशब्द भाव से पिसता चला जाता है, इस मर्मगत सत्य को कवि ने एक बिलकुल ही नयी शैली के माध्यम से, बड़ी ही सूक्ष्म निपुणता और गहरी संवेदनशीलता के साथ उभार कर रखा है।

१९१९ में भारत में ब्रिटिश राज का आतंक पूरे जोरों में छाया हुआ था। रालेट एक्ट नामक काले कानून द्वारा पराधीनता की बेड़ियों को चरम सीमा तक कसकर निरीह जनता को बुरी तरह जकड़ लिया गया था। उन्हीं दिनों अमृतसर के सुप्रसिद्ध जलियांवाला बाग में जनरल डायर ने निहत्थी जनता पर गोले बरसाकर जो अमानुषिक हत्याकांड मचाया और बचे हुए लोगों की जो घोर दुर्गति की उससे ब्रिटिश नीति की बर्बरता नग्न रूप में सामने आ गयी। सेंसर की कड़ाई के बावजूद स्थिति की वास्तविकता छिप न पायी। कवि की पीड़ित आत्मा शांत न रह सकी। उन्होंने तत्कालीन वायसराय लार्ड चेम्सफोर्ड को एक कड़ा पत्र लिखा जिसमें ब्रिटिश शासन की बर्बरता की तीव्र निन्दा बड़े ही कटीले शब्दों में करते हुए उन्होंने यह सूचित किया कि सम्राट् की ओर से उन्हें जो 'नाइट' ('सर') की उपाधि प्रदान की गयी थी उसे त्याग देने के लिए वह बाध्य हैं। इस पत्र में उस युग की आतंकित जनता की रुद्ध अन्तर्वाणी सौ-सौ उच्छ्वासों में उमड़ती हुई फुफकार उठी है। आज इस तरह की स्पष्टवादिता एक साधारण बात समझी जा सकती है। पर उस काले कानून के युग में, जब सरकार की निन्दा में एक साधारण सी बात कहने का भी अधिकार किसी को नहीं रह गया था, यह कितने बड़े साहस का काम था इसका ठीक-ठीक अनुमान लगा सकना आज आसान नहीं है।

१४ मई, १९२० को कवि फिर एक बार यूरोप-यात्रा को निकल पड़े। प्रथम महायुद्ध की विभीषिका के दुःस्वप्न से अभी तक यूरोपवासी ठीक से उबरने भी नहीं पाये थे। युद्ध-जनित प्रतिक्रिया के फलस्वरूप चारों ओर अव्यवस्था, अशांति और निराशा छायी हुई थी। ऐसी परिस्थिति में कवि के शांतिपूर्ण संदेश के लिए अत्यंत उपयुक्त वातावरण बना हुआ था।

लंदन पहुँच कर कवि जार्ज बर्नार्ड शा और सुप्रसिद्ध रूसी चित्रकार निकोलस रोरिक से मिले। ब्रिटिश साम्राज्यवादिता के संबंध में शा की स्पष्टोक्तियों से वह प्रभावित थे। शा स्वयं कवि से मिलने के लिये आगे बढ़े और बोले : "क्या आप मुझे जानते हैं ? मैं बर्नार्ड शा हूँ।" रोरिक ने

अपने चित्रों का एक अलबम कवि को दिखाया। कवि, उनकी कला के चमत्कार और उनके दार्शनिक तथा आध्यात्मिक दृष्टिकोण का भी बहुत अच्छा प्रभाव उन पर पड़ा। उसके बाद वह तत्कालीन भारत-सचिव मि० मांटेगू से मिले और भारतीय स्थिति को यथार्थता उन्हें समझाकर यह अनुरोध किया कि जनरल डायर के घोर अमानुषिक कृत्यों के लिए उसे उपयुक्त दंड दिया जाय। पर बाद में पंजाब हत्याकांड के संबंध में पार्लामेन्ट में जो बहस हुई उसे सुनकर वह समझ गये कि भारत और भारतीयों के संबंध मे ब्रिटिश सरकार के रुख में परिवर्तन की कोई आशा नहीं है। अँगरेज जाति की न्यायप्रियता के संबंध में जो थोड़ी सी आस्था तब तक उनके मन में शेष थी, इस बार वह भी जाती रही।

अगस्त में कवि पेरिस गये। वहाँ सुप्रसिद्ध दार्शनिक बर्गसाँ से मिल कर उन्हें बड़ी प्रसन्नता हुई। दोनों पहले ही से एक-दूसरे के विचारों से प्रभावित थे। प्रोफेसर सिल्वां लेवी से उनको पहली भेंट इसी बार पेरिस में हुई। बाद में प्रोफेसर लेवी शांतिनिकेतन चले आये थे। प्रसिद्ध कवयित्री कॉंनेस द नोएल से भी वह मिले। कवयित्री ने उन्हें बताया कि जिस दिन जर्मनी से युद्ध छिड़ जाने का समाचार (१९१४ में) उन्होंने सुना उस दिन वह फ्रांस के प्रधान मंत्री के साथ थीं। दोनों इस समाचार से अशांत थे। वह अशांति दोनों ने 'गीतांजलि' पढ़ कर दूर की। इनके अतिरिक्त फ्रांस के और भी कुछ कवियों और साहित्यकारों से भी कवि की भेंट हुई।

पेरिस से वह हालैण्ड, वहाँ से बेलजियम पहुँचे। सर्वत्र उनका अभूतपूर्व स्वागत हो रहा था। उनके व्यक्तित्व से और भाषणों से लोग इस कदर प्रभावित हो रहे थे कि उन्हें एक सच्चे मसीहा के रूप में देखने लगे थे। कोई उनके चरण छूता था, कोई आशीर्वाद मांगता था। बेलजियम से वह अमेरिका गये। अमेरिका में कुछ दिन रहकर वह फिर यूरोप लौट आये। लंदन से फिर पेरिस पहुँचे। इस बार रोमाँ रोलाँ से उनकी भेंट हुई। रोमाँ रोलाँ प्रारंभ ही से कवि के बहुत बड़े प्रशंसक बन गये थे। दोनों को एक-दूसरे से मिलकर हार्दिक प्रसन्नता हुई। पेरिस से वह स्विट्जरलैण्ड

गये। वहाँ जेनेवा में, जो सुप्रसिद्ध क्रांतिकारी, दार्शनिक और कलाकार जाँ जाक रूसो का जन्मस्थान है, रूसो के ही नाम से स्थापित एक सांस्कृतिक संस्था ने ३ मई को कवि का बड़ा स्वागत किया। ७ मई को कवि की ६१ वीं वर्षगाँठ थी। उस दिन वह स्विट्जरलैण्ड ही में भ्रमण कर रहे थे। चारों ओर से उनके पास बधाई के तार और पत्र आने लगे। जर्मन प्रजातंत्र की ओर से भी उन्हें बधाइयाँ और निमंत्रण मिले। जर्मन प्रजातंत्र ने इस अवसर पर उन्हें गेटे के युग से लेकर उस समय तक जर्मनी में प्रकाशित समस्त साहित्यिक, दार्शनिक और वैज्ञानिक पुस्तकों का बहुत बड़ा संग्रह भेंट किया।

प्रथम महायुद्ध से ध्वस्त जर्मनी में उनकी लोकप्रियता बहुत बढ़ गयी थी। केवल दो-तीन सप्ताह के भीतर उनके उपन्यास 'घरे-बाइरे' के जर्मन अनुवाद की लाखों कापियाँ बिक गयीं थीं। यह उपन्यास केवल जर्मनी में ही नहीं, यूरोप के सभी देशों में बहुत पसंद किया गया था। फ्रांस में भी उसकी लाखों कापियाँ बिक चुकी थीं।

स्विट्जरलैण्ड से कवि हामबूर्ग (जर्मनी) गये। वहाँ प्रिन्स ओटो बिसमार्क उन्हें मोटर में बिठा कर अपने यहाँ बड़े सम्मान से लिवा ले गये।

२० मई को वह डेनमार्क की राजधानी कोपेनहागन पहुँचे। वहाँ विश्वविद्यालय में उन्होंने भाषण दिया। भाषण समाप्त होने पर रात हो चुकी थी। छात्रों ने उपस्थित जनता में से प्रमुख व्यक्तियों को चुनकर एक वृत्ताकार घेरा बनाया जिसके बीच में कवि को खड़ा कर दिया गया। उसके बाद उस अवसर के लिए विशेष रूप से तैयार की गयी मशालें जलायी गयीं और एक जलूस बनाकर कवि को प्रधान सड़कों में घुमाया गया। छात्रगण रास्ते में डेनिश राष्ट्रीय गीत गाते चले जाते थे। उसके बाद उन्हें उनके होटल में पहुँचा दिया गया। होटल के बाहर भी रात में बड़ी देर तक कवि के दर्शनों के लिए उत्सुक जनता की भीड़ लगी हुई थी।

चार दिन बाद कवि स्टाकहोल्म पहुँचे। उसी दिन वहाँ कवि के स्वागत में नागरिकों ने एक देहाती मेले का आयोजन किया था। देहाती

नर-नारियों के उल्लास-भरे नृत्य और गीत देख और सुनकर कवि को बड़ी तृप्ति हुई। बाद में एक सार्वजनिक सभा में कवि ने 'पूर्व और पश्चिम' पर भाषण दिया। स्वीडन के राजा ने उनके सम्मान में अपने महल में भोज दिया। परंपरा के अनुसार कवि ने नोबेल-पुरस्कार विजेता की हैसियत से स्वेडिश एकेडमी के सदस्यों के बीच में एक भोज के अवसर पर भाषण दिया। सदस्यों के अतिरिक्त सौ से अधिक साहित्यकार, कलाकार और मनीषी वहाँ उपस्थित थे। उसके बाद स्वेडन के सुप्रसिद्ध उपशाला विश्व-विद्यालय में भी कवि का अभिनंदन किया गया।

वहाँ से वह बर्लिन गये। वहाँ के लिए वह पहले ही से निमंत्रित थे। बर्लिन में उनका अभूतपूर्व स्वागत हुआ। प्रथम महायुद्ध से ध्वस्त जर्मन राष्ट्र के सभी नर-नारी कवि को शांति का महदूत मान कर केवल उनके दर्शनों के लिए ही नहीं, बल्कि उनकी पूजा के लिए उत्सुक थे। जिस दिन बर्लिन विश्वविद्यालय में उन्हें भाषण देना था उस दिन हाल के बाहर घंटों पहले से एक लाख से भी अधिक लोग भीड़ लगाये खड़े थे। बहुत देर तक कवि को भीतर जाने के लिए रास्ता ही नहीं मिला। अंत में पुलिस बुलानी पड़ी, जिससे कवि और जनता दोनों को दुःख हुआ। बड़ी मुश्किल से भीड़ किसी कदर हटी और कवि के लिए रास्ता बनाया गया। हजारों विद्यार्थी उस दिन का भाषण सुनने से वंचित रह गये, क्योंकि हाल के भीतर जगह नहीं थी। कवि ने ३ जून को फिर छात्रों के बीच में भाषण दिया।

बर्लिन-स्थित तत्कालीन ब्रिटिश राजदूत ने कवि के विराट स्वागत का उल्लेख करते हुए लिखा था : "कवि का सुन्दर व्यक्तित्व जनता को ईसा से भी अधिक प्रभावशाली लग रहा था।"

६ जून को म्यूनिख में कवि को अभिनंदित किया गया। उसके बाद वह जर्मनी के फ्रांकफुर्ट नामक नगर में गये, जहाँ सुप्रसिद्ध जर्मन कवि गेटे पैदा हुआ था। वहाँ की सुसंस्कृत जनता ने कवि के स्वागत में पूरा रवीन्द्र-सप्ताह मनाया और वैविध्यपूर्ण कलात्मक और सांस्कृतिक कार्यक्रम रखा।

उसके बाद कवि वियेना गये। वहाँ भी कवि के प्रति अपूर्व सम्मान

और श्रद्धा प्रदर्शित की गयी। वहाँ के संवादपत्रों में छपा कि ऐसा स्वागत वियेना में कभी किसी दूसरे जीवित कवि या कलाकार का नहीं हुआ। उसके पश्चात् चेकोस्लोवाकिया के तत्कालीन राष्ट्रपति मासरिक का निमंत्रण पाकर वह प्राग गये। वहीं संस्कृत के प्रसिद्ध विद्वान् प्रोफेसर लेस्नी से कवि की पहली भेंट हुई। संस्कृत के दूसरे विद्वान डा० विन्टरनित्स भी उन दिनों वहीं थे। उनसे कवि पहले भी मिल चुके थे।

कवि की इस अभूतपूर्व विजय-यात्रा के फलस्वरूप समस्त यूरोपीय राष्ट्रों में भारत के गौरव की जो वृद्धि हुई उसका ठीक-ठीक वर्णन संभव नहीं है। संसार में कभी किसी भी युग में किसी भी कवि का जनता द्वारा ऐसा स्वेच्छित स्वागत नहीं हुआ। यूरोपीय राष्ट्रों की अधिकांश जनता को तब तक भारत तथा भारतीय संस्कृति के संबंध में जो जानकारी थी वह नहीं के बराबर थी। कवि के विविध भाषणों द्वारा यह अज्ञानता काफी हद तक दूर हुई।

असहयोग आन्दोलन की प्रतिक्रिया

जब कवि लंबी यूरोप-यात्रा के बाद जुलाई १९२१ में भारत लौटे तब असहयोग आंदोलन पूरे जोरों पर था। असहयोग आंदोलन के संबंध में कवि के विचार प्रारंभ से ही राष्ट्रीय नेताओं से भिन्न थे। जहां तक ब्रिटिश सरकार के अत्याचारों का विरोध करने या देश की स्वतंत्रता के लिए लड़ने का प्रश्न था कवि कभी किसी से पीछे नहीं रहे। स्वदेशी आंदोलन के युग से भी पहले से वह केवल ब्रिटिश नीति का विरोध ही नहीं करते आ रहे थे, बल्कि सक्रिय राजनीति में भी उन्होंने कई बार भाग लिया था। सन् १९०४ में, जब जनता लार्ड कर्जन की राष्ट्र-विरोधी नीति और कार्रवाइयों से बहुत क्षुब्ध हो उठी थी, कवि ने 'स्वदेशी-समाज' की स्थापना की थी। उसके प्रचार के उद्देश्य से गुप्त रूप से उसके नियम-संबंधी पर्चे बांटे गये। पर्चे में लिखा था : "पाठकगण, इस नियमावली में आप जो कुछ परिवर्तन, परिवर्द्धन या संशोधन करना चाहते हों उसकी सूचना गुप्त रूप से द्वारका-नाथ ठाकुर लेन के ५ नंबरवाले मकान में श्रीयुत गगनेन्द्रनाथ ठाकुर के पास भेज दें। सर्वसाधारण में इसका प्रकाश न करें। आपके मित्रों में से जो सज्जन इस समाज के सदस्य बनना चाहते हों उनके नाम भी पते सहित उक्त पते पर भेज दें।" उस पर्चे में स्वदेशी समाज के जो नियम दिये गये थे वे इस रूप में थे :

"हम लोगों ने मिलकर स्वदेशी समाज की स्थापना का निश्चय किया है। हम अपने अभावों की पूर्ति और अपने कष्टों का निवारण सम्मिलित प्रयत्नों द्वारा करेंगे।

"हम स्वयं शासन-भार ग्रहण करेंगे। हमारा यह उद्देश्य स्वदेश समाज के कार्यों द्वारा ही पूरा होगा। इसके लिए हम अन्य उपाय काम में नहीं लायेंगे।

"हम कड़ाई के साथ समाज के प्रत्येक नियम का पालन करेंगे। किसी नियम के पालन में त्रुटि होने पर समाज द्वारा निर्धारित दंड हमें स्वीकार होगा।

"समाज के नेताओं और उनके सहायक मंत्रियों का हम, समाज द्वारा उन्हें दिये गये अधिकारों के अनुसार, बिना बहस के सम्मान करेंगे।

"२१ वर्ष से कम आयु वाले व्यक्ति इसके सदस्य नहीं हो सकते। प्रत्येक सदस्य को निम्न प्रतिज्ञा के आठ नियमों का पालन अनिवार्य रूप से करना होगा :

१—अपने समाज और साधारणतया भारतीय समाज की किसी विधि-व्यवस्था के लिए सरकार की शरण में न जाऊँगा।

२—मैं अपनी इच्छा से विलायती वस्त्रों और विलायती वस्तुओं का प्रयोग नहीं करूँगा।

३—अनिवार्य रूप से आवश्यक न होने पर किसी भारतीय को अँगरेजी में पत्र नहीं लिखूँगा।

४—किसी अँगरेज को यदि मित्रतावश कभी दावत देनी पड़ी तो उसे भारतीय भोजन ही खिलाऊँगा—आडंबर या दिखावे के प्रलोभन में आकर अँगरेजी भोजन और अँगरेजी मदिरा का सेवन नहीं कराऊँगा और न अँगरेजी वाद्य ही बजवाऊँगा।

५—जब तक हमारा निजी स्वदेशी विद्यालय स्थापित नहीं हो जाता तब तक अपने बच्चों को स्वदेश-संचालित विद्यालय में ही पढ़ाऊँगा।

६—समाज के लोगों में परस्पर-विरोध उपस्थित होने पर सरकारी अदालत में न जाकर सबके आगे समाज-निर्दिष्ट विचार-व्यवस्था स्वीकार करने की चेष्टा करूँगा।

७—व्यवहार की समस्त वस्तुएँ स्वदेशी दूकान से ही मोल लूँगा।

८—आपस में मतभेद होने पर भी बाहरी लोगों के सामने समाज के संबंध में या समाज के सदस्यों के संबंध में कोई निन्दा न करूँगा।"

पाठक देखेंगे कि स्वदेशी समाज की जो उक्त नियमावली कवि ने स्वयं

अपने हाथों से ब्रिटिश शासन के भरपूर आतंक के युग में तैयार की वह १९२० के असहयोग आंदोलन के नियमों की अपेक्षा कुछ कम जोरदार नहीं थी। उस युग के प्रमुख राष्ट्रीय नेता विपिनचंद्र पाल ने अपनी एक पुस्तक में लिखा था :

"रवीन्द्रनाथ ने ही सब से पहले सरकार से और सरकारी कार्यों से असहयोग का पाठ पढ़ाया था। उन्होंने हमें सब से पहले अपनी आर्थिक, सामाजिक और शिक्षा-संबंधी संस्थाओं को बिना किसी प्रकार की सरकारी सहायता के संगठित करना सिखलाया। वंग-भंग के युग में रवीन्द्रनाथ ही ने सब से पहले ब्रिटिश शासन के बहिष्कार की एक व्यावहारिक योजना कलकत्ते के टाउन हाल की एक सभा में जनता के आगे रखी थी।"

१९०९ में कवि ने 'प्रायश्चित्त' नामक एक नाटक वर्षों पहले लिखे गये 'बऊठाकुरानीर हाट' नामक उपन्यास के आधार पर लिखा था। इस नाटक में कवि ने धनंजय नामक एक नये पात्र की अवतारणा की। देशहित और जनहित के लिए मर मिटने के लिए सदा तत्पर रहने वाला यह विद्रोही पात्र कवि की एक अपूर्व सृष्टि है। यह जन-नेता जनता का ही आदमी है और अत्याचारी शासक के विरुद्ध न्यायानुकूल विद्रोह करने के लिए जनता को तैयार करता है। केवल भावावेश में आकर वह जनता को भड़काता नहीं, बल्कि उचित विद्रोह की व्यावहारिक शिक्षा देता है और सब से पहले स्वयं जेल का कष्ट सहर्ष स्वीकार करता है। लगानबंदी की सब से पहली सूझ देश को कवि के इसी पात्र के चरित्र द्वारा मिली थी। १९२० के असहयोग आंदोलन के बाद से महात्मा गांधी ने देश की जनता के मन से जेल के भय की भावना दूर करने में सफलता पायी थी। उसके पहले जेल का जो अवर्णनीय आतंक जनता के भीतर समाया हुआ था उसकी आज ठीक से कल्पना भी नहीं की जा सकती। रवीन्द्रनाथ का धनंजय ही ऐसा पहला व्यक्ति था जिसने अत्याचारी शासक के विरुद्ध लगानबंदी आंदोलन के रूप में सक्रिय विद्रोह करके जेल की यातना को सहर्ष स्वीकार किया था और बेड़ियों को अलंकार के रूप में ग्रहण करते हुए यह गाना गाया था :

(ओरे) शिकल, तोमाय कोले कोरे
दियेछि झंकार,
(तुमि) आनन्दे भाई, रेखेछिले
भेंङे अहंकार।
तोमाय निये कोरे खेला,
सुखे-दुःखे काटलो बेला,
अंग बेड़ि दिलो बेड़ी
बिना दामेर अलंकार !

"हे शृंखला, तुम्हें गोद में रखकर मैंने उस पर वीणा की तरह झंकार दिया है। भाई, तुमने जेल में मेरा अहंकार मिटाकर आनन्द से मुझे रखा। तुम्हारे साथ खेलते हुए मेरे दिन सुख-दुःख के बीच में बड़े मजे में कट गये। बेड़ियों ने मेरे अंगों को जकड़कर बिना दाम का अलंकार मुझे प्रदान कर दिया।"

इस प्रकार क्या साहित्यिक कृतियों और निबन्धों में वर्णित विचारों में, क्या व्यावहारिक क्षेत्र में और क्या सक्रिय राजनीति में कवि के विचार बराबर अत्याचारी शासक-वर्ग के विरुद्ध पूर्णतः विद्रोहात्मक और असहयोगमूलक रहे। तब क्या बात हो गयी जो १९२० के असहयोग आन्दोलन में वह पूर्णतया गान्धीजी का साथ न दे सके ? इस नाजुक प्रश्न के कई व्यावहारिक ओर मनोवैज्ञानिक पहलू हैं जिनका सूक्ष्म विश्लेषण करके ठीक-ठीक उत्तर दे सकना सहज नहीं है। फिर भी जो मोटे तथ्य इस सम्बन्ध में वर्तमान लेखक की समझ में आये हैं वे इस प्रकार हैं :—

१९२१ में अचानक जो उत्तेजना की व्यापक लहर सारे देश में दौड़ गयी वह कवि की आँखों में सामूहिक हिस्टीरिया के रूप में आया। कवि को (भ्रमवश ही सही) यह लगा कि अज्ञ जनता को उस आन्दोलन के प्रति अपने दायित्व और कर्तव्यों के सम्बन्ध में पूर्णतः परिचित और शिक्षित कराये बिना ही भेड़ों की तरह हाँका जा रहा है——यह प्रलोभन देकर कि यदि वे लोग

केवल खद्दर पहनें, चर्खा चलाएँ, विदेशी वस्त्रों की होलियाँ जलाएँ और शिक्षा-संस्थाओं का बहिष्कार कर दें तो छः महीने के भीतर स्वराज्य मिल जायगा। कवि के मत से उस सामूहिक आन्दोलन को चलाने के पूर्व इस बात की अनिवार्य आवश्यकता थी कि जनता के प्राणों को उद्बुद्ध करने के साथ ही उसके ज्ञान को भी बढ़ाया जाय, जिससे वह स्वयं अपनी बुद्धि द्वारा असहयोग के मर्म और महत्त्व को समझकर तब उसमें भाग ले, न कि अन्ध उत्तेजना की बाढ़ में बहकर। केवल कवि ही नहीं, बहुत-से दूसरे स्वतन्त्र विचारों वाले व्यक्ति भी उस समय ईमानदारी से यह महसूस कर रहे थे कि साधारण जनता आन्दोलन के महत्त्व को ठीक-ठीक समझे बिना ही केवल उत्तेजना की आँधी में बही जा रही है, और गान्धीजी के उपदेशों का मर्म ठीक से ग्रहण किये बिना ही भ्रमवश यह अन्ध विश्वास किये बैठी है कि केवल बाहरी नारों और ऊपरी आडम्बरों के पालन से छः महीने के भीतर स्वराज्य मिल जायगा।

इसमें गांधीजी का कोई दोष नहीं था। दोष था परिस्थितियों का। उस समय देश की जनता दो प्रतिशत भी शिक्षित नहीं थी और स्वभावतः ९८ प्रतिशत लोग आन्दोलन के महत्त्व को और अपने दायित्व को बारीकी से समझने में निपट असमर्थ थे। कवि उन दिनों अपनी यूरोपीय विजय-यात्रा में यूरोप की शिक्षित जनता की स्वतन्त्र बुद्धि और आत्म-निर्धारण की बौद्धिक समर्थता का परिचय पग-पग पर पा रहे थे। सम्भवतः किसी हद तक यह मनोभावना भी उनके अज्ञात में उनके भीतर काम कर रही थी। पर भारत में तब यह सम्भव नहीं था और उस स्थिति के आने तक की प्रतीक्षा यदि की जाती तो जन-प्राणों में सामूहिक रूप से राष्ट्रीय चेतना उद्बुद्ध होने में युग बीत जाते। गांधीजी की इस व्यावहारिक बुद्धि को कवि किसी कारण से उस समय ठीक परिप्रेक्षण में न देख सके। गलतफहमी का मूल कारण यही था। अन्यथा उनके दृष्टिकोण की ईमानदारी में उस उत्तेजना के युग में भी न तो गांधीजी को कोई सन्देह हुआ न जनता को। वैसे गांधीजी ने 'यंग इण्डिया' में कवि के विभिन्न विरोधी तर्कों का उत्तर अपनी सहज-सुन्दर और सुलझी शैली में बराबर देते रहे।

जो भी हो, सितम्बर १९२० में महात्मा गांधी शौकतअली के साथ शान्तिनिकेतन पहुँचे। तब कवि न्यूयार्क में थे। दोनों नेताओं के समझाने पर शान्तिनिकेतन के कर्माधिकारियों ने यह निश्चय किया कि उस वर्ष शान्तिनिकेतन के छात्रों को मैट्रिक की परीक्षा के लिए नहीं भेजेंगे। उन्होंने छात्रों को परीक्षा के लिए भेजने के बजाय सुहल में, जहाँ बाद में श्रीनिकेतन की स्थापना हुई थी, ग्राम-सुधार सम्बन्धी कार्यों के लिए नियोजित कर दिया। तब असहयोग आन्दोलन का सूत्रपात हो ही रहा था और कवि को उसके भावी रूप का ज्ञान नहीं था। तब वह स्वयं उससे बड़ी आशाएँ कर रहे थे। अमेरिका में जब उनसे प्रश्न किया गया कि गांधीजी द्वारा परिचालित आन्दोलन के सम्बन्ध में उनके क्या विचार हैं, तब उन्होंने स्पष्ट उत्तर दिया था कि "आध्यात्मिक शक्ति पाशविक शक्ति से हर हालत में उन्नत और श्रेष्ठ होती है।" इससे स्पष्ट है कि गांधीजी की सत्य और अहिंसा सम्बन्धी नीति की सचाई के प्रति उनके मन में कभी किसी भी प्रकार का सन्देह उत्पन्न नहीं हुआ। केवल आन्दोलन की रूप-रेखा के सम्बन्ध में उनका मतभेद था।

४ नवम्बर १९२० को उन्होंने एक पत्र शान्तिनिकेतन के कर्माधिकारियों को भेजा, जिसमें लिखा था :—

"शान्तिनिकेतन को राजनीति के झगड़ों से दूर रखना। मैं जानता हूँ कि इन दिनों भारत में राजनीतिक आन्दोलन जोरों पर है और उसके प्रभाव से बच सकना कठिन है। फिर भी हमें यह बात न भूलनी चाहिए कि शान्तिनिकेतन का ध्येय राजनीति नहीं है। वैसे मैं स्वयं राजनीति में दिलचस्पी रखता हूँ, पर जहाँ शान्तिनिकेतन का प्रश्न आता है वहाँ मैं राजनीति से अलग रहना पसन्द करता हूँ। मेरा आशय यह कदापि नहीं है कि राजनीति में कोई दोष है। मैं केवल इतना ही कहना चाहता हूँ कि हमारे आश्रम के उद्देश्यों से उसका कोई सम्बन्ध नहीं है। "शान्तिनिकेतन" नाम किसी विशेष अभिप्राय से ही रखा गया है।"

शान्तिनिकेतन का विकास वह विशुद्ध सांस्कृतिक योजना के अनुसार करने का स्वप्न बहुत दिनों से देखते आ रहे थे। कहीं राजनीतिक

बवण्डर के बीच में फँसकर वह कहीं अपने मूलगत उद्देश्यों से ही च्युत न हो जाये इस बात की विशेष चिन्ता उन्हें थी। यूरोप से सी० एफ० एण्ड्रूज को लिखे गये पत्रों में उन्होंने अपने इस दृष्टिकोण को सुस्पष्ट कर दिया था। पर उनके इस रुख के सम्बन्ध में बड़ी गलतफहमियाँ देश में फैलने लगीं। लोग सोचने लगे कि यूरोपीय सम्मान ने कवि का दिमाग फेर दिया है।

जब जुलाई १९२१ में वह यूरोप-यात्रा से देश लौटे तब असहयोग आन्दोलन पूरे जोरों पर चल रहा था। राष्ट्रीय नेतागण उनसे मिले और उनसे अनुरोध किया कि वह भी आन्दोलन में पूरा योग दें। पर उनके विचार नहीं बदले। सितम्बर १९२१ में कलकत्ते के जोड़ासाँको वाले मकान में गांधीजी और एण्ड्रूज ने इस सम्बन्ध में उनसे खुल कर बातें कीं। गांधीजी उन्हें अपने दृष्टिकोण से सहमत करा सकने में असफल रहे। विशेषकर छात्रों को स्कूल-कालेज से छुड़ाने के प्रश्न के वह घोर विरोधी थे। उन्होंने 'शिक्षार मिलन' ('शिक्षा सम्बन्धी मिलन') शीर्षक एक लेख लिखकर पत्रों में छपाया। विख्यात उपन्यासकार शरत्चन्द्र चट्टोपाध्याय ने, जो असहयोग आन्दोलन के साथ थे, 'शिक्षार विरोध' नाम से एक लेख में कवि के विचारों का विरोध किया। कवि ने 'सत्येर आह्वान' ('सत्य की पुकार') शीर्षक एक दूसरा लेख छपाया, जिसमें असहयोग आन्दोलन को अव्यावहारिक और अनुपयुक्त बताया गया। महात्मा गांधी ने उसका बहुत ही शिष्ट, सुन्दर और तर्कपूर्ण उत्तर 'यंग इण्डिया' में छपाया। कवि विश्व मैत्री और विश्व-संस्कृति के समन्वयात्मक विकास का स्वप्न देख रहे थे, और अपनी स्वतन्त्रता के लिए छटपटाने वाला राष्ट्र कुछ दूसरी ही योजना के अनुसार चल रहा था। स्वभावतः कवि के भीतर एक प्रबल अन्तर्विरोध खड़ा हो गया था। पर उनके दृष्टिकोण की ईमानदारी पर सन्देह करने का कोई कारण नहीं था। फिर भी विभिन्न राष्ट्रीय क्षेत्रों से उनके विरुद्ध निन्दात्मक आवाजें उठने लगीं। कवि उन्हें नीम के घूँटों की तरह चुपचाप पीते चले गये और शान्तिनिकेतन-सम्बन्धी अपनी योजना के विकास के प्रयत्नों में लगे रहे।

ऋतु-संबंधी नाटक

इस बात का उल्लेख पहले ही किया जा चुका है कि १९१५ में कवि ने शान्तिनिकेतन के पास ही सुरूल नामक गाँव में कुछ जमीन खरीदी थी और वहाँ कृषि, पशु-पालन और ग्राम-सुधार सम्बन्धी कार्य आरम्भ कर दिया था। १९२१ में एल० के० एमहर्स्ट नामक एक अँग्रेज ने, जिसका अमेरिका में कारोबार था और जो कवि के विचारों से बहुत प्रभावित हो चुका था, शान्तिनिकेतन के ग्रामोद्धार सम्बन्धी कार्य में सक्रिय भाग लेने की इच्छा प्रकट की। श्रीमती एमहर्स्ट ने इस कार्य के लिए पचास हजार रुपया वार्षिक देने का वचन दिया। फलतः एमहर्स्ट दम्पति के सहयोग से सुरूल में ग्रामोद्धार सम्बन्धी कार्य पूरे जोरों से चलने लगा। इस ग्रामोद्धार सम्बन्धी संस्था का नाम शान्ति निकेतन के ही वजन पर श्रीनिकेतन रखा गया।

शान्तिनिकेतन के विद्यालय को 'विश्वभारती' में पहले ही परिणत कर दिया गया था, पर उसका नियमित उद्घाटन इसी वर्ष हुआ। उसके मूलगत आदर्श को इस वेदवाक्य द्वारा स्थायित्व प्रदान कर दिया गया : "यत्र विश्वं भवत्येक नीड़म्" ("जहाँ सारा विश्व एक नीड़ के रूप में समाहित हो जाता है")। कवि ने अपनी सारी सम्पत्ति, नोबेल पुरस्कार की निधि और अपनी सभी बँगला पुस्तकों का सत्त्वाधिकार 'विश्वभारती' के नाम कर दिया। अपनी अँगरेजी पुस्तकों से प्राप्त होने वाली रायल्टी भी वह विश्वभारती को ही दे दिया करते थे, और विभिन्न सूत्रों से उसके लिए रुपया इकट्ठा करते रहते थे।

जब से विश्वभारती का उद्घाटन हुआ तब से उसकी बहुमुखी प्रगति होने लगी। संसार-भर के प्रसिद्धतम विद्वान् वहाँ छात्रों को पढ़ाने और स्वयं प्राच्य साहित्य तथा संस्कृति पर गवेषणा कार्य करने के उद्देश्य से वहाँ आने लगे। इन विद्वानों में प्रोफेसर सिल्वां लेवी (फ्रांस), प्रोफेसर विन्टरनित्स

(चेकोस्लोवाकिया), प्रोफेसर लेस्नी (चेकोस्लोवाकिया), प्रोफेसर स्टेनकोवो (नारवे), प्रोफेसर कार्लो फारमिसी और जी तुच्ची (इटली), जर्मेनस (हंगरी), आगा पूरेदाऊद (ईरान) आदि प्रमुख हैं।

कुछ समय बाद बम्बई के कुछ धनी पारसियों की सहायता से विश्व-भारती में जोरोस्ट्रियन भाषा, साहित्य और संस्कृति सम्बन्धी अध्ययन और गवेषणाकार्य के लिए एक अलग विभाग खोला गया। १९३७ में साइनो-इण्डिया सोसाइटी के सहयोग से चीना भवन स्थापित हुआ। १९३९ में हिन्दी-भवन की स्थापना हुई।

विश्वभारती की स्थापना (१९२१) के बाद कवि ने 'शिशु भोलानाथ' नाम से शिशु-जीवन की आशाओं और आकांक्षाओं से सम्बन्धित अपनी कविताओं का एक संग्रह छपाया। इन कविताओं का रूप-रंग और भाव प्रायः वैसे ही हैं जैसे कुछ वर्ष पूर्व 'शिशु' की कविताओं में पाये गये थे। शिशु-हृदय के सुकुमार तारों को अपने हृदय के तारों से जोड़ने में कवि की दक्षता आश्चर्यजनक रही है। शिशु भोलानाथ के बाद १९२२ में, 'मुक्त-धारा' नाम से एक नाटक कवि ने लिखा। इस नाटक में कवि ने संकुचित राष्ट्रीयता का तीव्र विरोध किया है, पर सत्याग्रह का पूरा समर्थन किया है। उत्तरकूट राष्ट्र का राजा रणजित् अपने एक कुशल इंजीनियर की सहायता से उस विस्तृत और मुक्तधारा को बाँध देता है जो उसी राजा के अन्तर्गत शिवतराई नामक भूभाग को जल से सींचती है। शिवतराई की जनता जल-कष्ट से पीड़ित होकर विद्रोही हो उठती है और धनञ्जय वैरागी के नेतृत्व में सत्याग्रह करती है। राजा प्रजा के दमन के लिए राजकुमार अभिजित् को शिवतराई भेजता है। राजकुमार प्रजा का कष्ट देखकर उसके पक्ष में हो जाता है। राजा राजकुमार को बंदी करके अपने साले को शिवतराई का शासन-भार सौंपता है। साले के अत्याचार से प्रजा अत्यन्त पीड़ित हो उठती है। कुछ समय बाद जेल में आग लग जाती है। राजकुमार भाग निक-लता है और अपने प्राणों को अपनी हथेली में रखकर कुछ विद्रोहियों की सहायता से बाँध को तोड़ डालता है और रुद्ध धारा फिर एक

बार मुक्त होकर अपनी बाढ़ से शिवतराई के सूखे खेतों में जीवन डाल देती है।

स्पष्ट ही असहयोग युग के सत्याग्रह आन्दोलन के पक्ष में रवीन्द्रनाथ ने यह नाटक लिखा था। इस नाटक में केवल एक ही बात पर कवि का थोड़ा-सा मतभेद रह जाता है। गांधीजी यान्त्रिक प्रगति के एकदम विरोधी थे। पर रवीन्द्रनाथ यान्त्रिक प्रगति में विशेष दोष नहीं देखते थे, केवल उसके दुरुपयोग के वह भयंकर विरोधी थे।

१९२२ में कवि के उन अँगरेजी व्याख्यानों का एक संग्रह "क्रिएटिव यूनिटी" नाम से प्रकाशित हुआ। इन व्याख्यानों में कवि ने विश्व के केन्द्र में स्थित मूल सर्जना-शक्ति की बहुमुखी धाराओं के सामञ्जस्य और लक्ष्य की एकता की ओर ध्यान आकर्षित किया है और प्राच्य तथा पाश्चात्य धाराओं का प्रकट वैषम्य किस प्रकार दूर हो सकता है इस सम्बन्ध में सुन्दर सुझाव उपस्थित किए हैं। सारे संसार में आज जो अव्यवस्था और अशान्ति छायी हुई है उसका प्रधान कारण उन्होंने प्राच्य और पाश्चात्य दृष्टिकोणों की यही विषमता बतायी है। एक का दृष्टिकोण अन्तर्मुखी है और दूसरे का बहिर्मुखी। यदि इन दोनों के बीच दोनों ओर से सन्तुलन, सामञ्जस्य और समन्वय का सच्चा प्रयास हो तो समस्या बहुत-कुछ सुलझ सकती है।

इसी वर्ष 'लिपिका' प्रकाशित हुई। इसमें कई गद्य कविताएँ संगृहीत हैं। कवि ने अपने प्रथम यौवन में कई गद्य-कविताएँ लिखी थीं, पर उन्हें पुस्तक-रूप में प्रकाशित नहीं कराना चाहा था। 'लिपिका' में कुछ पुरानी गद्य-कविताओं का नया संस्करण पाया जाता है और कुछ एकदम नयी भी हैं। इन गद्य-कविताओं में कुछ प्रतीकात्मक कहानियाँ भी जोड़ दी गयी हैं। इन प्रतीकात्मक कहानियों में मानवीय बुद्धि और मन की विकृतियों के प्रति तीखे व्यंग्य पाये जाते हैं।

जिस प्रकार मनुष्य की अन्तःप्रकृति से कवि के अन्तर के तार घनिष्ठ रूप से जुड़े हुए थे, उसी तरह विश्व-प्रकृति से भी उनकी आत्मा का पूर्ण तादात्म्य स्थापित था। प्रतिवर्ष छः ऋतुओं का जो आनन्दमय नृत्य नियमित

रूप से चलता रहता है, जिसके फलस्वरूप पृथ्वी वर्ण, गीत और गन्ध के पुलक-प्लावन में बही चली जाती है, उस महोत्सव में योग देने के लिए कवि की अन्तरात्मा बराबर आकुल और उत्सुक रहती थी। इसलिए केवल उनके असंख्य गीतों और कविताओं में ही ऋतुओं की उन्मादना नहीं पायी जाती बल्कि अपने विभिन्न नाटकों में भी उन्होंने ऋतूत्सव मनाया है। 'शारदोत्सव' और 'फाल्गुनी' नामक नाटकों का उल्लेख किया जा चुका है। १९२२ में 'शारदोत्सव' परिवर्तित और परिवर्द्धित रूप में प्रकाशित हुआ। 'फाल्गुनी' को 'वसन्तोत्सव' नाम से नये सिरे से लिखकर प्रकाशित कराया गया। 'वर्षामंगल' नाम से एक नया नाटक भी इन्हीं दिनों लिखा गया। बाद में इस तरह के कई और भी छोटे-मोटे नाटक कवि ने लिखे।

पूर्वी देशों की यात्रा

मार्च १९२४ को कवि ने एक विशिष्ट दल के साथ पूर्वी देशों की यात्रा की। उनके दल में सी० एफ० एण्ड्रूज, एल० के० एमहर्स्ट, आचार्य क्षिति-मोहन सेन, नन्दलाल वसु, डाक्टर कालिदास नाग, मिस ग्रीन आदि प्रमुख व्यक्ति सम्मिलित थे। रंगून, पेनांग, क्वाला-लुम्पुर, सिंगापुर आदि स्थानों में इस दल का बड़ा स्वागत हुआ। उसके बाद १२ अप्रैल को कवि और उनके साथी शांघाई पहुँचे। जहाज से उतरते ही चीन के विविध राजनीतिक तथा सांस्कृतिक दलों के प्रतिनिधियों ने उन लोगों का स्वागत किया। शांघाई-प्रवासी भारतीयों ने भी उन लोगों को अभिनन्दित किया।

उसी दिन सन्ध्या को चीनी युवकों और युवतियों की ओर से कवि का अभिनन्दन हुआ। प्रसिद्ध चीनी कवि टसेमन हसू ने, जिन्होंने कवि की कई रचनाओं का अनुवाद चीनी भाषा में किया था, कवि का स्वागत करते हुए कहा:

"इस समय चीन विकट संघर्ष के बीच से होकर गुजर रहा है। चारों ओर अव्यवस्था और अशान्ति छायी हुई है। आध्यात्मिक शक्तियों पर से जनता का विश्वास हटता चला जा रहा है और अनीश्वरवाद और भौतिक-वाद का प्रचार बढ़ रहा है। हमें इस समय आप जैसे महान् ऋषि की बड़ी आवश्यकता थी जो अपने ज्ञान-भरे महत्त्वपूर्ण उपदेशों द्वारा हम लोगों को उचित पथ सुझा सके और भटकने से बचा सके। भारत ने पहले भी महान् द्रष्टाओं को इस देश में भेजकर यहाँ की जनता को गहन अन्धकार के गर्त में डूबने से बचाया था।"

१४ अप्रैल को कवि और उनका दल प्रसिद्ध हाँगचाऊ झील देखने पहुँचा। इसी झील के किनारे इनलिंग की प्रसिद्ध गुफाएँ हैं, प्रायः ढाई हजार

वर्ष पूर्व विख्यात भारतीय साधक बोधिज्ञान ने इन्हीं गुफाओं में रहकर चीन-देशवासियों को बुद्ध की महावाणी सुनायी थी।

८ मई को चीनी जनता द्वारा कवि की ६३वीं वर्षगाँठ बड़े समारोह के साथ मनायी। इस अवसर पर प्रसिद्ध चीनी विद्वान् लियांग-चाई-चाऊ ने कहा : "रवीन्द्रनाथ का अर्थ है सूर्य और वज्र-देवता। प्राचीन भारतीयों ने चीन देश को अपनी भाषा में जो नाम दिया था उसका अर्थ होता है 'गरजता हुआ प्रभात'। चीनी भाषा में इसका अनुवाद 'चेन-तान' होता है। इसका अर्थ प्रायः वही होता है जो 'रवीन्द्रनाथ' शब्द का। चीनी लोग प्राचीन काल में भारत को 'चू' कहते थे। यदि हम 'चेन-तान' के साथ 'चू' जोड़ दें तो 'चू-चेन-तान' बन जाता है। इस शब्द के दो अर्थ होते हैं। एक तो 'भारत का गरजता हुआ प्रभात' और दूसरा 'भारत और चीन'। हम अपने प्रिय कवि को उनकी वर्षगाँठ के अवसर पर यही नाम देना चाहते हैं। यह नाम भारत और चीन की मैत्री का भी परिचायक होगा।"

शांघाई की जापानी जनता ने भी १८ मई को कवि का स्वागत किया। १९१६ में जब कवि ने जापान-यात्रा की थी और जापान की संकुचित राष्ट्रीयता के विरोध में कुछ कड़ी बातें कही थीं तब जापानी जनता बहुत भड़क उठी थी और कवि के विरुद्ध निन्दात्मक बातों का प्रचार करने लगी थी। पर शांघाई में प्रतिष्ठित जापानियों ने जो श्रद्धा और सम्मान कवि को दिया उससे स्पष्ट था कि पिछली कटुता उन लोगों के मन से बहुत-कुछ दूर हो गयी है। कवि ने अपने भाषण में इस बात का उल्लेख भी किया।

नानकिंग में चीन की २५ विभिन्न जातियों और सम्प्रदायों की एक सम्मिलित सभा में भाषण करते हुए कवि ने पाश्चात्य भौतिकवाद के घातक प्रभाव पर प्रकाश डालते हुए कहा था : "पाश्चात्य भौतिकवाद का यह भयानक दैत्य अपनी अपनी आर्थिक और पार्थिव साम्राज्यलिप्सा द्वारा पूर्व को भयभीत कर रहा है। वह पूर्वी देशों का सर्वस्व लूटकर उसे मौत के अतल गर्त की ओर ढकेल रहा है। पूर्वी राष्ट्रों को इस पाशविकता का सामना सम्मिलित बौद्धिक और आत्मिक शक्तियों द्वारा करना चाहिए।"

नानकिंग में तत्कालीन मिलिटरी गवर्नर ची-शी-यान ने भी कवि का स्वागत किया। कवि ने उन्हें यह संदेश सुनाया: "भारत और चीन इन दोनों पड़ोसी देशों की सभ्यता शान्ति के आदर्श पर आधारित है। मुझे पूरी आशा है कि चीन निकट भविष्य में बहुत उन्नति करेगा और भारत के साथ उसका घनिष्ठ संबंध स्थापित हो जायगा। तब ये दोनों प्राच्य देश उस वैज्ञानिक यंत्रवाद का घोर विरोध कर सकने की स्थिति में हो जायेंगे जो वैज्ञानिक प्रगति और आधुनिक संस्कृति के नाम पर संसार को साम्राज्य-लिप्सा, पशुता और सामूहिक विनाश का पाठ पढ़ा रहा है। मुझे इस बात का भी पूरा विश्वास है कि उन्नत मानवीय आदर्शों को अपनाते हुए आप लोग अपने बीच के मतभेदों को जड़ से साफ कर डालेंगे और शीघ्र ही एक समुन्नत और शक्तिशाली राष्ट्र के रूप में उदित होंगे, आपकी सम्मिलित वाणी में बल होगा और आप लोग सारे संसार को शांति और प्रगति की ओर फेर सकने में समर्थ होंगे।"

कवि की इस आश्चर्यजनक भविष्यवाणी को हम शब्द-प्रति-शब्द सफल हुआ पाते हैं। धीरे-धीरे संसार देखेगा कि केवल यही नहीं कवि की सभी भविष्यवाणियाँ और स्वप्न एक-एक करके सफल और चरितार्थ होकर रहेंगे। सभी कवि स्वप्न देखते हैं, महान क्रांतद्रष्टा कवियों के स्वप्नों और साधारण आत्मलीन कवियों के रुग्ण अंतर में छायापात करने वाले स्वप्नों में बड़ा अंतर होता है। क्रांतद्रष्टा कवियों के स्वप्न की उत्पत्ति अहंगत चेतना से नहीं बल्कि युग-युगव्यापी सामूहिक जीवन की मूलगत वास्तविकता के गहरे और सुस्पष्ट अध्ययन के फलस्वरूप होती है। इसीलिये वे समयांतर में सफल होकर रहते हैं।

कवि की उक्त भविष्यवाणी के उत्तर में सैनिक शासक ची-शी-यान ने कहा: "मैं आपकी इस बात से पूर्णतः सहमत हूँ कि सभ्यता का मूल-आधार शांति ही है। पश्चिम से जो कूटनीति और अशांति आज हम लोगों ने उत्तराधिकार के रूप में पायी है उसके लिये हम लोगों को दुःख है। फिर भी हमें विश्वास है कि शीघ्र ही चीन अपने घरेलू झगड़ों से छुट्टी

पा जायगा और तब उसे मानवता की स्थायी उन्नति के लिये भारत के साथ पूर्ण सहयोग का अवसर मिलेगा।"

उसी दिन नानकिंग विश्वविद्यालय में कवि का व्याख्यान हुआ। उनके दर्शन के लिये वहाँ भी बड़ी भीड़ उमड़ उठी थी। वहाँ के बहुत बड़े हॉल का छज्जा अत्यधिक भार से दबकर टूटने ही जा रहा था कि समय पर खबर लग गयी। एक बहुत बड़ी दुर्घटना होने से बच गयी। कवि ने छात्रों से कहा कि वे संगठित होकर, साहसपूर्वक आगे बढ़ें और संसार से अत्याचार और उत्पीड़न को मिटाने के उद्देश्य से उनका साथ दें। महिलाओं द्वारा आयोजित एक अलग सभा में कवि को अभिनंदित किया गया।

नानकिंग से कवि और उनका दल सम्राट का निमंत्रण पाकर पेकिंग पहुँचा। वहाँ एक विराट भोज में, जिसमें प्रतिष्ठित राज्याधिकारी, विद्वान, अध्यापक और श्रेष्ठ कवि तथा लेखक उपस्थित थे, कवि का स्वागत किया गया।

चीन के भूतपूर्व सम्राट् कवि के विशेष प्रशंसक थे। उन्होंने अपने विराट और आलीशान महल में कवि और उनके साथियों को अभिनन्दित किया। सुप्रसिद्ध चित्रकार नंदलाल वसु ने कवि और सम्राट के इस ऐतिहासिक मिलन का वर्णन इस प्रकार किया है :

"हम लोग सम्राट का निमंत्रण पाने पर महल देखने गये। सिंहद्वार से केन्द्रीय महल तक पहुँचने में पूरा एक घंटा लग गया। कवि और दो महिलाएँ पालकियों पर सवार थे और बाकी लोग पैदल चले जा रहे थे। कवि ने सम्राट की प्रधान महिषी तथा एक दूसरी रानी को शंख की चूड़ियाँ भेंट करते हुए कहा कि भारत में ये चूड़ियाँ महिलाओं के लिये सौभाग्यजनक और हर तरह से शुभ मानी जाती हैं। दोनों महारानियों ने कुछ मुस्कुराकर भेंट स्वीकार की और उसके बाद वे पर्दे के भीतर छिप गयीं। इसके बाद मि० एमहर्स्ट ने सम्राट को कवि की पुस्तकों का एक सेट भेंट किया और मैंने अपने बनाये कुछ चित्र भेंट किये। कवि ने भारत की और अपनी ओर से सम्राट को आशीर्वाद दिया और भारत तथा चीन के पुराने गठबंधन

का उल्लेख करते हुए कहा : 'मैं इस पुराने स्नेह-बंधन को फिर से नया करने के लिये उत्सुक हूँ।' सम्राट हम लोगों को महल के उन भागों में भी ले गये जहाँ बाहर का कोई भी व्यक्ति प्रवेश नहीं पा सकता। इसके बाद उन्होंने कवि को एक बहुमूल्य बुद्ध-प्रतिमा भेंट की। उसके बाद सम्राट कवि और उनके साथियों को राजोद्यान दिखाने ले गये थे जो एक अपूर्व स्वप्न-चित्र की तरह लगता था। इस उद्यान में ताओ-मतवादियों, कनफ्यूशियनों और बौद्धों के मंदिर पास-पास बने थे। वहीं एक स्थान पर कवि का फोटो लिया गया। उसके बाद महारानियों ने कवि को निजी महलों में बुलाकर जलपान कराया।"

वहां से बिदा होकर कवि चीनी विद्वानों, दार्शनिकों, कवियों और लेखकों की सभा में गये। उस सभा में सबसे पहले चीनी साहित्य के विख्यात आलोचक, लेखक और कवि श्री लिन बोले। उन्होंने कवि और उनके दल का स्वागत करते हुए बताया कि "चीनी काव्य अभी तक प्राचीन परिपाटियों की जंजीरों से जकड़ा हुआ है।" उससे कैसे मुक्त हुआ जा सकता है इस संबंध में पथ निर्देशित करने के लिये कवि से अनुरोध किया। कवि ने विद्यापति और चंडीदास से लेकर सम-सामयिक बँगला कविता के नमूने सुनाये और बतलाया कि किस प्रकार बंगाल के कवि प्राचीन शृंखला को तोड़कर कविता को आधुनिक रूप देने में सफल हुए हैं।

इसके दो दिन बाद पेकिंग विश्वविद्यालय के संस्कृत अध्यापक प्रोफेसर स्टाल हूलस्टिन ने कवि और उनके साथियों को निमंत्रित करके उन्हें अपना बहुत बड़ा संग्रहालय दिखाया, जिसमें तिब्बत और चीन की बहुत सी प्राचीन वस्तुएँ और पुस्तकें संगृहीत थीं। इसके बाद कवि ने चीनी और भारतीय विद्वानों के पारस्परिक आदान-प्रदान की एक योजना बनायी।

इस प्रकार चीनी सरकार और चीनी जनता का सच्चा स्नेह, सम्मान और श्रद्धा पाकर और अपूर्व समारोह के साथ अभिनंदित होकर कवि वहाँ से जापान चले गये। जापान ने इस बार उन्हें तिरस्कृत नहीं किया,

बल्कि, आंतरिक आत्मीयता प्रदर्शित की। कवि ने जापानियों के देशप्रेम, सांस्कृतिक रुचि और कर्त्तव्यनिष्ठा की प्रशंसा की, पर साथ ही यह भी कहा, कि जब जापान एक राष्ट्र की हैसियत से दूसरे राष्ट्रों के साथ व्यवहार करता है तब वह अपने इन गुणोंको भूल जाता है और साम्राज्यवादी पाश्चात्य राष्ट्रों की तरह ही अन्याय और अत्याचार पर आमादा हो जाता है।

जापान में कवि सुप्रसिद्ध क्रांतिकारी रासबिहारी वसु से भी मिले थे। उसके बाद वह भारत के लिये रवाना हो गये। २१ जुलाई (१९२४) को वह अपने दल के साथ भारत पहुँचे।

दक्षिणी अमेरिका में

भारत में ब्रिटिश शासनाधिकारियों के दमन-चक्र में तनिक भी शिथिलता नहीं आयी थी। पुलिस के अत्याचारों की सीमा नहीं थी। अधिकारी वर्ग पुलिस के जघन्य से जघन्य कृत्यों की प्रशंसा करता हुआ उसे और विकट कुकृत्यों के लिये प्रोत्साहित कर रहा था। एक स्थान पर कुछ सत्याग्रही महिलाओं के साथ घोर अनाचार किया गया। जब संवादपत्रों में इस प्रश्न को लेकर आंदोलन चला तब बंगाल के तत्कालीन गवर्नर लार्ड लिटन ने पुलिस का पक्ष लेते हुए बंगाली महिलाओं के संबंध में कुछ गंदी बातें कहीं और उन पर घृणित आरोप लगाये। कवि ने इस पर एक कड़ा पत्र लार्ड लिटन को लिखा और उन्हें इस बात को चुनौती दी कि वह अपने गंदे आरोपों की सच्चाई प्रमाणित करें। कुछ दिनों तक इस विषय को लेकर दोनों के बीच लिखापढ़ी चलती रही और दोनों के पत्र संवादपत्रों में प्रकाशित किये गये।

प्रायः दो महीने देश में रहने के बाद कवि का घुमक्कड़ मन फिर चंचल हो उठा। इस बार उन्होंने दक्षिण अमेरिका की लंबी यात्रा का निश्चय किया। पेरू की स्वतंत्रता शतवार्षिकी के अवसर पर उनके लिये निमंत्रण पहले ही से आ चुका था। १९ सितंबर को वह पेरू के लिये रवाना हुए। पर रास्ते में ही उनकी तबीयत खराब हो गयी। उन्हें आर्जेन्टाइना के ब्यूनोस एयरिस नामक सुप्रसिद्ध नगर में चिकित्सा के लिये रुक जाना पड़ा। सेन आइसिडोर नामक एक रमणीक उद्यान में उन्हें ठहराया गया। वहाँ विक्तोरिया-द-एस्त्रेदा नाम की एक विदुषी महिला ने, जिसने कवि की रचनाओं के स्पेनिश अनुवाद पढ़ रखे थे और जो उनकी बड़ी प्रशंसक थी, बड़ी हार्दिकता से उनकी सेवा-शुश्रूषा की। उसकी सेवा और स्निग्ध सहृदयता से मुग्ध होकर कवि ने उसको लक्ष्य करके एक बहुत ही सुन्दर कविता लिख

डाली। यह कविता बाद में 'पूरबी' नामक संग्रह में प्रकाशित हुई थी। कविता का भाव इस प्रकार है :

"हे नारी, तुमने अपनी माधुर्य-सुधा से मेरे प्रवास के रिक्त दिनों को भर दिया। दूर-देशी पथिक को तुमने कैसे सहज भाव से अपना बना लिया! ठीक जिस प्रकार यहाँ के संध्याकाश में मुझसे अपरिचित तारा स्वर्ग से स्थिर स्निग्ध हास द्वारा मेरा स्वागत करता रहा। इस निर्जन वातायन में अकेले खड़े होकर जब मैंने दक्षिण गगन की ओर दृष्टि डाली तब ऊपर से मेरे प्राणों में एक निराले तान द्वारा आलोक की वाणी मेरे कानों में गंभीर स्वर में आकर टकरायी : "हम तुम्हें जानते हैं, अच्छी तरह से जानते हैं। जिस दिन अंधकार की गोद में पृथ्वी ने तुम्हें अपनी गोद में लिया उसी दिन से तुम हम लोगों के अतिथि हो और चिरकाल आलोक के अतिथि बने रहोगे।" उन्हीं अपरिचित तारकों की तरह, हे कल्याणी, तुमने मेरी ओर स्निग्ध भाव से देखा और उसी स्वर में तुमने कहा :"तुम्हें मैं जानती हूँ, अच्छी तरह जानती हूँ। हे नारी, तुम्हारी भाषा तो मैं नहीं जानता, फिर भी तुम्हारे अंतर का यह गीतस्वर मुझे सुस्पष्ट सुनायी दिया है : "हे प्रेम के अतिथि कवि, तुम चिरदिन मेरे अतिथि हो!"

दक्षिण अमेरिका में कवि ३० दिसंबर तक रहे। वहाँ से इटली चले गये। इटली में वेनिस, जेनोआ, मिलान आदि स्थानों में भ्रमण करके १७ फरवरी को भारत लौट आये।

इन्हीं दिनों कवि ने 'गृहप्रवेश' नामक एक नाटक लिखा। इस नाटक में कवि ने एक कठोर-हृदय नारी का चित्रण सूक्ष्म नाटकीय और मनोवैज्ञानिक निपुणता के साथ किया है। यह एक नयी बात थी। इसके पहले कवि नारीहृदय के मंगलमय और सुधा-स्निग्ध स्वरूप को ही प्रकाश में रखना पसंद करते थे। इस नाटक की नायिका मणि यौवन के बाधा-बंध-रहित उद्दाम प्रेम की आकांक्षिणी है। उसका पति यतीन अत्यंत सहृदय-स्वभाव होने पर भी उसमें प्रखर यौवन के दीप्त रस का अभाव है। इसलिये वह लाख चाहने पर भी मणि के प्राणों को आकर्षित नहीं कर पाता। अंत में

अपनी पत्नी को प्रसन्न करने के लिये यतीन एक सुन्दर नया घर बनवाता है। मणि उसे छोड़कर चली जाती है। वह बीमार पड़ जाता है पर बीमारी में नये घर में अपनी पत्नी के साथ प्रवेश करने के शुभ दिन का स्वप्न देखता रहता है। पर मणि, यतीन को मौसी के बहुत आग्रह करने पर भी, मरणासन्न यतीन के पास नहीं लौटती।

रवीन्द्रनाथ के अधिकांश नाटकों में हम मानव-मन की रहस्यमयता का विश्लेषण और उद्घाटन उतना नहीं पाते जितना किसी छायात्मक भाव या आदर्श के प्रतीक का सुन्दर प्रस्फुटन। 'गृहप्रवेश' इस दृष्टि से उनके अधिकांश दूसरे नाटकों से भिन्न है।

इसके बाद कवि का 'पूरवी' नामक काव्य-संग्रह प्रकाशित हुआ, जिसका उल्लेख पहले किया जा चुका है। इस संग्रह की बहुत-सी कविताएँ विदेशों में या विदेशों में भ्रमण करने से प्राप्त प्रेरणा के फलस्वरूप लिखी गयी हैं। यह संग्रह कवि ने उसी विदेशी नारी को अर्पित किया है जिसने दक्षिण अमेरिका में उनके प्रवास के कष्टमय दिनों को मधुर बना दिया था। इन कविताओं में ६५ वर्षीय वृद्धा कवि के प्राणों में नित नूतन रूप से निरंतर खेलती रहनेवाली यौवन-धारा नव-नव छंदों में, अगणित रूपों और रागों में, शत-शत उच्छ्वासों से फिर नये सिरे से मुखरित हो उठी है। 'नैवेद्य' की एक कविता में कवि ने कहा था : "एकाधारे तुमिई आकाश तुमि नीड़।" "तुम एक साथ ही आकाश और नीड़ दोनों हो।" 'गीतांजलि' के युग में कवि आकाश की अनिवर्चनीय आनंद-रस-माधुरी खूब छककर पान कर चुके थे। अब फिर से धरती की गोद में समाकर विविध रूप-रंग-गंध-रस से अपने प्राणों को भरने की आकांक्षा कवि के मन में जग उठी। प्रारंभ ही में इस संग्रह की 'तपोभंग' शीर्षक कविता में कवि कहता है":

यौवन-वेदना-रसे उच्छल आमार दिनगुलि,
हे कालेर अधीश्वर, अन्यमने गियेछो कि भूलि,
हे भोला संन्यासी !

"हे काल के अधीश्वर! हे भोला संन्यासी, मेरे यौवन-वेदना-रस से उच्छल दिनों को क्या अपनी अन्यमनस्कता में तुम भूल गये हो?"

इस कविता में कवि ने पागल भोलानाथ को उस दिन की याद दिलायी है जब एक दिन वसंत के उच्छ्वास से उनका संन्यास भंग हो गया था और अंतर का ध्यान मंत्र बहिर्मुख होने से विश्व-प्रकृति ने गंध-भार से मंथर वसंत के उन्मादनरस से उनका कमंडलु भर दिया था। उस दिन शिव ने सहसा अपने भीतर निहित उदार सौन्दर्य सागर का आविष्कार करके आनंद से प्रेम-सुधा का ज्योतिर्मय पात्र हाथ में लिया था। कवि ने भी शंकर के उस उन्माद नृत्य के ताल और लय के साथ अपना संगीत मिलाया था, और—

देखेछिनु सुन्दरेर अन्तर्लीन हासिर रंगिमा,
देखेछिनु लज्जितेर पुलकेर कुण्ठित भंगिमा,
रूप-तरंगिमा।

"मैंने तब सुन्दर के अंतर में लीन हँसी की अपूर्व रंग-लीला देखी थी, लज्जा के पुलक की संकोच भरी भंगिमा और रूप-तरंगिमा के भी दर्शन मुझे हुए थे।"

कवि पूछता है कि "वे दिन क्या अब धूल की तरह तुम्हारे तांडव-नृत्य से चूर्ण-चूर्ण होकर बिखर गये हैं? और निःस्व काल-वैशाखी (वैशाख के महीने में उठने वाला भयंकर तूफान) के निःश्वास से आकुल भाव से ऊपर उड़े चले जा रहे हैं?"

और फिर उसके अंतर ही से यह उत्तर सहसा ध्वनित हो उठता है:

"नहीं, नहीं, वे लुप्त नहीं हो गये। उन्हें तुमने अपने निगूढ़ ध्यान की रात्रि में अन्तर्मुख होकर बटोर लिया है और निःशब्दता के बीच में गोपन भाव से सँजोकर रखा है। गंगा आज तुम्हारी जटाओं में खोकर शांत-धारा बनी हुई है। चन्द्र आज तुम्हारे ललाट में सुप्ति के बंधन में बँधकर गुप्त है। अब फिर न जाने किस विचित्र लीला के छल से, तुम अकिंचन अपूर्व साज

से सजने जा रहे हो। × × × बंदी यौवन के दिन फिर से शृंखलाहीन होकर बार-बार व्यग्र भाव से, उच्च कलोच्छ्वास से बाहर निकल पड़ेंगे। विद्रोही नवीन वीर स्थविर का शासन नष्ट करके बार-बार प्रकट होते रहेंगे। मैं तुम्हारे उसी रूप का सिंहासन रचने जा रहा हूँ, फिर से उसी का गीत गाने की तैयारी कर रहा हूँ।"

कवि की ६५ वर्ष की अवस्था में लिखी गयी चिर-नवीन यौवन की पुकार का चिर-नया-राग अलापनेवाली यह कविता विश्व-साहित्य में बेजोड़ है।

ब्यूनोस एरीज में कवि ने एक मनोहर अपूर्व-परिचित फूल देखा था। उस पर भी एक बहुत ही सुन्दर कविता लिखी है, जो 'पूरबी' में संगृहीत है। कवि विदेशी फूल से पूछता है :

"हे विदेशी फूल, जब मैंने तुमसे पूछा था : 'तुम्हारा नाम क्या है ?' तब तुमने हँसकर केवल अपना सिर हिला दिया था। तब मैं समझ गया कि नाम जानने से क्या होगा, तुम्हारी हँसी ही तुम्हारा परिचय है। जब मैंने पूछा कि तुम्हारा जन्म किस देश में है, तब तुमने उसी तरह हँसते हुए उत्तर दिया था : 'मैं नहीं जानता।' तब मैं समझ गया कि तुम्हारा देश कहाँ है, यह प्रश्न व्यर्थ है। जो तुम्हें प्यार करता है और तुम्हारी मूकवाणी समझता है, उसी के हृदय में तुम्हारा स्थान है। जब मैंने तुमसे पूछा : 'तुम्हारी भाषा क्या है ?' तब तुमने हँसकर केवल सिर हिला दिया था, चारों ओर पत्ते मर्मर शब्द करते हुए चंचल हो उठे। मैंने कहा : जान गया हूँ, मैं जान गया हूँ। सौरभ की वाणी मौन भाव से तुम्हारी आशा-आकांक्षाओं से मुझे परिचित कराती रहती है। तुम्हारे निःश्वास की भाषा मेरे निःश्वास में भरी हुई है।"

'शेषरक्षा'¹ नामक नाटक भी इन्हीं दिनों लिखा गया। यह एक सामाजिक नाटक है। इसमें योरोपीय रीति-नीति का अंध-अनुकरण करने वाले उच्च मध्यवर्गीय बंगाली समाज का व्यंगात्मक चित्र खींचा गया है। नाटक का नायक सतीश बोलचाल और आचार-व्यवहार में अँगरेजी फैशन की नकल

करता है। उसकी माँ उसकी इस अँगरेजियत से प्रसन्न रहती है, पर पिता बहुत असंतुष्ट रहता है। नलिनी नाम की एक सुन्दरी युवती उसे मन-ही-मन चाहती है, यद्यपि बाहर से उसके प्रति कुछ आलोचनात्मक भाव रखती है। सतीश का धनी और निःसन्तान मामा उसे बहुत चाहता है और समय-समय पर उसे आर्थिक सहायता पहुँचाता रहता है। सतीश के मन में यह आशा बनी रहती है कि वह अपने मामा की संपत्ति का उत्तराधिकारी बनेगा। पर उसके दुर्भाग्य से कुछ समय बाद उसकी मामी एक लड़के को जन्म देकर संतानवती बन जाती है। इधर सतीश का बाप बेटे के आचार-व्यवहार से अप्रसन्न होकर अपनी सारी संपत्ति सार्वजनिक हित के लिये दान करके मर जाता है। सतीश हताश होकर दफ्तर से रुपया गबन करता और जो आर्थिक सहायता लड़का पैदा होने के पहले उसके मामा और मामी उसे देते रहे उसे चुकाने के उद्देश्य से गबन किया हुआ सारा रुपया मामी को सौंप देता है। उसके बाद वह आत्महत्या करने की बात सोचता है, पर स्वयं आत्महत्या करने के पहले अपने स्वार्थ में विघ्नस्वरूप मामा के लड़के हरेन की हत्या एक पिस्तौल द्वारा करना चाहता है। ऐन मौके पर सारी स्थिति उसके सहृदय मामा के निकट साफ हो जाती है और वह उसे समझा-बुझाकर और आश्वासन देकर बचा लेते हैं।

'शोध-बोध' कई वर्ष पूर्व लिखे गये 'कर्मफल' नामक एक नाटिका का रूपांतर है। पात्रों के नाम, घटनाओं का क्रम कथोपकथन आदि वही हैं। कोई विशेष अंतर नहीं दिखाई देता। इस यथार्थवादी नाटक में नाटकीय चातुरी की रक्षा पूरी तरह हुई है। कथोपकथन की भाषा भी प्रत्येक पात्र के स्वभाव और चरित्र के अनुरूप सहज और स्वाभाविक है। सतीश और नलिनी की बातचीत में अँगरेजी शब्दों की भरमार रहती है। आधुनिक नाटकीय कला की दृष्टि से 'शोध-बोध' सुन्दर और रोचक है, पर इसमें 'गृहप्रवेश' की तरह ही वह भावात्मक गंभीरता नहीं पायी जाती जो रवीन्द्रनाथ के नाटकों की विशेषता है।

'नटीर पूजा' भी इसी युग की रचना है। इस नाटक का कथानक 'कथा'

की 'पुजारिणी' नाम की कहानी से लिया गया है। अजातशत्रु के राज्य में बुद्ध के जन्म-दिन के अवसर पर उत्सव मनाने और स्तूप की पूजा करने की सख्त मनाही है। निषेध की अवज्ञा करनेवाले को मृत्युदंड दिये जाने का आदेश जारी कर दिया गया है। पर श्रीमती नामकी नटी बुद्ध के प्रति आंतरिक भक्ति-भावना से प्रेरित होकर इस आज्ञा का उल्लंघन करके मृत्यु को सहर्ष वरण करती है।

नाटकों और कविताओं के अतिरिक्त कुछ विशेष राजनीतिक निबंध भी इसी समय (१९२५-२६ में) कवि ने लिखे। विख्यात वैज्ञानिक प्रफुल्लचन्द्र राय ने, जो चर्खा आंदोलन के बड़े पक्षपाती थे, एक सार्वजनिक सभा में कवि के चर्खा-विरोधी विचारों की कड़ी आलोचना की। कवि ने उत्तर में 'स्वराज्य-साधन' शीर्षक एक निबंध लिखा। उस निबंध में उन्होंने यह सिद्ध करना चाहा कि चर्खे की उपयोगिता चाहे कैसी ही बड़ी क्यों न हो, वह कभी वास्तविक स्वराज्य प्राप्त करने का प्रमुख साधन नहीं हो सकता। चर्खे से उनका कोई विरोध नहीं था, पर चर्खा-आंदोलन के आडंबर को वह संदेह की दृष्टि से देखते थे।

बुढ़ापे में यौवन

मई १९२६ को वह आठवीं बार योरोप-यात्रा के लिये निकल पड़े। मुसोलिनी का निमंत्रण पाकर ३१ मई को वह रोम पहुँचे। मुसोलिनी ने स्वयं उनका स्वागत किया। वह उनसे मिलकर बहुत प्रसन्न हुआ और उसने बताया कि उसने कवि की वे सब रचनाएँ पढ़ी हैं जिनका अनुवाद इटालियन भाषा में हो चुका है। इटली के राजा और रानी से भी कवि मिले। रोम विश्वविद्यालय तथा अन्य सांस्कृतिक संस्थाओं ने उन्हें बड़े उत्साह के साथ अभिनंदित किया। सुप्रसिद्ध इटालियन दार्शनिक और साहित्य-मर्मज्ञ बेनेदेतो क्रोचे भी उनसे प्रेमपूर्वक मिले। इटालियन पत्रों में उनके स्वागत के समाचारों की धूम मच गयी। कई पत्रों के रिपोर्टर उनसे मिले। बातचीत के सिलसिले में और रिपोर्टरों के प्रश्नों के उत्तर में कवि ने जो कुछ कहा उसे विकृत और मनमाना रूप देकर इटालियन पत्रों ने बड़े-बड़े 'हेडलाइन' देकर छापा। यह छापा गया कि कवि इटली में फासिस्ट शासन की प्रगति से बहुत प्रसन्न हैं और कहते हैं कि फासिज्म दूसरे देशों के लिये भले ही अनुपयुक्त हो, पर इटली के लिये राष्ट्रीयता का यही रूप उपयोगी है।

जब इस तरह के समाचार दूसरे देशों के लोगों ने पढ़े तब सबको स्वभावतः बहुत दुःख और यह सोचकर आश्चर्य हुआ कि चिर-दिन मानवीय स्वतंत्रता का पाठ पढ़ानेवाले कवि के विचारों में इस तरह का विकृत परिवर्तन कैसे आ गया। जब कवि इटली से स्विटजरलैण्ड गये और वहां रोमां रोलां से मिले तब रोमां रोलां ने उन्हें बताया कि इटालियन पत्रों में उनके संबंध में जो समाचार छपे हैं उनसे बड़ी गलतफहमी फैल रही है। कवि के आगे जब स्थिति की यथार्थता प्रकट हुई तब उन्होंने बड़े कड़े शब्दों में इटालियन रिपोर्टरों द्वारा प्रचारित गलत बातों का खंडन किया। उनका एक खंडनात्मक पत्र 'मैनचेस्टर गार्जियन' में भी छपा था।

स्विट्जरलैण्ड से उन्होंने इंगलैण्ड, फ्रांस, आस्ट्रिया, नार्वे, स्वेडन, डेनमार्क, जर्मनी, चेकोस्लोवाकिया, हंगरी, यूगोस्लाविया, बुलगारिया, रूमानिया, टर्की, यूनान, मिस्र आदि देशों में भ्रमण किया। सर्वत्र उनका वैसा ही स्वागत हुआ जैसा पिछली यात्रा में हुआ था।

इटली यात्रा के दौरान में जब कवि वहाँ के सुप्रसिद्ध सांस्कृतिक नगर फ्लोरेन्स पहुँचे थे और वहाँ के विश्वविद्यालय में शांतिनिकेतन के संबंध में उन्होंने भाषण दिया था, तब विश्वविद्यालय के संस्कृत-अध्यापक पेवोलिनी ने यह स्वरचित श्लोक पढ़कर कवि को अभिनंदित किया था :

पुष्पपुरमितिख्यातं
श्रुत्वा वाक्यामृतं गुरोः।
एतत्यभिनवां संज्ञां
फलपुरमतः परम्।

फ्लोरेन्स का अर्थ 'फूलपुर' होता है। उक्त श्लोक का अर्थ इस प्रकार है : "पहले यह नगर पुष्पपुर नाम से ख्यात था। अब गुरुदेव के वाक्यामृत सुनने के बाद से इसे 'फलपुर' की अभिनव संज्ञा प्रदान की जायगी।"

१९ दिसंबर १९२६ को कवि भारत लौट आये। १९२७ के आरंभ ही से फिर यात्राक्रम चल पड़ा। उसी वर्ष वह भरतपुर में हिंदी साहित्य सम्मेलन के सभापति की हैसियत से गये। वहाँ से जयपुर, आगरा, अहमदाबाद आदि स्थानों में उन्होंने भ्रमण किया। उसी वर्ष जुलाई में वह नवीं विदेश यात्रा के लिए निकल पड़े। इस बार उन्होंने मलय, जावा, बाली, श्याम आदि पूर्वी स्थानों की यात्रा की। सिंगापुर से मलाया और पेनांग होते हुए ये लोग बटाविया पहुँचे। रास्ते में सर्वत्र जनता की अपार भीड़ उनका स्वागत करती रहती थी। जावा के संबंध में कवि की लिखी एक कविता जब बटाविया के नागरिकों की एक सभा के बीच में पढ़ी गयी और जावा की भाषा में उसका अनुवाद उपस्थित जनता को सुनाया गया तब हर्ष-ध्वनि से सारा वातावरण गूँज उठा। वहाँ से कवि श्याम गये। वहाँ श्याम-निवासियों, चीनियों, भारतीयों और अँगरेजों की एक सम्मिलित

सभा में कवि को अभिनंदित किया गया। २७ अक्तूबर को वह कलकत्ता लौट आये।

केवल दो महीना आराम करके कवि अदयार गये और श्रीमती एनी बेसेन्ट के यहाँ ठहरे। वहाँ से पांडिचेरी गये और अरविन्द से मिले। अरविंद के प्रति कवि के मन में पहले ही से सम्मान का भाव वर्तमान् था। कई वर्ष पूर्व उन्होंने एक कविता में लिखा था : "अरविन्द, रवीन्द्रेर लहो नमस्कार।" (अरविंद, रवीन्द्र का नमस्कार स्वीकार करो।) इस बार भी वह वही भावना लेकर लौटे।

इसी बीच कवि के दो उपन्यास प्रकाशित हुए : 'योगायोग' और 'शेषेर कविता'। 'योगायोग' 'विचित्रा' नाम की मासिक पत्रिका में धारावाहिक रूप से छपा था। उपन्यास के आरंभ में दो वंशों की परपरागत शत्रुता का इतिहास दिया गया है। दोनों वंश इस पुश्तैनी लाग-डाँट के फलस्वरूप धन और प्रतिष्ठा सब खो चुके हैं। इनमें से एक है घोषाल वंश और दूसरा है चक्रवर्ती वंश। उपन्यास की कथा आरंभ होने के समय घोषाल वंश का मधुसूदन आर्थिक दृष्टि से समाज के ऊपर उठ चुका है। वह अपने अर्थ के बल पर प्रतिद्वन्द्वी चक्रवर्ती वंश की सुन्दरी लड़की कुमुदिनी से विवाह कर लेता है। यह विवाह वह प्रेम से नहीं बल्कि प्रतिहिंसा से करता है। कुमुदिनी प्राचीन आदर्श के अनुसार पति को देवता मानती है। वह नहीं जानती कि उसके पति ने उसके वंश-गौरवाभिमानी भाई को नीचा दिखाने के लिए उससे विवाह किया है। कुमुदिनी अपने सरल, शांत, धीर और गंभीर स्वभाव के अनुसार चुपचाप घर के काम-काज में मन लगाती है और अपने सच्चे स्नेह द्वारा पति के मन को जीतना चाहती है। पर मधुसूदन के उद्धत स्वभाव में कोई अंतर नहीं आता। उसके पास धन का मद है, पर आभिजात्य की शालीनता नहीं। कुमुदिनी को निस्तेज समझ कर वह अपनी एक नौकरानी से प्रेमालाप करने लगता है। कुमुदिनी के धैर्य की सीमा पार हो जाती है। वह धीरे-धीरे अपनी स्थिति की वास्तविकता समझने लगती है और मधुसूदन के प्रति उसके मन में घृणा उत्पन्न होने

लगती है। उसकी घृणा से परिचित होने पर मधुसूदन का विकृत मन उसकी ओर आकर्षित होने लगता है। कुमुदिनी अपने मन को उस ग्लानि-कारक स्थिति के ऊपर उठा ले जाती है, और मधुसूदन दिन पर दिन अपनी पत्नी को गौरव-गरिमा के आगे श्रीहीन होता चला जाता है। फिर एक बार वह कुमुदिनी के हृदय का स्वामी बनने के लिए सचेष्ट हो उठता है। पर यह प्रयत्न व्यर्थ होने पर कुमुदिनी के यौवन के प्रति उसकी लालसा तीव्र हो उठती है। कुमुदिनी परिस्थिति की विवशता के कारण अनिच्छा से आत्म-समर्पण करती है। पर उसकी यह अनिच्छा मधुसूदन को और अधिक चंचल और अशांत बना देती है। अंत में वह अपनी नौकरानी श्यामा के साथ खुल्लमखुल्ला प्रेम-संबंध स्थापित कर लेता है। असह्य घृणा और ग्लानि से पीड़ित होकर कुमुदिनी अपने भाई के घर चली जाती है। पर जब उसे पता चलता है कि वह ससुराल से गर्भवती होकर आयी है तब वह न चाहने पर भी फिर ससुराल लौट जाने को विवश होती है। वहाँ जाकर वह देखती है कि उसका पति अब भी नौकरानी से प्रेम-संबंध बनाये हुए है।

कथा-योजना और चरित्र-चित्रण दोनों दृष्टियों से उपन्यास सुंदर है, पर उसके गठन में बीच-बीच में कई स्थानों पर शिथिलता आ गयी है। मनोविश्लेषण की ऐसी सूक्ष्मता रवीन्द्रनाथ के अन्य किसी उपन्यास में नहीं पायी जाती।

'शेषेर कविता' एक रोमांटिक उपन्यास है। इसके पात्र और पात्रियाँ उच्च मध्यवर्ग के आधुनिकतम शिक्षा-प्राप्त युवक और युवतियाँ हैं जिनके चरित्र में कोई विशेष विकृति न होने पर भी कोई गहराई या ठोसपन नहीं है। फिर भी ये पाश्चात्य शिक्षाभिमानी पात्र साहित्य और जीवन में प्रगति संबंधी बड़ी-बड़ी बातें करते हैं। उदाहरण के लिए उपन्यास का नायक अमित, जो एक संपन्न बैरिस्टर का लड़का है और आक्सफोर्ड में शिक्षा पाये हुए है, यह मत रखता है कि रवीन्द्रनाथ की कविता पुरानी पड़ गयी है और निवारण चक्रवर्ती नये युग का सर्वश्रेष्ठ कवि है। शिलांग में एक मोटर

दुर्घटना के फलस्वरूप लावण्य नाम की एक नव-शिक्षिता और मध्यवित्त परिवार की लड़की से उसका परिचय हो जाता है और वह उसे चाहने लगता है। लावण्य स्वयं भी उसकी ओर आकर्षित होती है, पर जब अमित उससे विवाह का प्रस्ताव करता है तब यह सोचकर कि धनी परिवार के लड़के उसके योग्य नहीं हैं और अमित उसे उसके लिये नहीं बल्कि उस पर अपनी एक कल्पित मानस-प्रतिमा का रंग चढ़ाने के कारण चाहता है, वह आनाकानी करने लगती है। पर अमित उसे नहीं छोड़ना चाहता। अंत में जब दोनों विवाह के लिए कलकत्ता जाने की तैयारी करते हैं तब अकस्मात् अमित को उसकी बहन सीसी का एक तार इस आशय का मिलता है कि वह अपनी संगिनी केटी के साथ शिलांग आ रही है। सीसी और केटी को यह संदेह होने लगता है कि लावण्य अमित के धन के लोभ से उससे विवाह करने के लिए तैयार हुई है। इधर केटी पहले से अमित को चाहती थी और कभी अमित भी उसके प्रति उदासीन नहीं था। लावण्य के आगे सारी स्थिति कुछ दूसरे ही प्रकाश में आने लगती है। वह समझ जाती है कि अमित से उसका विवाह उसकी व्यक्तिगत, पारिवारिक और सामाजिक परिस्थितियों के अनुकूल सिद्ध न होगा। इस बीच उसके एक पूर्व साथी शोभन लाल का स्नेहपूर्ण पत्र उसे मिलता है। शोभन लाल पिछले सात वर्षों से उसे चाहता था और लावण्य की उदासीनता के बावजूद उसे अभी तक नहीं भूल पाया था। बहुत सोचने के बाद लावण्य अमित से साफ-साफ कह देती है कि वह उससे विवाह नहीं कर सकती। वह चली जाती है—बिना यह बताये कि वह कहाँ जा रही है। उपसंहार से पता चलता है कि लावण्य शोभन लाल के पास चली जाती है और अमित केटी से स्थायी संबंध स्थापित कर लेता है।

आज के युग के चंचल-प्राण कविता में बात करने वाले और अपरिपक्व-बुद्धि युवक-युवतियों की मानसिकता का बहुत ही सुन्दर विश्लेषण और चित्रण इस छोटे-से उपन्यास में हुआ है।

कवि की कविता के कुछ प्रेमियों ने यह आग्रह किया है कि वह अपनी

कुछ चुनी हुई प्रेम विषयक कविताओं का एक संग्रह अलग से छपवा डालें, जिसमें उनको इसी विषय की कुछ नयी कविताएँ भी जोड़ दी जायँ। इस सुझाव से चिर-युवा कवि के मन में वृद्धावस्था में कुछ कौतुक जगा। उन्होंने पिछली कविताओं में से चुन-चुन कर एक संग्रह तैयार कर दिया और कुछ नयी कविताएँ उसमें जोड़ कर संग्रह का नाम रखा 'महुआ'। बुढ़ापे में कवि ने भी अपने भीतर जवानी का जो पान-पात्र छिपाकर रखा था उसमें महुए का मादकरस ढाल कर जो नयी प्रेम-कविताएं उन्होंने लिखीं उनमें खोये हुए यौवन को मधुर मोह-भावना तो लौट कर नहीं आयी, पर उनसे फूटी हुई धाराएँ एक अपूर्व और स्वस्थ रसायन के रूप में बाहर बह निकलीं। एक नयी कविता में वृद्ध कवि के भीतर का नव-जाग्रत युवा कहता है :

आमरा दुजना स्वर्ग-खेलना गड़िबो ना धरणीते,
मुग्ध-ललित, अश्रु-गलित गीते।
पञ्चशरेर वेदना-माधुरी दिये
वासर-रात्रि रचिबो ना मोरा, प्रिये।
भाग्येर पाये दुर्बल प्राणे भिक्षा न जेन जाचि।
किछु नाइ भय, जानि निश्चय तुमि आछो, आमि आछि।

"हम दोनों इस पृथ्वी पर स्वर्ग के खिलौने का निर्माण नहीं करेंगे और मोह-मुग्धकारी, ललित और आँसुओं से गले हुए गीत भी नहीं गायेंगे। प्रिये, पंचशर की वेदना-माधुरी द्वारा सुहाग-रात की रचना नहीं करेंगे। भाग्य के पैरों पर गिड़गिड़ाकर, दुर्बल प्राण लेकर हम भिक्षा न माँगें। भय की क्या बात है। इतना हम निश्चित रूप से जानते हैं कि तुम हो और मैं हूँ।"

उड़ाबो ऊर्द्ध्वे प्रेमेर निशान दुर्गम पथ माझे
दुर्द्दम वेगे, दुःसहतम काजे।

"हम दोनों जीवन के दुर्गम पथ के बीच ऊपर बहुत ऊँचाई में प्रेम की पताका फहरायेंगे और दुर्दमनीय वेग से दुःसहतम कामों में जुटे रहेंगे।"

फरवरी १९२९ को कवि 'शिक्षा-संबंधी राष्ट्रीय सम्मेलन' का निमंत्रण पाकर जापान होकर कनाडा गये। सम्मेलन वैंकोवर में था। वहाँ पहुँच कर उन्होंने 'अवकाश का दर्शन' इस विषय पर भाषण दिया। वहाँ हार्वर्ड तथा कोलंबिया विश्वविद्यालयों में उन्हें निमंत्रण मिले। उक्त दोनों स्थानों में होकर, वह जापान लौट आये। उसके बाद हो कर वह ५ जुलाई को कलकत्ता लौट आये। वह उनकी दसवीं विदेश-यात्रा थी। उसके बाद आठ महीने वह देश में रहे। इस अंतर्काल में उन्होंने प्रायः चालीस वर्ष पूर्व लिखे गये अपने 'राजा ओ रानी' नामक नाटक का पुनरुद्धार 'ताप्ती' नाम से किया। 'प्रायश्चित्त' नामक नाटक का भी रूपांतर किया और 'परित्राण' नाम से उसे छपाया। इन्हीं दिनों बड़ौदा से उन्हें निमंत्रण मिला। वहाँ जाकर बड़ौदा कालेज में उन्होंने कई व्याख्यान दिये।

चित्रकार

अगले वर्ष, मार्च १९३० को, कवि ने अपने पुत्र रथीन्द्रनाथ ठाकुर और पुत्रवधू प्रतिमा देवी के साथ ग्यारहवीं विदेश-यात्रा की। कोलम्बो होकर २६ मार्च को वह मार्सेल पहुँचे। वहाँ चेकोस्लोवाकिया के तत्कालीन राष्ट्रपति जनरल मसरिक से उनकी भेंट हुई। वहाँ से वह पेरिस गये। पेरिस में उन्होंने अपने कलाकार के जादू-भरे झोले से एक नया आश्चर्य निकाला।

इतने दिनों तक संसार उन्हें कवि और साहित्यकार के रूप में ही जानता था। इस बार पेरिस में पहली बार संसार ने चकित होकर देखा कि कवि एक प्रथम कोटि के चित्रकार भी हैं। वहां की सुप्रसिद्ध 'गालेरी पिगाल' में उनके चित्रों की प्रदर्शनी हुई। पत्रों द्वारा पहले ही प्रदर्शनी के संबंध में काफी विज्ञापन हो चुका था। पेरिस संसार के श्रेष्ठ चित्रकारों का प्रमुख अड्डा है। इसलिए पेरिस में कवि के चित्रों की प्रदर्शनी होने से यह सुविधा हो गयी कि संसार के चोटी के चित्रकारों और कला-मर्मज्ञों ने कवि के चित्रों को देखा। देखकर सब लोग चकित और मुग्ध हो गये। बड़े-बड़े प्रसिद्ध चित्रकारों की कृतियों के साथ उनके चित्रों की तुलना की जाने लगी। कला-संबंधी प्रमुख फ्रांसीसी पत्रों और साधारण संवादपत्रों में भी उन चित्रों की चर्चा, प्रशंसा और आलोचना होने लगी। कला-मर्मज्ञों ने अधिकतर प्रशंसा ही की।

चित्र-रचना का शौक कवि को प्रारंभ ही से था। पर इसके पहले उन्होंने कभी पूरे परिश्रम से जुटकर चित्र नहीं बनाये थे। जब कविता लिखते-लिखते किसी शब्द या पंक्ति से असंतुष्ट होकर वह उसे काट देते थे तब पांडुलिपि के बीच में वह कटा हुआ रूप उनके कलाकार की सुरुचिपूर्ण आँखों को भद्दा लगने लगता था। उस भद्देपन को दूर करने के उद्देश्य से

वह उस कटे हुए अंश को चित्र-रूप में परिणत करने के लिए उत्सुक हो उठते थे और बिना किसी पूर्व योजना के उस अंश के ऊपर कलम फेरते हुए कभी उसे किसी चिड़िया के रूप में बदल देते थे, कभी किसी विचित्र जानवर की आकृति में परिवर्तित कर डालते थे और कभी किसी निराले पेड़, पौदे या फूल के रूप में।

यह प्रवृत्ति धीरे-धीरे विकसित होती चली गयी और कवि अवकाश के क्षणों में स्वतंत्र रूप से चित्र बनाने लगे। शब्दों द्वारा अरूप को रूप में बाँधने की कला के विकास को वह चरम सीमा तक पहुँचा चुके थे। इसलिए अब रंगों और रेखाओं द्वारा अमूर्त को मूर्त रूप देने के लिए वह उत्सुक हो उठे। इतने दिनों बाद कवि को शब्द और ध्वनि की भाषा की सीमा का बोध हुआ और वह यह अनुभव करने लगे कि अवचेतना की अतल गहराई में निहित निगूढ़ भावों की पूर्ण अभिव्यक्ति केवल शब्द-काव्यों या ध्वनि-चित्रों द्वारा नहीं हो सकती। और उसके लिये रेखाओं और रंगों की भाषा की सहायता की नितांत आवश्यकता है! रेखाओं और रंगों की भाषा के महत्त्व के संबंध में किसी का मतभेद नहीं हो सकता, पर इसका यह अर्थ कदापि नहीं समझा जाना चाहिए कि शब्दों की भाषा और ध्वनि-चित्र महत्त्वहीन हैं। प्राचीनतम काल से कवियों और ज्ञानियों ने मानवात्मा के गहन भाव-वेदनाओं और विश्वात्मा के अनिर्वचनीय रहस्यों को वाणी में बाँधने के भगीरथ प्रयत्नों में जो आश्चर्यजनक आपेक्षिक सफलता पायी है उसके महत्त्व को सहज में खर्व नहीं किया जा सकता। पर कवि ने जब रेखाओं और रंगों की सांकेतिक भाषा का प्रयोग करना आरंभ किया तब उसके पक्ष में वह कुछ अतिरंजना से बातें करने लगे। उनके रहस्यपूर्ण चित्रों की विचित्रता से प्रभावित होकर जब जिज्ञासु लोग उनके मूलगत भावों का स्पष्टीकरण चाहने लगे तब कवि ने रहस्यमयी भाषा में इस प्रश्न का उत्तर इस प्रकार दिया :

"शब्दों की भाषा अनंत-विस्तृत मौन-जगत् का एक बिंदुमात्र है। विश्व की अमर वाणी इंगितों द्वारा ही व्यक्त होती है। विश्वात्मा सदा चित्रों और

नृत्य की भाषा में ही बोलती है। संसार की प्रत्येक वस्तु रेखाओं और रंगों द्वारा यह जताती है कि वह सृष्टि का तर्क-सिद्ध परिणाम या उपयोग की वस्तु भर नहीं है। वह अपनी स्वतंत्र अभिव्यक्ति में स्वयं पूर्ण है और अपने निगूढ़ रहस्य की वाटिका भी।

"इस विश्व में ऐसी असंख्य वस्तुएँ हैं जिनसे हम बाहरी दृष्टि से परिचित अवश्य रहते हैं, पर जिनके संबंध में इस तथ्य को स्वीकार नहीं करना चाहते कि उनका अपना एक स्वतंत्र अस्तित्व भी है—हमारे अपने लाभ या हानि से परे। फूल का अस्तित्व फूल के रूप में ही अपने-आपमें पूर्ण है। पर मेरी सिगरेट अपने अस्तित्व का दावा केवल इस रूप में करती है कि वह मेरी धूम्रपान की आदत के लिए उपयोगी है।

"कुछ चीजें ऐसी हैं जिनके रूप में अपनी एक निजी विशिष्टता पायी जाती है। उसी विशिष्टता के कारण हमें उनका अस्तित्व स्वीकार करना पड़ता है। वे वस्तुएँ एक प्रकार के वाक्य हैं जो सृष्टि के पृष्ठों पर रंगीन पेंसिल से लिखे हुए हैं। हम उनकी ओर से आँख नहीं मूँद सकते। वे जैसे हमें संबोधित करते हुए सहसा बोल उठते हैं : "देखो, यह हम हैं?" और हमारा मस्तिष्क बिना यह तर्क किये कि 'तुम यहाँ क्यों हो?' उनके अस्तित्व को चुपचाप स्वीकार कर लेता है।

"चित्रकार अपने चित्र में असंदिग्ध यथार्थता की वाणी को रूप देता है। हम उसे देख कर ही तृप्त हो जाते हैं। भले ही वह चित्र किसी सुन्दरी का न होकर एक गधे का हो, या किसी ऐसी वस्तु का हो जो अपने कलात्मक अस्तित्व के अतिरिक्त प्रकृति के किसी नैतिक या उपयोगात्मक सत्य का दावा न करती हो।"

"लोग अक्सर मुझसे मेरे चित्रों का अर्थ और उद्देश्य पूछते रहते हैं। उनके प्रश्न के उत्तर में मैं अपने चित्रों की तरह ही मौन बना रहता हूँ। उन्हें समझाना मेरा काम नहीं है। यह काम मेरे चित्रों का है कि वे अपने आशय को स्पष्ट करें। यदि वे अपने भीतर स्वयं अपने स्वतंत्र अस्तित्व की पूर्णता समाहित किये हुए हैं तो वे बने रहेंगे,

अन्यथा किसी वैज्ञानिक सत्य या नैतिक औचित्य के बावजूद वे नष्ट हो जायेंगे।"

जब कवि मास्को गये थे तब वहाँ भी उनके चित्रों की प्रदर्शनी हुई थी। वहाँ जब एक चित्रकला-विशेषज्ञ ने उनसे उनके एक चित्र के संबंध में प्रश्न किया कि "इस चित्र में क्या भाव निहित है?" तब कवि ने उत्तर दिया था: "इसमें भाव ('आइडिया') कुछ भी नहीं है। यह केवल एक चित्र है। भाव शब्दों में होते हैं जीवन में नहीं।"

कहना न होगा कि कवि की इस तरह की बातों से वास्तविकता कुछ भी स्पष्ट न हो पायी। यदि किसी चित्र के पीछे कोई विशेष भाव न हो और वह केवल एक चित्र हो, तो किसी बच्चे द्वारा तैयार किये गए 'ड्राइंग' और किसी कलाकार द्वारा अंकित चित्र में कोई विशेष अंतर न रह जाय। हम यह मानते हैं कि रवीन्द्रनाथ द्वारा अंकित अधिकांश चित्रों में कोई सचेत उद्देश्य या सचेष्ट योजना नहीं रहती थी। पर यह असंभव है कि उनकी अगाध रहस्य-भरी अवचेतना प्रत्येक चित्र के भीतर उनके अज्ञात में कोई-न-कोई निश्चित भाव न भरती रहती हो। अति-यथार्थवादी (सुर-रियलिस्ट) कलाकार भी बिना किसी पूर्व योजना के, अवचेतनगत अस्पष्ट और अपरिस्फुट भावों को खुली छूट देकर, उन्हीं अज्ञात भावों के प्रवाह में बह कर विचित्र—और प्रकट में असंबद्ध तथा अर्थहीन—चित्रों को अंकित करते रहते हैं। पर पारखियों से उन असंबद्ध चित्रों के भीतर निहित कलाकार के गूढ़ मनोभाव छिप नहीं सकते। इसलिए आज के युग में, जब कि मनोविश्लेषिक विज्ञान बहुत उन्नति कर चुका है, कोई कलाकार यह कह कर सहज में छुट्टी नहीं पा सकता कि उसके चित्र केवल चित्र हैं और वे अपने-आपको व्यक्त करते हैं—किसी अन्तर्निहित भाव को नहीं। सभी चित्रों में—और विशेषकर अति-यथार्थवादी चित्रों में—कलाकार किसी बाहरी प्रतिकृति को नहीं बल्कि स्वयं अपनी वैयक्तिक या सामूहिक अवचेतना की अतल गहराई में दबे पड़े भावों को प्रकाश में लाता है और रूप देता है।

रवीन्द्रनाथ के चित्र बहुत कुछ अंशों में अति यथार्थवादी (सुररियलिस्ट) कला के अंतर्गत आते हैं। चिर-युवा कवि के स्वभाव की यह बहुत बड़ी विशेषता रही है कि भूत और भविष्य के सभी युगों से भाव-तादात्म्य कायम रखते हुए भी वह युग-प्रगति में कभी किसी से पिछड़े नहीं रहे। हर युग के हर प्रगतिशील कदम से कदम मिलाते हुए वह बराबर आगे ही बढ़े रहे, इसलिए अतियथार्थवादी चित्रकला के प्रधान गढ़ में वह कभी अपने चित्रों के प्रदर्शन के लिए राजी न होते यदि उन्हें यह विश्वास न होता कि ऊपरी फैशन में भी वह युग से पीछे नहीं हैं। यदि हम अति-यथार्थवादी कला की दृष्टि से कवि के चित्रों को देखें तो उनकी सारी रहस्यमयता जाती रहती है और हमें उनमें कवि के अगाध अंतर्सागर की अतलता में निहित वे भाव सुस्पष्ट प्रस्फुटित दिखायी देने लगते हैं जो उनके शब्द-चित्रों में व्यक्त नहीं हो पाये थे।

१९२८ में कवि को आक्सफोर्ड की सुप्रसिद्ध हिबर्ट व्याख्यानमाला के सिलसिले में बोलने के लिए निमंत्रण मिला था। पर जब वह जाने की तैयारी कर रहे थे तब बीमार पड़ गये थे। वह निमंत्रण १९३० में फिर दुहराया गया। तब कवि ने 'मनुष्य का धर्म' ('दि रिलीजन आफ मैन') पर चौदह व्याख्यान दिये थे। १९३१ में ये व्याख्यान पुस्तक रूप में प्रकाशित हुए। इस पुस्तक में कवि और दार्शनिक का समन्वित रूप सामने आता है। कवि ने इन व्याख्यानों में यह विश्वास प्रकट किया है कि उन्नत मानवीय प्रवृत्तियों के समुचित वैयक्तिक तथा सामूहिक विकास द्वारा जीवन की व्यापक विषमता दूर हो सकती है और इसी पृथ्वी पर शांतिपूर्ण स्वर्गिक समता का जो स्वप्न युगों से ज्ञानी लोग देखते चले आये हैं वह सत्य में परिणत हो सकता है। मानवत्व के सम-सामूहिक और बहिरंतर विकास को ही उन्होंने विश्वात्मा की पूर्ण उपलब्धि का एकमात्र उपाय माना है।

जब कवि लंदन पहुँचे तब गांधीजी के दांडी-अभियान के फलस्वरूप नमक सत्याग्रह पूरे जोरों पर था। हजारों आदमी जेल जा चुके थे। शोलापुर में मार्शल ला घोषित कर दिया गया था और सरकार नये-नये

आर्डिनेन्सों द्वारा जनता को आतंकित कर रही थी। कवि ने इस संबंध में भारत-सचिव से सुस्पष्ट बातें कीं। 'क्वेकर्स' की वार्षिक सभा में भाषण देते हुए उन्होंने भारत में ब्रिटिश नीति की कड़ी आलोचना की जिसके फलस्वरूप बहुत-से कट्टरपंथी अँगरेज श्रोता बहुत भड़क उठे और उन्होंने सभा में बड़ा ऊधम मचाना शुरू कर दिया। कवि इस उपद्रव से तनिक भी न घबराये। उन्होंने स्पष्ट शब्दों में, निर्भीकता से कहा कि समय आ गया है कि ब्रिटिश लोग सावधान हो जायें और इतिहास की इस घटना को न भुलावें जिसके फलस्वरूप अमेरिकनों ने अपने ही भाइयों के हाथ से शासन-शक्ति छीनकर स्वतंत्रता की घोषणा की थी।

लंदन में भी उनके चित्रों का प्रदर्शन इंडिया सोसाइटी के तत्त्वावधान में और फ्रेंसिस यंगहसबैंड की अध्यक्षता में हुआ। लंदन से वह बर्लिन गये। वहां भी कला-मर्मज्ञों के आग्रह पर उनके चित्र प्रदर्शित हुए। पारखियों ने उनकी बड़ी प्रशंसा की। बर्लिन के राष्ट्रीय कला भवन ने बर्लिन आर्ट म्यूजियम के लिए कवि के पाँच चित्र प्राप्त कर लिये।

१४ जुलाई, १९३० को कवि संसार के सर्वश्रेष्ठ जीवित वैज्ञानिक आलबर्ट आइनस्टाइन से कापुट नामक स्थान में मिले। आधुनिक वैज्ञानिक सभ्यता का विरोध करने पर भी कवि का झुकाव विज्ञान की ओर प्रारंभ ही से था और वह आत्मोपलब्ध आध्यात्मिक सत्यों का वैज्ञानिक आधार खोजने के लिए बराबर उत्सुक रहते थे। आइनस्टाइन पहला वैज्ञानिक है जो आधुनिक विज्ञान को भौतिक सीमा के परे अभौतिक रहस्यमयता की ओर खींच ले जाने में सफल सिद्ध हुआ है। इसलिए कवि उससे मिल कर बातें करने के लिए बहुत उत्सुक थे।

विज्ञानाचार्य ने कवि से प्रश्न किया : "क्या आप ईश्वरीय सत्ता को संसार से अलग और स्वतंत्र सत्ता मानते हैं?"

"नहीं", कवि ने उत्तर दिया, "मेरा यह विश्वास है कि मनुष्य का सीमाहीन व्यक्तित्व ही किसी-न-किसी रूप में सारे विश्व में छाया हुआ है। इससे यह प्रमाणित होता है कि विश्व का सत्य मानवीय सत्य से अविच्छिन्न

रूप से जुड़ा है। एक वैज्ञानिक उदाहरण द्वारा मैं अपनी बात को समझाना चाहता हूँ। ठोस पदार्थ प्रोटोन तथा इलेक्ट्रन नामक सूक्ष्मतम परमाणुओं की समष्टि है जो एक-दूसरे से स्वतंत्र और अविच्छिन्न होने पर भी एक बहुत ही सूक्ष्म और अविच्छिन्न तत्त्व द्वारा एक-दूसरे से सबद्ध हैं। उसी प्रकार मानवता स्वतंत्र व्यक्तियों की समष्टि होने पर भी वे व्यष्टियाँ मानवीय भावनाओं के समान सूत्र द्वारा एक-दूसरे से जुड़ी हैं। उसी प्रकार समग्र विश्व अपने नानात्व के माध्यम से एकत्व के समान सूत्र में ग्रथित है। प्रकट में विराट विश्व की सत्ता मानवीय सत्ता से अलग मालूम होती है, पर वास्तविकता यह है कि मानवीय सत्ता विश्व-सत्ता के भीतर ईथर की तरह व्याप्त है।"

"विश्व के संबंध में प्रधानतः दो प्रकार की धारणाएँ पायी जाती हैं", विज्ञानाचार्य ने कहा। "एक तो यह कि विश्व मानवीय सत्ता पर आधारित एक अविभाज्य समष्टि है; दूसरी यह कि विश्व मानवीय सत्ता से संबंध-रहित एक स्वतंत्र सत्ता है।

"जब विश्व अनंतव्यापी मानवीय सत्ता के साथ सामंजस्यात्मक संबंध स्थापित कर लेता है," कवि ने उत्तर दिया, "तभी वह परिपूर्ण सत्य और चिर-सुंदर के रूप में हमारे आगे व्यक्त हो पाता है, अन्यथा नहीं।"

"पर यह केवल विशुद्ध मानवीय दृष्टिकोण है", विज्ञानाचार्य बोले, "विश्व के निरपेक्ष सत्य से इसका कोई संबंध नहीं है।"

"पर मैं इसी को एकमात्र वास्तविक दृष्टिकोण मानता हूँ", कवि ने कहा। "यह ठीक है कि आधुनिक विज्ञान वैयक्तिक सत्ता से कोई संबंध न रखकर तथाकथित निरपेक्ष सत्य के विशुद्ध बौद्धिक स्वरूप की खोज करना चाहता है। पर वह बुद्धि भी मानवीय बुद्धि है। इसलिए कोई भी वैज्ञानिक सत्य प्रकट में चाहे कैसा ही स्वतंत्र या निरपेक्ष क्यों न लगे वह मानवीय सत्ता की सीमाहीन व्यापकता के संसर्ग से मुक्त नहीं हो सकता।"

"तब आपका यह निश्चित विश्वास है कि सत्य या सुन्दर मानवीय अनुभूति से अपनी कोई स्वतंत्र सत्ता नहीं रखता ?"

"आपने मेरे दृष्टिकोण को ठीक समझा है।"

"यदि एक भी मानव-प्राणी इस संसार में न रहे तो सौन्दर्य के देवता अपोलो की सुन्दरता का कोई अर्थ न रह जाय। यही न?"

"मेरी यही धारणा है।"

"जहाँ तक सौंदर्य की अनुभूति का प्रश्न है, मैं आपकी बात से सहमत हूँ। पर निरपेक्ष सत्य के संबंध में मेरा मत भिन्न है।"

"आप इतना तो मानेंगे ही कि तथाकथित निरपेक्ष सत्य की अनुभूति भी मनुष्य के ही माध्यम से संभव है। सौन्दर्य पूर्ण सामंजस्य के आदर्श की अभिव्यक्ति है, और यह सामंजस्य विश्वात्मा में है, जिसका मानवात्मा से अविच्छिन्न संबंध है। उसी प्रकार सत्य भी उस विश्व-मन की ज्ञानोपलब्धि है, जो मानवीय मन के तारों से अच्छेद्य रूप से जुड़ा है।"

"मैं वैज्ञानिक रूप से यह सिद्ध नहीं कर सकता", विज्ञानाचार्य ने कहा, "कि सत्य मानवीय अनुभूति से परे, निरपेक्ष और निर्लिप्त है। पर सिद्ध न कर सकने पर भी मेरे विश्वास में कोई कमी नहीं आती। उदाहरण के लिए, ज्यामिति में पाइथेगोरस के सिद्धांत द्वारा जो सत्य प्रतिपादित होता है, उसके साथ मैं मानवीय सत्ता का कोई संबंध नहीं देखता। वह अपने आपमें स्वतंत्र और निरपेक्ष है।"

"भारतीय दार्शनिकों ने विश्व के चरम सत्य की कल्पना ब्रह्म के रूप में की है", कवि ने कहा। "पर इस चरम सत्य की उपलब्धि वैयक्तिक मन की विच्छिन्नता द्वारा संभव नहीं है। इसकी उपलब्धि तभी हो सकती है जब व्यक्ति अपनी सत्ता को अनंत के साथ एकरूप में मिलित करने में सफल होता है। इसीलिए हमारे यहाँ ब्रह्म और जीव एक ही महासत्य और महासत्ता के दो रूप माने जाते हैं। इसलिए सब कुछ सापेक्ष है। और निरपेक्ष जो कुछ भी है वह जब तक मानवीय अनुभूति की सापेक्षता के माध्यम से व्यक्त नहीं होता, तब तक वह निरर्थक है। सत्य का वास्तविक रूप मैं उसे मानता हूँ जो निरपेक्ष और सापेक्ष सत्ता के बीच सामञ्जस्य या समन्वय के रूप में हमारे सामने आता है।"

काफी देर तक संसार के सर्वश्रेष्ठ जीवित कवि और सर्वश्रेष्ठ वैज्ञानिक के बीच बातें होती रहीं। स्वभावतः इस प्रकार के तार्किक वाद-विवाद द्वारा किसी निश्चित निर्णयात्मक तत्त्व तक पहुँच पाना सम्भव नहीं था। फिर भी युग-युग के विकसित मानवीय बुद्धि और मानवीय मन के दो महा-प्रतिनिधियों ने एक दूसरे के दृष्टिकोण को समझने का प्रयत्न करते हुए अपने को बहुत लाभान्वित अनुभव किया। बर्लिन से कवि म्यूनिख़ गये। वहाँ भी उनका बड़ा स्वागत हुआ। उनके चित्रों की प्रदर्शनी वहाँ भी हुई और जर्मन भाषा में अनुवादित उनका 'डाकघर' नामक नाटक बड़े समारोह से स्टेज पर खेला गया।

११ सितम्बर, १९३०, को कवि मास्को पहुँचे। वहाँ उनका जो अपूर्व स्वागत हुआ उसकी कोई कल्पना उनके मन में पहले से नहीं थी। विभिन्न साहित्यिक और कला सम्बन्धी संस्थाओं ने उनके अभिनन्दन के उद्देश्य से सभाएँ कीं। सर्वत्र उनके भाषण बड़े प्रेम से सुने गये और बार-बार उनसे अपनी कविताएँ सुनाने की प्रार्थना की गयी। उनकी चित्रकला की प्रदर्शनी भी बड़े ठाठ से हुई जिसमें आधे से अधिक दर्शक मजदूर और किसान थे।

रूस के विभिन्न स्थानों का निरीक्षण करके और विविध क्षेत्रों में सामूहिक प्रगति से प्रत्यक्ष परिचित होकर कवि अत्यन्त प्रभावित हुए थे। श्रीनिकेतन में ग्रामोद्धार की योजना के विकास के सम्बन्ध में उनके मन में रूस की संयुक्त कृषि-पद्धति का अध्ययन करने की तीव्र इच्छा बहुत दिनों से वर्तमान थी। इस बार जब उन्होंने अपनी आँखों से सब-कुछ देखा और समझा तब उनके उत्साह और उल्लास की सीमा न रही। सामूहिक दैन्य के निराकरण के लिए संगठित श्रम किस हद तक सफल सिद्ध हो सकता है, इस जानकारी का बहुत बड़ा मूल्य उनके लिए था। रोग-शोक, दुख-दैन्य, अशिक्षा और अज्ञान से ग्रस्त पराधीन भारत की दुर्दशा से वह भली-भाँति परिचित थे। इसलिए जब उन्होंने देखा कि कुछ ही वर्ष पहले तक जो रूस भारत की ही तरह हर दृष्टि से पिछड़ा हुआ था, वह न केवल समाज

के निम्नतम स्तर के लोगों की भूख की समस्या हल करने में समर्थ हुआ है बल्कि सांस्कृतिक क्षेत्र में भी दिन-दूनी और रात-चौगुनी उन्नति करता चला जा रहा है, तब स्वभावतः सामूहिक मानव की दृढ़ इच्छा-शक्ति की विशाल क्षमता और उसकी सम्भावनाओं के प्रति बहुत बड़ी आस्था उनके मन में जगी। अपने रूस सम्बन्धी अनुभव उन्होंने 'राशियार चिट्ठि' ('रूस का चिट्ठा') नाम से प्रकाशित कराये थे। उसमें एक स्थान पर उन्होंने लिखा है : "केवल दस ही वर्ष पहले की बात है। ये (रूसी किसान और मजदूर) हमारे देश के मजदूरों की ही तरह निरक्षर, निरस्त्र और निस्सहाय थे। हमारे ही समान अन्धसंस्कार और धर्ममूढ़ता इनमें वर्तमान थी। विपत्ति के क्षणों में देवताओं के द्वार पर ये भी सिर पटकते रहे हैं। परलोक के भय से पण्डे-पुरोहितों के हाथ और इस लोक के भय से राज-पुरुषों, महाजनों और जमीन्दारों के हाथ ये लोग अपनी बुद्धि को बन्धक रख चुके थे। जो इन पर जूता चलाते थे उन्हीं के जूते साफ करना इनका काम था। हजारों वर्षों से हमारी ही तरह इनकी परम्परागत रूढ़ियों और कुप्रथाओं में कोई परिवर्तन नहीं हुआ था। इनके यातायात के साधन, चर्खे, कोल्हू आदि सब कुछ बाबा आदम के जमाने से अपरिवर्तित रूप से चले आ रहे थे। आधुनिक वैज्ञानिक यन्त्रों के प्रति ये एकदम उदासीन रहते थे। हमारे देश के तीस करोड़ आदमियों पर जिस तरह अज्ञान का भूत सवार है, ठीक वैसा ही हाल इनका भी था। पर कुछ ही वर्षों की जागृति से इन्होंने मूढ़ता और अक्षमता का पहाड़ ही जैसे हिला डाला। कैसे ये ऐसा कर सके। इस बात से अभागे भारतवासियों को जितना आश्चर्य हुआ है उतना और किसको होगा? और तुर्रा यह कि जिस समय रूस में यह काया-कल्प हो रहा था उस समय वहाँ उस 'कानून और व्यवस्था' का नाम नहीं था, जिसका हमारे देश में ब्रिटिश सरकार द्वारा बड़ा ढोल पीटा जा रहा है।"

आगे चलकर एक स्थान पर कवि लिखते हैं :

"मानवीय सभ्यता के विकास में जन-साधारण के एक बहुत बड़े भाग

का विशेष भाग होता है। पर ये लोग केवल वाहन बनकर जीवन बिताते हैं। उन्हें मनुष्य बनने का न तो अधिकार दिया जाता है न अवकाश। राष्ट्र की सम्पत्ति के उच्छिष्ट से वे पलते हैं। वे सबसे कम खाकर, सबसे कम पहनकर, सबसे कम सीखकर दूसरों की परिचर्या या गुलामी करते हैं। सबसे अधिक अपमान भी उन्हीं का होता है। वे अक्सर भूखों मरते हैं, जीवन-यापन के लिए जितनी भी अनिवार्य सुविधाएँ आवश्यक हैं उन सबसे वे वञ्चित रहते हैं। वे जैसे सभ्यता के दीवट हैं; सदा सिर पर दिया लिए खड़े रहते हैं। ऊपरवालों को प्रकाश मिलता है, और उन विचारों के ऊपर गरम तेल टपकता रहता है। × × × सभ्यता की उत्कृष्ट फसल तो केवल अवकाश के खेत में ही पैदा होती है। इसीलिए मैं बराबर यही सोचता रहा हूँ कि जो लोग केवल परिस्थितियों के कारण ही नहीं, बल्कि शरीर और मन की विशेष गति के कारण भी नीचे रहकर काम करने को मजबूर हैं, उनको समुचित शिक्षा, स्वास्थ्य, सुख और सुविधा के लिए उद्योग किया जाना नितान्त आवश्यक है। रूस में एकदम जड़ से इस समस्या को हल करने का प्रयत्न हो रहा है। उसका अन्तिम परिणाम क्या होगा, इस बात पर विचार करने का समय अभी नहीं आया है। फिर भी इस समय जो कुछ देख रहा हूँ उससे मेरे आश्चर्य की सीमा नहीं है।"

जितना ही प्रभावित कवि रूस को संयुक्त-कृषि-पद्धति से हुए थे उतना ही—बल्कि उससे भी अधिक—सामूहिक शिक्षा-विस्तार से हुए थे। पराधीन भारत को अज्ञानान्धकार में पूर्णतया निमज्जित देखकर उनका हृदय युग की विषमता-जनित पीड़ा से कराह उठता था। रूस में अशिक्षा और अज्ञान को जड़ से मिटाने का संगठित उद्योग देखकर उन्होंने लिखा :

'यहाँ रूस में शिक्षा ऐसे आश्चर्यजनक उद्यम के साथ समाज में सर्वत्र फैलती चली जा रही है कि देखकर दंग रह जाना पड़ता है। कोई आदमी निस्सहाय और बेकार न रहने पाये, इस बात के लिए कैसा विराट् आयोजन और विशाल उद्यम हो रहा है! मध्य एशिया की अर्द्ध-सभ्य जातियों में भी

ये लोग बाढ़ की तरह शिक्षा का प्रसार करते चले जा रहे हैं। विज्ञान के आधुनिकतम आविष्कार से भी पूर्व-अशिक्षित लोग पूर्णतया परिचित हो जायें इसके लिए असीम प्रयत्न हो रहे हैं। यहाँ थिएटरों में बड़ी भीड़ रहती है, पर अधिकांश दर्शक कौन हैं—किसान और मजदूर। हमारे देश की बात जाने दो, इंगलैण्ड के मजदूरों के साथ तुलना करने से भी जमीन-आसमान का अन्तर साफ दिखायी देने लगता है।

"हम श्रीनिकेतन में जो काम करना चाहते हैं ये लोग देश-भर में वही काम बड़े पैमाने में कर रहे हैं। हमारे कार्यकर्तागण यदि यहाँ आकर कुछ सीख सकते तो बड़ा उपकार होता। मैं जब भारत के साथ यहाँ की तुलना करता हूँ तो सोचता हूँ कि क्या हो रहा है और क्या हो सकता था। कुछ ही दिन पहले तक यहाँ की अवस्था ठीक भारत जैसी ही थी। पर थोड़े ही समय के अन्तर से कैसा परिवर्तन यहाँ देखने को मिलता है! और कहाँ पड़ा हुआ है रोग-संतप्त, भूखा, अभागा भारतवर्ष! हम अभी तक जड़ता के कीचड़ में ही आकण्ठ डूबे हुए हैं।"

इनके अतिरिक्त 'रूस की चिट्ठी' में और भी बहुत-से प्रसंगों में कवि ने रूस के मनस्वी कार्यार्थियों और जन-साधारण की सच्ची लगन की बहुत बड़ी प्रशंसा की है।

पर इसका अर्थ यह कदापि नहीं समझना चाहिए कि उन्होंने रूसियों को घटित अथवा सम्भावित त्रुटियों से सावधान नहीं किया। रूस से लौटने के पहले अपने एक भाषण में कवि ने कहा : "आप लोगों को इस बात पर गहराई से विचारना चाहिए कि कहीं आप लोग जनता में उन लोगों के प्रति क्रोध, घृणा अथवा प्रतिहिंसा की भावनाएँ तो नहीं उभाड़ रहे हैं जो आप लोगों के सिद्धान्तों से एकमत नहीं हैं? आप लोग एक बहुत बड़े ध्येय के लिए संगठित रूप से कार्य कर रहे हैं, इसलिए आप लोगों को उदारमना होना चाहिए, आप लोगों में अपार क्षमा होनी चाहिए और दूसरों के दृष्टिकोण को समझने का असीम धैर्य होना चाहिए।"

रूस से कवि अमेरिका गये। वहाँ न्यूयार्क में तत्कालीन अमरीकी राष्ट्र-

पति प्रेसीडेण्ट हूवर ने उनका स्वागत किया। वहाँ एक संगीत-समारोह में कवि ने मूल बँगला गीत गाये, जिनके ताल पर एक प्रसिद्ध अमरीकी नर्तकी ने नृत्य किया। उन दिनों असाधारण मन्दी के कारण अमेरिका में बेकारी बहुत अधिक फैली हुई थी। संगीत-समारोह से जितना भी द्रव्य प्राप्त हुआ वह सब न्यूयार्क के बेकारों की सहायतार्थ प्रदान कर दिया गया।

जयंती समारोह और उसके बाद

इस प्रकार आश्चर्यजनक साहित्य-साधना के साथ ही वास्तविक मानवीय प्रगति कार्यों में व्यावहारिक रूप से दिलचस्पी लेते हुए, अपनी लम्बी यात्राओं द्वारा कई बार विश्व-विजय करते हुए अपनी अद्‌भुत कीर्ति को पीछे छोड़कर अपने महत् जीवन को निरन्तर महान् से महान्तर उद्देश्यों में नियोजित करते हुए कवि ने जीवन के सत्तर वर्ष पार कर दिये।

१९३१ को कलकत्ते में उनकी इकहत्तरवीं वर्षगाँठ बड़े समारोह से मनायी गयी। १६ मई को कलकत्ता विश्वविद्यालय में कुछ विख्यात विद्वानों की एक सभा महामहोपाध्याय हरप्रसाद शास्त्री की अध्यक्षता में हुई। इसी सभा में एक समिति की स्थापना हुई, जिसके अध्यक्ष विज्ञानाचार्य जगदीशचन्द्र वसु थे। समिति ने बड़े दिनों में रवीन्द्र सप्ताह मनाने का निश्चय किया।

रवीन्द्र-जयन्ती एक सप्ताह तक बड़े ही धूमधाम से मनायी गयी। जयन्ती क्या थी एक अच्छा खासा मेला था। सात दिन तक लगातार एक से एक महत्त्वपूर्ण सांस्कृतिक कार्यक्रम चलते रहे, जो सब कवि से सम्बन्धित थे। विविध कलाकारों के चित्रों की एक ठाठदार प्रदर्शनी इस अवसर पर खोली गयी, जिसमें स्वयं कवि के कई मूल चित्र भी सुसज्जित थे। कवि की बँगला, अँगरेजी आदि विविध पाण्डुलिपियों और फोटो-प्रतिकृतियों की भी एक स्वतन्त्र प्रदर्शनी की गयी। अँगरेजी और बँगला में कई साहित्यिक गोष्ठियाँ हुईं, जिनमें कवि की रचनाएँ पढ़ी गयीं और कवि की विविध साहित्यिक कृतियों पर भाषण हुए। प्रत्येक गोष्ठी का अध्यक्ष कोई प्रतिष्ठित विद्वान् होता था। बँगला साहित्य गोष्ठी की अध्यक्षता विख्यात उपन्यासकार शरत्‌चन्द्र चट्टोपाध्याय ने की थी। संगीत-परिषद् में शान्तिनिकेतन की छात्राएँ कवि के चुने हुए गीतों को बड़े ही आकर्षक ढंग से गाकर सुनाया

करती थीं। ग्राम-गीत, लोक-नृत्य आदि का भी कार्यक्रम नियमित रूप से चलता रहता था। इस अवसर के लिए दो रंगमञ्च भी विशेष रूप से तैयार किये गये थे, जिनमें कवि के विभिन्न नाटक अभिनीत होते रहते थे।

जयन्ती के बहुत पहले ही कवि और उनकी कविता और व्यक्तित्व के सम्बन्ध में संसार-भर के श्रेष्ठ मनीषियों के लेख, विचार या संस्मरण मंगाये गये थे। उन सबको एक बड़े-से अभिनन्दन-ग्रन्थ के रूप में प्रकाशित किया गया था। जयन्ती के अवसर पर वह प्रकाशित ग्रन्थ कवि को भेंट किया गया। इस अभिनन्दन-ग्रन्थ के कुछ प्रमुख लेखक ये हैं : महात्मा गांधी, जगदीशचन्द्र वसु, रोमाँ रोलाँ (फ्रांस), ग्रीक कवि कास्टस पालामास, सेल्मा लागरलाफ (स्वेडन), क्नूट हामसुन (नार्वे), टामस मान (जर्मनी), डब्ल्यू० बी० ईट्स (आयरलैण्ड), सिनक्लेयर लेविस (अमेरिका), योहान बोयर, बरट्राण्ड रसेल, हेवेलाक एलिस, गिल्बर्ट मरे, विलियम राथेनस्टाइन (इंगलैण्ड), प्रोफेसर पेट्रोव (रूस), पाल बालेरी (फ्रांस), प्रो० कार्लो फोरमिचो (इटली), प्रो० सिल्वाँ लेवी (फ्रांस), डा० विण्टरनित्स (चेकोस्लोवाकिया), प्रोफेसर स्टेन कोनो (नार्वे), लिन येन होन (पेकिंग), योने नागूची (जापान) आदि-आदि।

इसी बीच महात्मा गांधी गिरफ्तार हो गये। उनकी गिरफ्तारी के विरोध में जयन्ती-समारोह बन्द कर दिया गया।

इस जयन्ती के अवसर पर यह बात स्पष्ट रूप से पहली बार सामने आयी कि साहित्य-जगत् में अब कवि के विरुद्ध किसी भी प्रकार की विरोधी भावना कहीं शेष नहीं रह गयी है और सर्वत्र उनके प्रति विशुद्ध श्रद्धा और हार्दिक सम्मान की भावनाएँ उमड़ रही हैं। इतने दिनों तक जो भी गलतफहमियाँ उनके सम्बन्ध में जनता में साधारण रूप से तथा साहित्यकारों में विशेष रूप से फैली हुई थीं, वे सब अपने-आप साफ हो गयी थीं। क्रान्तदृष्टा मनीषी और महाकवि के विराट् व्यक्तित्व का सच्चा रूप अब जैसे सबके आगे सत्य के परिपूर्ण प्रकाश में चमक उठा था।

उसी वर्ष हिजली के बन्दी शिविर में दो निहत्थे युवकों को गोली से मार

डाला गया। कवि के क्षोभ और क्रोध की सीमा न रही। उन्होंने एक सार्वजनिक सभा में बड़े ही कड़े शब्दों में इस अमानुषिक अत्याचार का विरोध किया। वह दूसरे बन्दियों से जाकर मिले और उन्हें सान्त्वना देते हुए उनके कठोर कर्तव्य के सम्बन्ध में अमर सन्देश सुनाया। इस विषय में उन्होंने एक सुन्दर कविता भी लिखी।

दूसरे वर्ष, अप्रैल १९३२ को, ईरान के बादशाह रजाशाह पहलवी ने कवि को निमन्त्रित किया। कवि एक विमान पर बैठकर अपनी पुत्रवधू तथा दूसरे व्यक्तियों के साथ ईरान गये। यह उनकी बारहवीं और अन्तिम विदेश-यात्रा थी। वहाँ ईरानी मजलिस के एक सदस्य ने जब कवि से पूछा कि वह ईरान में क्या देखने की इच्छा रखते हैं, तब कवि ने उत्तर दिया कि वह प्राचीन ईरानी सभ्यता के अवशिष्ट चिन्हों को देखना चाहते हैं। उत्तर मिला : "प्राचीन ईरानी संस्कृति का चिन्ह अब आपको यहाँ नहीं मिलेगा, क्योंकि यहाँ के लोग प्राचीनता का बड़ा विरोध करने लगे हैं और उसका स्थान आधुनिकता बड़ी तेजी से ले रही है।"

शीराज में उन्होंने सुप्रसिद्ध कवि हाफिज की मजार के दर्शन किये। शीराज के गवर्नर उनके साथ थे। गवर्नर ने उन्हें एक मनोरंजक बात बतायी। उन्होंने जनता के इस विश्वास से कवि को परिचित कराया कि यदि हाफिज की मजार पर उनके दीवान का कोई भी पृष्ठ खोला जाय तो उस पृष्ठ पर छपी कवि की पंक्तियों से खोलनेवाले के मन के प्रश्न का ठीक-ठीक उत्तर मिल जाता है। इस बात को एक अच्छा कौतुक समझकर कवि ने अपने मन में यह प्रश्न किया : "क्या भारत में होने वाले साम्प्रदायिक झगड़ों का अन्त कभी होगा ?" मन में प्रश्न करते ही जब हाफिज का दीवान खोला गया तब उस पृष्ठ पर जो पहला शेर निकला उसका आशय इस प्रकार था : "मधुशाला के द्वार खुल जायँ। हम ईश्वर का नाम लेकर उन्हें खोलते हैं।" यह बात सचमुच जैसे कवि के उत्तर में कही गयी एक आशाजनक भविष्यवाणी थी। पढ़कर कवि खूब हँसे। पर फिर दूसरे ही क्षण उनका सहज गम्भीर रूप लौट आया।

शीराज के साहित्यकारों ने बड़े समारोह से कवि का स्वागत किया था। वहाँ से कवि इस्पहान गये और फिर तेहरान। सर्वत्र बड़ी धूमधाम से उनका अभिनन्दन और जय-जयकार हुआ। २ मई को कवि शाह से मिले और उनके द्वारा अभिनन्दित होकर उन्हें अपनी एक कविता भेंट की। ७ मई को कवि की वर्षगाँठ ईरान की सरकार तथा जनता की ओर से मनायी गयी। कुछ दिनों तक वह ईरान के प्रसिद्ध ऐतिहासिक स्थानों में भ्रमण करते रहे। उसके बाद वह बुगदाद गये। वहाँ ईराक के बादशाह उनके स्वागत के उद्देश्य से शहर के प्रधान फाटक तक पैदल आये। बुगदाद से कवि ३ जून, १९३२ को कलकत्ता लौट आये।

इस बीच कवि की कई नयी रचनाएँ प्रकाशित हो चुकी थीं, जिनमें 'परिशेष', 'पुनश्च' और 'कालेर यात्रा' मुख्य हैं। 'परिशेष' कविताओं का संग्रह है। वृद्धावस्था में भी कवि काव्य और साहित्य के विभिन्न क्षेत्रों में निरन्तर नये-नये प्रयोग करते चले जा रहे थे। 'परिशेष' में उनकी अपेक्षाकृत नयी शैली की कविताएँ संगृहीत हैं। 'पुनश्च' में नये ढंग की गद्य-कविताएँ हैं, जिनकी शैली में 'लिपिका' की शैली से काफी अन्तर पाया जाता है। 'कालेर यात्रा' एक छोटी नाटिका है, जिसे शरत्चन्द्र की जयन्ती के अवसर पर कवि ने उन्हें अर्पित किया था। यह व्यंगात्मक रचना हरिजनों के प्रश्न से सम्बन्धित है। रथयात्रा के अवसर पर नगर की सम्पूर्ण जनता भगवान् के विशाल रथ को खींचने के उद्देश्य से उस पर जुत जाती है। स्वयं राजा और पुरोहित भी खींचने वालों का साथ देते हैं। पर रथ तनिक भी नहीं हिलता। अन्त में जब शूद्रों की सहायता विवशता के कारण स्वीकार की जाती है तब रथ एकदम हलका हो जाता है।

१९३२ में कवि ने 'ताशेर देश' नाम की अपनी एक पिछली कहानी को नाटक के रूप में परिवर्तित किया। इस नाटक में रूढ़िवादी अन्धसंस्कार और अकर्मण्यता पर तीखा व्यंग कसा है।

इन्हीं दिनों—२० सितम्बर १९३२ को—गांधीजी ने यरवदा जेल में हरिजनों की समस्या से क्षुब्ध होकर आमरण अनशन आरम्भ कर दिया।

अँगरेज सरकार अपनी सदा की नीति के अनुसार भारतीय एकता को खण्डित करने के उद्देश्य से जन-विभाजन को चाल चल रही थी और हरिजनों को भारत की इकाई से अलग करके उन्हें देश की स्वतन्त्रता सम्बन्धी माँग के विरुद्ध भड़का रही थी। कवि को जब इस बात की सूचना मिली तब उन्होंने तत्काल गांधीजी को एक तार भेजा, जिसका आशय इस प्रकार था: "भारत की एकता और सामाजिक पूर्णता के उद्देश्य से आपने अपना अमूल्य जीवन अर्पित करने का जो निश्चय किया है वह आपकी ही महत्ता के अनुरूप है। हमें पूरी आशा है कि देशवासियों पर ऐसे आत्म-त्याग का प्रभाव पड़े बिना न रहेगा और वे ऐसी राष्ट्रीय दुर्घटना को चरम सीमा तक पहुँचने नहीं देंगे। हम दुःखपूर्ण हृदयों से आपकी इस महान् तपस्या का सादर और सप्रेम अनुसरण करेंगे।"

जब सवर्णों और हरिजनों, दोनों पक्षों के नेताओं ने आपस में समझौता कर लिया तब गांधीजी ने अनशन भंग कर दिया। कवि स्वयं इस अवसर पर गांधीजी से मिलने गये थे। गांधीजी ने अनशन तोड़ने पर पहले पहल कवि के ही हाथों से सन्तरे के रस का गिलास लिया था। कवि की आन्तरिक सहृदयता और सौहार्द पाकर महात्मा गांधी बहुत प्रसन्न हुए। उन्होंने बाद में एण्ड्रूज को एक पत्र में लिखा था: "मैंने इस बार अपने अनशन द्वारा बहुत-सी ऐसी निधियाँ प्राप्त कीं जिनका स्वप्न भी मैंने पहले नहीं देखा था। इन निधियों में सबसे अधिक मूल्यवान गुरुदेव स्वयं थे। प्रारम्भ ही से मेरी यह एकान्त इच्छा रही है कि उनके हृदय के एक कोने में स्थान पा जाऊँ। इस बार मैंने अनुभव किया कि मेरी इस इच्छा की पूर्ण पूर्ति हो गयी है।"

१९३३-३४ में कवि की ये मुख्य कृतियाँ प्रकाशित हुईं: 'बाँशरी', 'चाण्डालिका', 'विचित्रा', 'मालञ्च', 'दुइ बोन' और 'चार अध्याय'। इनमें 'बाँशरी' और 'चाण्डालिका' नाटक हैं। 'विचित्रा' विविध शैलियों में लिखी गयी कविताओं का संग्रह है, 'मालञ्च', 'दुइ बोन' और 'चार अध्याय' ये तीन उपन्यास हैं। 'बाँशरी' में एक आधुनिक शिक्षा-प्राप्त, ढीठ युवती

के भींतरी और बाहरी द्वन्द्वों का विश्लेषण और चित्रण किया गया है। बाँशरी (नायिका) किस प्रकार क्षितीश नाम के एक तरुण लेखक को किस प्रकार अपने प्रेम-जाल में फँसाती है और अन्त मे उसे विवाह के लिए विवश करती है, यह प्रसंग बहुत मनोरंजक है। 'चाण्डालिका' में हरिजन-समस्या को उठाया गया है।

'मालंच' में दो परस्पर-प्रतिद्वन्द्विनी नारियों का सुन्दर मनोवैज्ञानिक चित्र उपस्थित किया गया है। आदित्य की पत्नी नीरजा अपने पति के साथ विवाह के दस वर्ष बिता चुकने के बाद जब बीमार पड़ जाती है तब अपने पति के सुख और शान्ति के लिए चिन्तित रहने पर भी उसकी संगिनी और सम्बन्धिनी सरला के प्रति ईर्ष्यालु हो उठती है। जो आदित्य के सुन्दर बाग की सजावट में उसकी सहायता करती है। सरला के पिता की कृपा और स्नेह के कारण ही आदित्य अपनी आर्थिक स्थिति को उन्नत कर सकने में सफल हुआ है। यों भी सरला बहुत अच्छी लड़की है। वह जब देखती है कि नीरजा उसके कारण बहुत दुखी हो उठी है तब वह आदित्य का साथ छोड़कर देश-सेवा के कार्यों में लग जाती है और जेल चली जाती है। इस पर नीरजा मन-ही-मन सरला के प्रति सहानुभूतिशील हो उठती है। पर जब सरला जेल से छूट कर लौट आती है तब वह फिर यह अनुभव करके कि उसका पति आदित्य सरला को पहले से भी अधिक मानने लगा है, अत्यन्त पीड़ित हो उठती है। ईर्ष्या की प्रबलता और अन्तर्द्वन्द्व की तीव्रता के कारण उसकी बीमारी बढ़ जाती है और उसकी मृत्यु हो जाती है।

'दुइ बोन' में भी यही समस्या थोड़े-से परिवर्तन के साथ उठायी गयी है। इसमें दो बहिनों के बीच प्रेम के क्षेत्र में प्रतिद्वन्द्विता दिखायी गयी है। शशांक की स्नेहमयी पत्नी शर्मिला जब बीमार पड़ जाती है तब उसकी बहिन उर्मिला उनके घर आकर उसकी परिचर्या करने लगती है। धीरे-धीरे शर्मिला देखती है कि शशांक और उर्मिला एक-दूसरे के प्रति आकर्षित होकर परस्पर निकट आते चले जा रहे हैं। शर्मिला अपने अन्तर्द्वन्द्व के बावजूद शशांक से आग्रह करती है कि वह उर्मिला से विवाह करके कलकत्ते चला जाय। पर

उर्मिला सारी स्थिति को अच्छी तरह देखकर और समझकर एक दिन चुपचाप उनके घर से निकल जाती है और एक पत्र द्वारा शर्मिला से क्षमा माँगती हुई यह सूचित करती है कि वह अध्ययन के लिए यूरोप जा रही है।

'चार अध्याय' का कथानक स्वदेशी युग के क्रान्तिकारी आन्दोलन से सम्बन्धित है। इस उपन्यास में कवि ने सुप्रसिद्ध क्रान्तिकारी ब्रह्मबान्धव उपाध्याय का चरित्र उपन्यास के छल से चित्रित किया है। ब्रह्मबान्धव उपाध्याय कवि के मित्र थे और शान्तिनिकेतन के प्रारम्भिक युग में एक अध्यापक के रूप में उन्होंने कवि के साथ काम किया था। उसके बाद स्वदेशी आन्दोलन के समय पीड़ित राष्ट्रमाता की पुकार सुन कर वह शान्तिनिकेतन छोड़कर चले आये थे और क्रान्तिकारियों के साथ जा मिले थे। इस उपन्यास में दिखाया गया है कि राष्ट्र के उद्धार के लिए दो भावप्रवण व्यक्ति—एक युवक और एक युवती—किस प्रकार अपने पारस्परिक प्रेम को देश-सेवा की ओर नियोजित करने में सफल होते हैं।

९ मई, १९३४ को कवि ने कलाकारों के एक दल के साथ, जिनमें नन्दलाल वसु प्रमुख थे, लंका की यात्रा की। वहाँ विभिन्न भारतीय तथा सिंहली संस्थाओं ने कवि का स्वागत किया। इस अवसर पर कोलम्बो के एक थिएटर में कवि का 'शाप-मोचन' नामक नाटक शान्तिनिकेतन से आये हुए कलाकारों द्वारा खेला गया। कोलम्बो की आर्ट गैलरी में एक शानदार कला प्रदर्शनी हुई। कुतूहल को उभाड़ने वाली विविध कलात्मक वस्तुओं के अलावा कई सुन्दर चित्र भी इस प्रदर्शनी में दिखाए गये, जिनमें स्वयं कवि द्वारा अंकित चित्र भी थे।

लंका के प्रमुख स्थानों की सैर करके, जगह-जगह भाषण देने के बाद १९ जून को कवि भारत लौट आये।

१९३५ में प्रसिद्ध जापानी कवि योने नागूची शान्तिनिकेतन आये। उन्होंने कवि को अपनी कई कविताएँ सुनायीं और कवि के मुख से उनकी कविताएँ भी सुनीं। जापान की साम्राज्यवादी मनोवृत्ति और चीन पर उनकी गृद्ध-दृष्टि के सम्बन्ध में दोनों कवियों के बीच बड़ी गरमागरम बातें हुईं।

जब योने नागूची जापान को वापस चले गये तब भी इस विषय पर दोनों के बीच काफी लिखा-पढ़ी हुई थी।

इसी वर्ष बनारस के हिन्दू विश्वविद्यालय ने कवि को डाक्टर की उपाधि प्रदान की। ढाका विश्वविद्यालय ने दूसरे वर्ष उन्हें 'डाक्टर आफ लिट-रेचर' (साहित्याचार्य) की उपाधि से सम्मानित किया। 'शेषसप्तक' नामक गद्य काव्य-ग्रन्थ और बीथिका नामक कविता-संग्रह इसी वर्ष प्रकाशित हुए।

१९३६ में कवि ने विश्वभारती के लिए अर्थ-संग्रह करने के उद्देश्य से शान्तिनिकेतन के कलाकारों के साथ उत्तर भारत का दौरा किया। पटना, इलाहाबाद, दिल्ली आदि स्थानों में नृत्य-गीत के कई कार्यक्रम रखे गये। दिल्ली में उनकी भेट गांधीजी से हुई। गांधीजी ने जब देखा कि ७६ वर्ष की उम्र मे कवि को विश्वभारती के लिए अर्थ-संग्रह करने के लिए दौरा करना पड़ रहा है तब उन्हें बहुत दुःख हुआ। उन्होंने ६०,००० रु० का प्रबंध विश्वभारती के लिये कर दिया। फरवरी १९३७ को कवि ने कलकत्ता विश्वविद्यालय में दीक्षांत भाषण दिया, कलकत्ता विश्वविद्यालय के इतिहास में यह पहला दीक्षांत भाषण था जो बँगला में दिया गया। उसी वर्ष १४ अप्रैल को शान्तिनिकेतन में चीना भवन की स्थापना हुई। उसी महीने कवि ने विश्व-मानवता के प्रति एक अपील निकाली जिसमें इस बात पर जोर दिया गया कि विश्वव्यापी बर्बरता की बाढ़ से मानवीय सभ्यता की रक्षा करने की परम आवश्यकता आ पड़ी है। उन दिनों एक ओर स्पेन में गृह-युद्ध चल रहा था और दूसरी ओर चीन पर जापान ने अपने पञ्जे बुरी तरह गड़ा रखे थे। कवि ने लिखा कि आधुनिक संसार की कलात्मक संस्कृति का प्रमुख केन्द्र माद्रिद नगर जल रहा है, चीन में जापानी साम्राज्यवाद की कृपा से अरक्षित नगरों पर निर्विचार रूप से बम बरसाए जा रहे हैं और इस प्रकार मानवता के पवित्रतम अधिकारों को निर्ममता से कुचलकर मिट्टी में मिलाया जा रहा है। अन्तरराष्ट्रीय फासिज्म के विरुद्ध कवि की इस अपील की चर्चा संसार के

सभी प्रमुख पत्रों ने की और कई मनीषियों ने उनके समर्थन में आवाजें लगायीं।

तीन वर्ष पूर्व—अगस्त १९३४ में—प्रोफेसर गिलबर्ट मरे ने एक खुली चिट्ठी कवि के नाम लिखी थी जिसमें सभ्यता के उद्धार और अन्तरराष्ट्रीय संकट के निवारण के उद्देश्य से संसार के प्रमुख मनीषियों, लेखकों और कवियों के संगठन की आवश्यकता पर जोर दिया गया था और उस संगठन में सहयोग देने की अपील कवि से की गयी थी। कवि ने एक लम्बा उत्तर लिखा, जिसमें यूरोपीय साम्राज्यवाद द्वारा एशियाई शोषण की तीव्र निन्दा की गयी थी, और यह मत प्रकट किया गया था कि जब तक इस शोषण का अन्त नहीं होता तब तक संसार में शान्ति की स्थापना नहीं हो सकती।

१९३८ में लेडी लिनलिथगो और उनकी पुत्री ने शान्तिनिकेतन जाकर कवि के दर्शन किये। उसी वर्ष १६ जनवरी को शान्तिनिकेतन में हिन्दी भवन की नींव का पत्थर सी० एफ० एण्ड्रूज द्वारा रखा गया। इस भवन का उद्घाटन १९३९ में पण्डित जवाहरलाल नेहरू ने किया था। उसी वर्ष सुभाषचन्द्र वसु भी शान्तिनिकेतन जाकर कवि से मिले थे।

फरवरी १९४० में महात्मा गांधी तीसरी बार शान्तिनिकेतन गये। गांधीजी ने कहा था : "शान्तिनिकेतन की यात्रा मेरे लिए तीर्थयात्रा से भी बढ़कर है।" इस बार कवि से गांधीजी ने विविध विषयों पर खुलकर बातें कीं और गांधीजी बहुत प्रसन्न होकर लौटे। गांधीजी के विदा होने के समय कवि ने उनके हाथ में एक पत्र दे दिया। उस पत्र में कवि ने महात्माजी से यह अनुरोध किया था कि वह विश्वभारती को अपनी संरक्षकता में ले लें। "विश्वभारती एक जहाज की तरह है", कवि ने लिखा था, "जो मेरे जीवन की सबसे अधिक मूल्यवान् निधियों को वहन करती हुई चली जा रही है, और मैं आशा करता हूँ कि देशवासी स्नेहपूर्ण यत्न से इसकी रक्षा करेंगे।"

महात्मा गांधी को यह देखकर बड़ा आश्चर्य हुआ था कि ७९ वर्ष की अवस्था में भी कवि का मुख एक अपूर्व तेज से उद्दीप्त हो रहा था और उनकी

कण्ठस्वर स्पष्टता और मधुरता में एक नवयुवती के गले की सुरीली आवाज को भी मात दे रहा था।

उसी वर्ष ७ अगस्त को भारत के तत्कालीन प्रधान न्यायाधीश सर मारिस ग्वायर आक्सफोर्ड विश्वविद्यालय के प्रतिनिधि की हैसियत से शान्तिनिकेतन आये और उन्होंने कवि को आक्सफोर्ड की तरफ से साहित्य के डाक्टर की उपाधि प्रदान की। सर मारिस ने लिखा था कि यद्यपि कवि का शरीर क्षीण हो चला था तथापि उनका मस्तिष्क अत्यन्त स्वस्थ था और उनकी वाणी में पहले का-सा ही तेज वर्तमान था। इस अवसर पर आक्सफोर्ड विश्वविद्यालय की ओर से एक विशेष दीक्षान्त समारोह शान्तिनिकेतन में मनाया गया। वैदिक मन्त्र उच्चारित किये गये, कवि द्वारा इस अवसर के लिए विशेष रूप से लिखित एक बँगला गीत गाया गया और लैटिन भाषा में कवि को सम्मानित किया गया। अन्त में अथर्ववेद से शान्ति-पाठ किया गया।

उसी वर्ष १३ अगस्त को शान्तिनिकेतन में तुलसीदास की ३१७वीं जयन्ती मनायी गयी। कवि ने हिन्दी के महाकवि की प्रशंसा में जो भाषण दिया उसका कुछ अंश इस प्रकार है :

"हिन्दी के सर्वश्रेष्ठ कवि तुलसीदास की कविता के बीज किसी ऊसर भूमि में नहीं बोये गये हैं। वे जन-साधारण की आत्मा की चिर-उपजाऊ मिट्टी में निरन्तर नये-नये रूपों में उगते और पनपते रहते हैं और उनसे जो आध्यात्मिक आस्था के फल उत्पन्न होते रहते हैं वे राष्ट्रीय संस्कृति के भण्डार को निरन्तर भरते रहते हैं।

"मैंने केवल तुलसीदास के यशोसौरभ का ही आस्वादन किया है और उनकी कृतियों के सम्बन्ध में कोई विशेष ज्ञान मुझे नहीं है। फिर भी मैं उस कवि के महत्त्व का अनुभव बराबर करता रहता हूँ जिसकी प्रतिभा भारत की मिट्टी में एक विशाल वटवृक्ष की तरह अपनी जड़ों को गहराई में जमाये हुए है। उस महावृक्ष की छाया में हजारों प्यासी आत्माएँ जीवन की शान्ति प्राप्त करती हैं।

"तुलसीदास का रामचरितमानस कोई ऐसी पुरानी चीज नहीं है जो सिरे से दुहरायी गयी हो। यह एक पूर्णतः नयी साहित्यिक सृष्टि है। उनकी गहरी भक्ति के माध्यम से एक पुरानी कथा एक मूलतः नये रूप में प्रस्फुटित हुई है। उनकी महत्ता इस बात पर है कि उन्होंने वाल्मीकि के राम को एक नये दृष्टिकोण से देखकर अभिनव रूप में अवतरित किया है और उन्हें साधारण जनता के अन्तर में गहराई से प्रविष्ट करा दिया है।

"आज भारतीय साहित्य में पाश्चात्य साहित्य के प्रभाव से स्पष्ट ही एक नया परिवर्तन आ गया है। मैं जानता हूँ कि यह परिवर्तन अनिवार्य है। फिर भी मुझे पूर्ण विश्वास है कि हिन्दी साहित्य में तुलसीदास सदा अमर रहेंगे। इसका कारण यह है कि उनके काव्य की जड़ें जन-साधारण के प्राणों के भीतर पैठ चुकी हैं। वे युग-युग में बदलते रहने वाले साहित्यिक फैशनों के प्रभाव से परे हैं। उनकी प्रतिभा सदा हमारे राष्ट्रीय साहित्य का मुख उज्ज्वल करती रहेगी और उसकी हरियाली चिरकाल तक वैसी ही बनी रहेगी।"

अंतिम वेला

कवि का इक्यासीवाँ जन्मदिन १४ अप्रैल १९४१ को शान्तिनिकेतन में मनाया गया। इस अवसर पर 'सभ्यता का संकट' नाम से एक लिखित सन्देश पढ़कर सुनाया, जिसकी सिंह-गर्जना संसार के एक कोने से दूसरे कोने तक गूँज उठी। इस सन्देश में कवि ने कहा : "आज जीवन की कठोर वास्तविकता ज्वलन्त रूप से मेरी आँखों के आगे नाच उठी है। भारतीय जन-साधारण की निरतिशय दीनता और दारिद्र्य का दृश्य मेरे हृदय को विदीर्ण करने लगता है। अपने स्वप्नों से जागकर एक दिन मैंने देखा कि संसार के किसी भी दूसरे देश में जीवन के नितान्त आवश्यक साधनों और सुविधाओं का इतना बड़ा अभाव नहीं है। और यही वह देश है जिसके साधनों ने इतने दिनों तक ब्रिटिश जनता की अपार समृद्धि और वैभव को कायम रखा है। जब मैं महान् विश्व-सभ्यता के स्वप्नों में मग्न था तब मैंने कभी इस बात की कल्पना तक नहीं की थी कि मानवता के महान् आदर्श एक दिन इस प्रकार विकृत परिहास में परिणत हो जायेंगे। पर आज जब मैं देखता हूँ कि एक तथाकथित सभ्य राष्ट्र करोड़ों भारतवासियों के हित के प्रति एकदम उदासीन होकर अत्यन्त घृणा-भरी दृष्टि से उनकी ओर देखता है तब सभ्यता के शोचनीय पतन का एक ज्वलन्त दृष्टान्त मेरे आगे सुस्पष्ट हो उठता है।

"जिस यन्त्र-शक्ति की सहायता से अँगरेज अपने तथाकथित विश्व-कर्तव्य की रक्षा करते आ रहे हैं, उससे उन्होंने इस निःसहाय देश को वञ्चित रखा है। मैंने अपनी आँखों से देखा है कि जापान आज किस प्रकार एक अत्यन्त समृद्ध राष्ट्र में परिणत हो गया है। मैं इस बात पर तनिक भी विश्वास नहीं करता कि भारतवासी बौद्धिक क्षमता में जापानियों से किसी कदर पिछड़े हुए हैं। अन्तर केवल यह है कि भारत जहाँ अँगरेज जाति के शासनाधीन है वहाँ जापान पराधीनता-पाश से पूर्णतः मुक्त है।

"मैंने रूस में जन-साधारण में शिक्षा-प्रचार और आरोग्य-विस्तार के उद्देश्य से असाधारण अध्यवसाय का दृष्टान्त देखा है। इसी अध्यवसाय के फलस्वरूप इस विशाल राष्ट्र में अज्ञान, दरिद्रता और आत्मावमानना का कोई चिन्ह शेष नहीं रह गया है। रूस की यह नयी सभ्यता जातिगत और वर्गगत भेद को कतई नहीं मानती। उसने सर्वत्र विशुद्ध मानवीय सम्बन्धों के प्रभाव-विस्तार का ही ध्यान रखा है। उसकी द्रुतगामी प्रगति को देखकर मैंने एक साथ ईर्ष्या और आनन्द का सम्मिलित अनुभव किया है। वहाँ मैंने देखा कि वहाँ के मुसलमानों को राष्ट्राधिकार में हिस्सेदार बनाने में गैर-मुसलमानों का कोई विरोध नहीं है। उन दोनों के सम्मिलित हितों में शासन-व्यवस्था सुचारुता निहित है। मैंने यह भी देखा है कि जो ईरान दो यूरोपीय जातियों के कूटनीतिक पाटों के बीच में निर्ममता से पिसता चला आ रहा था वह किस तरह आत्म-निर्भरता की ओर निरन्तर तीव्र गति से आगे की ओर बढ़ा चला जा रहा है।

"पर भारतवर्ष अँगरेजों के 'सभ्य शासन' का असहनीय भारी पत्थर अपनी छाती पर रखे निरुपाय और निश्चल पड़ा है। चीन जैसी महान् और प्राचीन जाति को अँगरेजों ने अफीम के विष से जर्जर बना डाला, और चीन के एक भाग पर अपना कब्जा कर लिया। इस अतीत की बात को जब मैं धीरे-धीरे भूलता चला जा रहा था तब देखा कि जापान उत्तरी चीन को निगलने की तैयारी कर रहा है। इंगलैण्ड के राजनीतिज्ञों ने इस दस्युवृत्ति को एक अत्यन्त तुच्छ घटना बतलाकर उसकी घृणापूर्ण उपेक्षा की। इसके बाद एक दिन इंगलैण्ड ने किस कौशल के साथ स्पेन की राष्ट्रीय एकता में दरार पैदा कर दी यह भी मैंने यहाँ दूर बैठे-बैठे देखा। साथ ही मैंने यह भी देखा कि अँगरेजों के एक दल ने उसी विपद्ग्रस्त स्पेन के लिए अपने प्राणों की बलि दी। इस दृष्टान्त से मुझे याद आया कि एक समय अँगरेज जाति की मानव-हितैषिता के प्रति मेरे मन में कितनी श्रद्धा थी! जर्मनी के साथ उसकी मैत्री के इतिहास को दुहराने की इच्छा आज नहीं हो रही है। आज मैं यही सोचता हूँ कि साम्राज्य-स्वार्थ-लोलुपता से इतनी बड़ी जाति

का चरित्र किस प्रकार क्रमशः लज्जाजनक विकार से विकृत होता चला गया है।

"भाग्यचक्र के परिवर्तन से एक दिन अँगरेजों को यह भारत साम्राज्य छोड़कर जाना ही होगा। किन्तु वे किस भारत को—किस कुत्सित दैन्य की गन्दगी से भरे देश को—अपने पीछे छोड़ जायेंगे ? एकाधिक शताब्दी की उनकी शासन-धारा जब सूख जायगी तब क्या उसकी विस्तीर्ण पंकशय्या उनकी गहन असफलता को वहन कर सकेगी ?

"आज मैं स्पष्ट शब्दों में यह कह जाना चाहता हूँ कि प्रबल प्रतापशाली की भी क्षमता, मदमत्तता और आत्म-निर्भरता निरापद नहीं है। इसी के प्रमाणित होने का दिन आ गया है।"

अस्सी वर्ष के वृद्ध कवि ने मृत्यु के कुछ ही समय पूर्व यह जो भैरव-घोष किया था उसकी सचाई दिन पर दिन अक्षर-अक्षर करके प्रमाणित होती चली जा रही है। कवि ने और भी बहुत-सी भविष्यवाणियाँ की थीं और विश्व-मानवता की सामूहिक उन्नति और एकता के सम्बन्ध में बड़े-बड़े स्वप्न देखे थे। वे सब भी धीरे-धीरे सत्य में परिणत होकर रहेंगे, इस बात का पूर्ण विश्वास हमें है।

कवि का स्वास्थ्य कुछ समय से टूटता चला जा रहा था। केवल अपनी इच्छाशक्ति की प्रबलता के कारण वह टिके हुए थे और रोग-शय्या पर लेटे-लेटे भी नित्य नयी-नयी रचनाएँ तैयार करते चले जाते थे। उसी रुग्णावस्था में उन्हें सम्वादपत्रों में ब्रिटिश पार्लामेण्ट की सदस्या मिस रैथबोन की एक खुली चिट्ठी पढ़ने को मिली जो पण्डित जवाहरलाल नेहरू के नाम लिखी गयी थी। तब नेहरूजी जेल के सींखचों के भीतर बन्द थे। पत्र में इस बात के लिए भारतीयों को कोसा गया था कि वे अँगरेजी शिक्षा और संस्कृति की कृपा से उन्नति की ओर बढ़ने पर भी अँगरेजों के प्रति अकृतज्ञ हैं। कवि इस पत्र को पढ़कर रुग्ण शय्या में भी तिलमिला उठे। नेहरूजी की तरफ उन्होंने स्वयं ही इस अहम्मन्यतापूर्ण पत्र का उत्तर देते हुए लिखा :

"यह मान लेने पर भी कि अँगरेजी के सिवा और किसी भाषा के माध्यम

से हमको ज्ञान प्राप्त नहीं हो सकता था, हम देखते हैं कि प्रायः दो सौ वर्षों तक अँगरेजों से शिक्षा पा चुकने के बाद भी हमारे देश के केवल १ प्रतिशत व्यक्ति साक्षर हैं, जब कि १९३१ में रूस में केवल १५ वर्ष के सोवियट शासन के बाद ९८ प्रतिशत लड़के और लड़कियाँ पूर्णतः शिक्षित हो चुके थे।

"परन्तु मनुष्य के लिए शिक्षा से भी अधिक महत्त्व रखते हैं उसके जीवन-धारण के लिए नितान्त आवश्यक साधन। इस सम्बन्ध में ब्रिटेन नें, जिसके हाथों में पिछले दो सौ वर्षों से हमारे खजाने की कुन्जी रही है, आज तक क्या किया है ? मैं अपने चारों ओर नर-कंकाल ही पाता हूँ जो सूखी रोटियों के लिए तरसते रहते हैं। मैंने गाँवों में स्त्रियों को पानी की चन्द बूँदों के लिए कीचड़ खोदते देखा है।

"मुझे पता है कि आज इंगलैण्ड की जनता स्वयं भूखों मरने के खतरे में है। किन्तु हम देखते हैं कि सारी ब्रिटिश नौसेना उनको दूसरे देशों से खाद्य पहुँचाने के काम में जुटी हुई है, जब कि इस देश के लोग अन्न-जल के अभाव से तड़प-तड़प कर मर रहे हैं, और दूसरे जिलों से उन्हें एक गाड़ी चावल तक नहीं पहुँचाया जाता।

"अन्न का जब यह हाल है तब फिर क्या अँगरेजों की शान्ति-व्यवस्था के लिए उनके प्रति कृतज्ञता प्रकट की जाय ? मैं जब चारों ओर दृष्टि डालता हूँ तब देखता हूँ कि एक सिरे से दूसरे सिरे तक दंगों की ज्वालाएँ धधक रही हैं। सैकड़ों भारतीय मर जाते हैं, उनकी सम्पत्ति छिन जाती है, स्त्रियों की इज्जत लुट जाती है, फिर भी उन्हें शान्त करने की कोई चेष्टा सरकार की तरफ से नहीं होती। × × × इंगलैण्ड के हर नागरिक के पास आज शत्रुओं से आत्मरक्षा करने के लिए हथियार हैं, परन्तु भारत में लाठी का इस्तेमाल भी कानून द्वारा निषिद्ध है।"

कवि की शारीरिक शक्ति जिस अनुपात में क्षीण होती चली आ रही थी, राष्ट्र तथा मानवता के अपमान की अनुभूति उनके अन्तर में उतनी ही प्रबल होती जाती थी। मन और मस्तिष्क की सक्रियता तनिक भी नहीं घटी थी। डाक्टरों के बार-बार निषेध करने पर अन्त में जब उन्होंने हाथ

में क़लम लेना बन्द कर दिया तब भी उन्होंने कविता रचना नहीं छोड़ा। लेटे-लेटे वह पंक्ति पर पंक्ति रचते जाते थे और जो भी व्यक्ति पास में होता उसे लिखाते जाते थे। जब किसी गम्भीर रचना से मस्तिष्क पर ज्यादा ज़ोर पड़ने लगता तब उनका बचपना जगने लगता और वह बच्चों के विनोद के लिए कुछ अर्थहीन हास्यरस समन्वित पदों की रचना आशु कवि की तरह करते चले जाते। उदाहरण के लिए, जब उनकी पुत्रवधू प्रतिमादेवी जो सब समय उनकी सेवा में लगी रहती थीं, एक दिन नरियल (डाब) का पानी उनके लिए ले गयीं तब देखते ही कवि बोल उठे :

डाब ओ भालो, घोल ओ भालो,
भालो सजने डाँटा,
बौमा बलेन भावो नहे
शुधु सिंगिमाछेर काँटा।

("डाब भी अच्छा है, दही का घोल भी अच्छा है, सहजन का डंठल भी अच्छा है। बहूरानी कहती हैं कि केवल सिंगी मछली का काँटा अच्छा नहीं है।")

इस तरह कितने ही बचकाने पद ('छड़ा') कवि बात ही बात में परिहास में रच डालते थे। वे सब लिख लिये जाते थे। सब को मिलाकर 'छड़ा' नाम से प्रकाशित भी करा दिया गया। जब एक बार उनके एक आत्मीय ने हँसी में कहा : "वृद्धावस्था में लोग परलोक की बातें सोचते हैं, और आप पशु-पक्षियों और बच्चे-बूढ़ों के बारे में हँसी के पद रचे चले जाते हैं! सुन कर लोग क्या कहेंगे?" "सचमुच, क्या कहेंगे लोग!" कवि ने उत्तर दिया।

असाध्य रोग की हालत में भी कुछ ही महीनों के भीतर कवि ने इतनी कविताएँ रच डालीं कि चार कविता-संग्रह ('नव जातक', 'शनैः', 'रोग-शय्या' और 'आरोग्य') तैयार हो गये। इन्हीं दिनों बचपन के मनोरंजक संस्मरण भी कवि ने 'छेलेबेला' नाम से प्रकाशित कराये। फिर से बच्चा

बनने के लिए कवि अपना सारा ज्ञान-विज्ञान दाँव पर लगाने को जैसे तैयार हो उठे थे।

२५ जुलाई, १९४१ को जब कवि का स्वास्थ्य विशेष चिंताजनक हो उठा और डाक्टरों ने सम्मिलित रूप से यह राय दी कि उन्हें शल्य-चिकित्सा के लिए कलकत्ते चलना ही होगा, तब अनिच्छा से कवि राजी हुए। विदाई के समय शांतिनिकेतन का वातावरण ठीक उसी प्रकार हो गया था, जैसा वनवास जाने के पूर्व राम की विदाई के समय अयोध्या का हुआ होगा। और उसके बाद :

डरपहिं एकहिं एक निहारी।
घर मसान परिजन जनु भूता।
सुत हित मीत मनहुँ जमदूता॥

सभी का अन्तर्मन जान गया था कि अब कवि कभी शांतिनिकेतन में लौटकर नहीं आयेंगे।

कलकत्ते में जोड़ासाँकोवाले मकान में कवि को रखा गया था। उस चिर-परिचित मकान में वर्षों बाद जमकर रहने का मौका उन्हें मिला। बचपन की प्यारी स्मृतियाँ फिर से हरी हो उठीं। उनका बुढ़ापा अपनी सीमा तक पहुँच चुकने के बाद अब स्वभावतः बचपन की ओर लौटकर उसकी ओर ललकती हुई आँखों से देखने लगा था। पलँग पर लेटे-लेटे अपने चारों ओर बैठे हुए आत्मीयों और प्रेमी जनों से कवि प्राणलेवा शारीरिक पीड़ा की उस घोर संकटपूर्ण स्थिति में भी कभी हास-परिहास की बातें करते थे और कभी बचपन के दिनों के मनोरंजक संस्मरण सुनाते थे। जवानी के दिनों की स्मृतियाँ अवनीन्द्रनाथ से बातें करने पर जगती थीं। अवनीन्द्रनाथ कवि से प्रायः दस साल छोटे थे। वह रिश्ते में कवि के भतीजे लगते थे। छुटपन से ही चित्रकार और कवि के बीच घनिष्ठ सौहार्द का भाव वर्तमान था।

आपरेशन से एक दिन पूर्व अवनीन्द्र और कवि की प्यार में भीगी बातें

हो रही थीं और अतीत के कड़वे अनुभवों की मीठी स्मृतियाँ एक-एक करके उमड़ती चली जाती थीं। अवनीन्द्र बोले : "रवि काका, तुम्हें उस दिन की याद है जब चारों ओर मूसलाधार पानी बरस रहा था, हम लोग एक मालगाड़ी के नीचे रेलवे कुलियों की एक सभा कर रहे थे और तब सहसा गाड़ी का इंजन चलने लगा . . ."

"हाँ, खूब अच्छी तरह याद है", कवि ने बड़े उल्लास के साथ उत्तर दिया। "और तुम्हें उस दिन की याद है, अवन, जब हम लोग उस 'भद्दर लोक' के घर चंदा माँगने गये थे। कई सीढ़ियाँ पार करके ऊपर चढ़ने पर भी जब कुछ प्राप्त न हो सका था ?"

अवनीन्द्रनाथ की जयंती का आयोजन उनके प्रेमियों ने पहले ही से कर रखा था, जब कवि की स्थिति इस हद तक चिंताजनक नहीं समझी जा रही थी। वर्षगाँठ के दिन अवनीन्द्रनाथ ने समारोह में भाग लेने से कतई इनकार कर दिया। कवि को जब यह मालूम हुआ तब वह बहुत दुःखी हुए। उन्होंने इस बात के लिए बड़ा आग्रह किया कि अवनीन्द्रनाथ समारोह में भाग लें। अंत में अवनीन्द्रनाथ ने कवि की बात रखने के लिए केवल माला और टीका धारण करना स्वीकार कर लिया।

डाक्टरों की यह सख्त हिदायत थी कि कवि अपना सिर न तो अधिक हिलायें न ऊपर उठायें—चुपचाप लेटे रहें। इस पर व्यंग कसते हुए कवि ने एक आत्मीय से कहा : "सुनते हो डाक्टर लोग क्या कह रहे हैं ? वे मेरे सिर को नीचा करने पर तुले हैं—उस सिर को जिसे मैं पिछले अस्सी वर्षों तक बराबर ऊपर सीधा खड़ा रखने में सफल रहा।"

डाक्टरों से बातें करते हुए वह बीच-बीच में मीठी चुटकियाँ लेते रहते थे और उनके बताये हुए नुस्खों और उनकी हिदायतों का मजाक उड़ाया करते थे। जब आपरेशन से दो-एक दिन पूर्व उन्हें इंजेक्शन दिये जाते थे तब वह कहते : "यह तो बहुत छोटी सुई है। बड़ी सुई कब लगाओगे डाक्टर ?"

अंत में लंबी प्रतीक्षा के बाद ३० जुलाई को आपरेशन का दिन आया।

सब को इसी बात की विशेष चिंता थी कि शल्य-चिकित्सा को कवि का जर्जर शरीर सहन कर सकेगा या नहीं। पर कवि शारीरिक चिंता से अपने मन को भी सिकोड़ लेना नहीं चाहते थे। बालकोचित चंचलता के साथ वृद्धोचित धैर्य और शांति का अपूर्व और आश्चर्यजनक मिश्रण उनके स्वभाव में दिखायी देने लगा था। आपरेशन से कुछ ही घंटे पूर्व कवि ने रानी चंदा नाम की एक आत्मीया महिला को एक कविता लिखायी। वह कवि की अंतिम कविता थी, जो इस प्रकार है :

तोमार सृष्टि पथ रेखेछो आकीर्ण करि,
विचित्र छलनाजाले,
हे छलनामयि,
मिथ्या विश्वासेर फाँद पेतेछो निपुण हाते
सरल जीवने।
एइ प्रवंचना दिये महत्त्वेरे करेछो चिन्हित;
तार तरे राखोनि गोपन रात्रि।

तोमार ज्योतिष्क तारे
जे पथ देखाय,
से जे तार अंतरेर पथ,
से जे चिर-स्वच्छ
सहज विश्वासे से जे
करे तारे चिर-समुज्ज्वल।

बाहिरे कुटिल होक, अंतरे से ऋजु,
एइ निये ताहार गौरव।
लोके बले विड़ंबित।
सत्वेरे से पाय
आपन आलोके धौते अंतरे-अंतरे।
किछुते पारेना तारे प्रवंचिते।

शेष पुरस्कार निये जाय से जे
आपन भाण्डारे।

अनायासे जे पेरेछे छलना सहिते
से पाप तोमार हाते
शान्तिर अक्षय अधिकार।।

"हे छलनामयी, तुमने अपने सृष्टि के पथ को विचित्र छलना के जाल से छा रखा है। सरल जीवन के बीच में तुमने अपने निपुण हाथों से झूठे विश्वास का फंदा रच रखा है। इसी छल-छंद द्वारा तुमने महत्त्व को चिन्हित कर रखा है। उसके लिए तुमने गोपन रात्रि नहीं रख छोड़ी है।

"पर तुम्हारा तारा उसे जो पथ दिखाता है, वह उसके अंतर का पथ है। वह चिर-स्वच्छ है। वह सहज विश्वास से उसे चिर-उज्ज्वल कर देता है।

"बाहर से वह चाहे कैसा ही कुटिल क्यों न हो, पर अंतर से वह सहज-सरल है। उसका गौरव इसी बात पर है। लोग उसे विड़ंबित मानते रहें, पर वह सत्य को अपने ही अंतर के आलोक से धुले हुए रूप में पाता है। उसे कोई भी शक्ति प्रवंचित नहीं कर सकती। वह अंतिम पुरस्कार लेकर सीधे अपने भंडार में जा पहुँचता है।

"जो व्यक्ति तुम्हारी ऊपरी छलना को अनायास सहन कर सकने में समर्थ होता है वही शांति का अक्षय अधिकार पाता है।"

आपरेशन के बाद भी कवि अधिक विचलित नहीं दिखायी दिये। पर रही-सही शारीरिक समर्थता उस शल्य-क्रिया के बाद से धीरे-धीरे विलीन होती चली गयी।

७ अगस्त को सुबह ९।। बजे डाक्टरों ने उनकी नाड़ी देखी। नाड़ी की गति बहुत शिथिल देखकर उन्हें आक्सिजन गैस दी गयी, जिससे साँस लेने में कष्ट न होने पाये। पर जीने की अब कोई आशा नहीं रह गयी थी। ब्राह्म-समाज के विख्यात नेता और 'प्रवासी' तथा 'माडर्न रिव्यू' के यशस्वी संपादक (स्वर्गीय) रामानंद चट्टोपाध्याय कवि के पास बैठकर मंत्र पढ़ने लगे। सब

लोग मौन, उदास और निर्विकार स्तब्धता से उस विराट अमर आत्मा के नश्वर शरीर की अंतिम विदाई का दृश्य देख रहे थे जो अस्सी वर्षों तक जीवन के महासागर का तल से सतह तक मंथन करके नित-नये मूल्यवान रत्नों को बाहर संसार में बिखेरता रहा और स्वयं केवल अवगाहन का सुख पाकर ही पूर्ण तृप्त रहा। बाहर बदरिया धूप में तपती हुई जनता की अपार भीड़ कवि के अंतिम दर्शनों के लिए अत्यंत उत्सुकता से खड़ी थी और पसीने से नहा रही थी।

दोपहर को ठीक बारह बजकर तेरह मिनट पर कवि ने प्राण छोड़ दिये। प्रायः डेढ़ वर्ष पूर्व उन्होंने 'मृत्युंजय' शीर्षक जो कविता लिखी थी, उसकी ये पंक्तियाँ जैसे विश्वाकाश में गूँज उठीं :

जतो बड़ो हओ, तुमि तो मृत्युर चेये बड़ो नओ।
आमि मृत्यु चेये बड़ो, एइ शेष कथा बले
जाबो आमि चले।

"तुम चाहे जितने भी बड़े होओ, पर मृत्यु से बड़े नहीं हो। पर मैं मृत्यु से बड़ा हूँ, यह अंतिम बात कहकर मैं चल दूँगा।"